THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_186289
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 335 S 19 S   Accession No. H 3590

Author सम्पूर्णानन्द

Title समाजवाद १९६०

This book should be returned on or before the date last marked below

समाजवाद

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला
हिन्दी ग्रन्थाङ्क—१२१

समाजवाद विषयकी सर्वोत्तम पुस्तक होनेके कारण हिन्दी साहित्य-सम्मेलनकी ओरसे १२००) का श्री 'मगलाप्रसाद' तथा ५००) का 'मुरारका' पारितोपिक लेखकको मिला है।

समाजवाद

श्री सम्पूर्णानन्द

VIDYA PRAKASHAN
V.P.
HYDERABAD.

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

पाँचवाँ संस्करण
१९६० ई०
मूल्य पाँच रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

समर्पण

जगद्भर्त्ताऽपि यो भिक्षु, भूतावासोऽनिकेतन: ।
विश्वगोप्ताऽपि दिग्वासा, तस्मै कस्मै नमो नमः ॥

जो जगत्का भरण करता है पर आप भिखारी है, जो सब प्राणियोको निवास देता है पर आप बे-घरका है, जो विश्वको ढंकता है पर आप नगा रहता है, उसको बारम्बार प्रणाम है ।

उसको ही यह तुच्छ कृति समर्पित है ।

तिथिक्रम

इस पुस्तकमें सर्वत्र विक्रम संवत्का प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी सन् जाननेके लिए दी हुई संख्यामेंसे ५७ घटाना होगा।

—लेखक

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
भूमिकाएँ	९, १३

पहिला खण्ड — विषय प्रवेश

पहिला	अध्याय	मानव जगत्	११
दूसरा	,,	धर्म्म, सदाचार, राज और सभ्यता	२९
तीसरा	,,	सनातन प्रश्न	४७
चौथा	,,	कुछ उत्तर	५०

दूसरा खण्ड — मार्क्स सम्मत समाजवाद

पाँचवाँ	अध्याय	एक और उत्तर	८५
छठाँ	,,	द्वन्द्वात्मक अनात्मवाद	९२
सातवाँ	,,	उत्पादनके साधनोपर निजी स्वत्व (१) भूमि	११५
आठवाँ	,,	उत्पादनके साधनोपर निजी स्वत्व (२) पूँजी और श्रम	१२८
नवाँ	,,	विनिमय और वितरणके साधनोपर निजी स्वत्व	१४५
दसवाँ	,,	वर्ग सघर्ष	१४७
ग्यारहवाँ	,,	पूँजीवाद	१६८
बारहवाँ	,,	साम्राज्यशाही	१८७
तेरहवाँ	,,	निजी सम्पत्ति	२०३
चौदहवाँ	,,	राजका स्वरूप	२१२
पन्द्रहवाँ	,,	राजसत्ताका अन्त	२२७
सोलहवाँ	,,	समाजवादी व्यवस्था—प्रथम सोपान	२४०

विषय		पृष्ठ
सत्रहवाँ अध्याय	समाजवादी व्यवस्था—द्वितीय सोपान	२६०
अठारहवाँ ,,	समाजवाद और समष्टिवाद	२६८
उन्नीसवाँ ,,	कुछ दूसरी समाजवादी धाराएँ	२७०

तीसरा खण्ड • भारतीय समाजवाद

बीसवाँ अध्याय	भारत और समाजवाद	२८३
इक्कीसवाँ ,,	भारतीय समाजवादके मौलिक आधार	२९३
बाईसवाँ ,,	भारतीय समाजवादका लक्ष्य और उसकी प्राप्तिके साधन	३०३
तेईसवाँ ,,	समाजवाद, पूँजीपति और राष्ट्रीयकरण	३१४

प्रथम संस्करणकी भूमिका

समाजवादपर पुस्तक लिखनेवालेके लिए पाठकोसे क्षमा-याचना करनेकी आवश्यकता नही है। इधर कई वर्षोसे जनताको इस विषयमे अभिरुचि रही है पर पिछले तीन वर्षोमे यह अभिरुचि बहुत बढ गई है। इसके पहले या तो यह थोडेसे विद्यानुरागियोके मनोरञ्जनकी सामग्री था या कुछ तथोक्त अतिवादियो-की बहकी-बहकी बातोका अंग था। लोग इन बातोको सुन लेते थे, पर ठीक-ठीक समझ नही पाते थे। जो कुछ समझमे आता था वह विचित्र प्रतीत होता था, कम-से-कम हमारे अनुदिनके प्रश्नोसे तो उसका कोई भी सम्बन्ध नही देख पडता था। रूसमे जो हो रहा था उसके गलत-सही समाचारोने लोगो को और भी घबरा और डरा दिया था। बस इतना कह देना पर्याप्त था कि अमुक व्यक्ति बोल्शेविक है। सारी जनता उनको सशंक दृष्टिसे देखने लगती थी।

धीरे-धीरे यह अवस्था बदली। पिछले सत्याग्रह आन्दोलनके उपरामके बाद कांग्रेस समाजवादी दल स्थापित हुआ। उसने समाजवादको भारतीय राजनीतिकी जीवित धारा बना दिया। देशकी आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितिने जनताको समाजवादियोकी बातें सुननेके लिए विवश किया। यद्यपि समाजवादका विरोध करनेवालोकी कमी न थी परन्तु दलको अपने प्रचार कार्य्यमे बहुत बडी सफलता मिली। इधर कांग्रेसके वर्तमान राष्ट्र-पति पण्डित जवाहरलाल नेहरूके लेखो और भाषणोसे इस दिलचस्पीमे और भी वृद्धि हुई है।

हिन्दीमे समाजवादपर कुछ पुस्तके है। समय-समयपर पत्र-पत्रिकाओमे लेख भी निकलते रहते है। इनके द्वारा लोगोको इस विषयका ज्ञान हुआ है पर मैंने इस साहित्यके विषयमे एक बातका अनुभव किया है। जो पुस्तके लिखी गयी है उनमेसे अधिकाशका लक्ष्य तात्कालिक राजनीतिक प्रचार रहा है। उन्होने पूँजीशाहीके दोषो और जमीनदारी प्रथाकी बुराइयो के ऊपर ज्यादा जोर दिया है। यह सर्वथा उचित था और इसमे उनको

काफी सफलता मिली है। वहुतसे लोग अब इन बातोको समझने लगे है और यह मानने लगे है कि इनको हटाकर किसी-न-किसी प्रकारकी समाजवादी व्यवस्थाको स्थापित किये बिना देशका और जगत्का कल्याण न होगा। पर एक खराबी भी हुई है। साधारणत एक धारणा-सी फैल गयी है कि समाजवादका इतना ही अर्थ है कि इन दोनो प्रथाओका विरोध किया जाय। जो लोग समाजवादसे सहानुभूति रखने लग गये है उनमेसे भी कुछ ऐसा समझते है कि पूँजीपतियो और जमीनदारोके जालिम होनेके कारण समाजवादी उनके विरुद्ध है। जो लोग समाजवादके विरोधी है उन्होने यह भ्रान्ति फैलानेकी भी पर्याप्त कोशिश की है कि समाजवादी भिन्न-भिन्न वर्गोको लडाना चाहते है, हिसात्मक उपायोसे जायदाद वालोकी सम्पत्ति जब्त करनेका इरादा रखते है, पुरानी सस्कृति, आचार-विचार, मजहब और परिवारके नियमो और बन्धनोको हठात् तोड देनेपर तुले हुए है। समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद, पूँजीपति, वर्गयुद्ध आदि शब्द प्रचलित हो गये है और इधरसे उधर नासमझीके साथ फेके फिरते है।

इसलिए इस बातकी आवश्यकता प्रतीत होती थी कि एक पुस्तक ऐसी लिखी जाय जिसमे इस विषयके तात्त्विक पहलुओपर विचार किया जाय। कई मित्रोका ऐसा ख्याल था। इसी उद्देश्यको सामने रखकर यह पुस्तक लिखी गयी है। सम्भवत जो बाते इसमे आयी है वह अन्य पुस्तको मे, विशेषकर पत्रिकाओके लेखोमे, आ चुकी है। यह मेरा दावा भी नही है कि मैने कोई नयी बात लिखी है परन्तु इन सब बातोका समावेश यदि किसी एक हिन्दी पुस्तकमे हुआ है तो दुर्भाग्यवशात् मुझे उसका पता नही है। दूसरी भारतीय भाषाओकी बाबत कुछ नही कह सकता। मराठीकी एक पुस्तक देखनेमे आयी है पर उस भाषाका परिष्कृत ज्ञान न होनेके कारण मै उससे कोई लाभ न उठा सका।

दूसरी पुस्तकोके अभाव, या उनसे अपनी अनभिज्ञताके कारण मुझे पारिभाषिक शब्दोके सम्बन्धमे बड़ी कठिनाई पडी है। कुछ प्रचलित शब्दो

को तो छोडना पडा है—उदाहरणके लिए, कम्युनिज्मके लिए वर्गवादका प्रयोग मुझे बहुत ही गलत जचता है—पर बहुतसे नये शब्द गढने पडे है। इनमेसे कुछके विषयमे मेरे मित्रोको भी मुझसे मतभेद है। जैसे मैने 'वेल्यू' के लिए 'अर्घ' और 'प्राइस'के लिए 'मूल्य' रचा है। इनमे अर्घ शब्द सामान्य व्यवहारमे नही आता यद्यपि उसीसे निकला महार्घ, 'महँगा'के रूपमे प्रचलित है। कुछ मित्रोकी राय थी कि मै अर्घकी जगह मूल्य और मूल्यकी जगह कीमत लिखूँ। मै इस परामर्शको इसलिए न मान सका कि आजकल मूल्य और कीमतका एक ही अर्थमे व्यवहार होता है अत किसी किसी सन्दर्भमे अर्थ-विपर्य्यय होनेकी आशंका थी। नये शब्दमे यह डर नही होता। ऐसे ही खयालोसे प्रेरित होकर मैने शब्द चुने है। सस्कृतसे सहायता लेनेमे मुझे सर्वथा औचित्य देख पडता है।

समाजवाद बहुत गम्भीर और व्यापक शास्त्र है। तीन सौ पृष्ठोमे उसका ज्ञान करनेका प्रयास करनेवाला कालिदासके शब्दोमे कह सकता है—

'तितीर्षुर्दुस्तरम्मोहादुडुपेनास्मि सागरम्'

यह समझते हुए भी प्रयास करना पडा है। ऐसी दशामे मैने यथासम्भव ऐसे विषयोको चुना है जिनको मिलाकर साधारण प्रवेश हो जाय और शास्त्रकी गहनताका परिचय मिल जाय। यदि इसके आगे कुछ लोगोका अध्ययन करनेका उत्साह बढा तो मै कृतकृत्य हूंगा। एक बार मेरा यह विचार हुआ कि पुस्तकके अन्तमे अध्येतव्य पुस्तकोकी सूची जोड दू पर जिन पुस्तकोके नाम इस सूचीमे आते वह सब अग्रेजीकी है। ऐसी सूची कितने पाठकोके काम आती यह कहना कठिन है। जो लोग अंग्रेजी जानते है और इस विषयके जिज्ञासु है उनको पुस्तकोके नाम जाननेमे विशेष कठिनाई न होगी।

समाजवादके अन्तर्गत कई ऐसे विषय है जो स्वय स्वतन्त्र शास्त्रोकी मर्य्यादा रखते है। इनमे प्रमुख स्थान समाजवादके दार्शनिक आधारोका है।

इन आधारोका पुस्तकके छठे अध्यायमे दिग्दर्शन कराया गया है। मैने वहाँ यह भी दिखलानेका प्रयत्न किया है कि कही-कही यह विचारधारा भारतीय दार्शनिक विचारधारासे टकराती है। कई लोगोको, जो सामान्यत. समाजवादी कार्य्य-क्रमको पूरा-पूरा स्वीकार करते है और इतिहासकी आर्थिक व्याख्या से भी सहमत है, इसमे कुछ कमी प्रतीत होती है। ऐसे लोगोका कर्तव्य होना चाहिए कि इस अगकी पुष्टिकी ओर ध्यान दे और देखे कि कहाँतक इसके साथ आध्यात्मिकताका समन्वय हो सकता है। दर्शनके ऐसे बहुत विद्यार्थी है जिनकी बुद्धियोपर बहुत पहले शाङ्कर अद्वैतवादकी छाप लग चुकी है और मनन द्वारा अविलेप्य हो गयी है। मै स्वयं ऐसे ही लोगोमे हूँ पर ऐसा समझता हूँ कि द्वन्द्व-न्याय और इतिहासकी आर्थिक व्याख्याका अद्वैतवादसे निसर्गत विरोध नही है। इस पुस्तकमे मैने इस सामञ्जस्यको दिखलानेका प्रयत्न नही किया है। यहाँ उसकी आवश्यकता भी न थी।

परन्तु दार्शनिक विचारोके सम्बन्धमे इतना कहनेके बाद मै इतना स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रचलित साम्प्रदायिक व्यवस्था, धार्मिक दम्भ, झूठी भक्ति और धर्म्मोपजीवियो द्वारा सम्पन्नो और शक्तिशालियोकी खुशामदकी बाबत मैने जो कुछ लिखा है वह पूर्णतया मेरी निजी राय है। मेरा ऐसा खयाल है कि मैने आवश्यकतासे अधिक संयत भाषासे काम लिया है।

इस पुस्तकका भारतीय राजनीतिसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है पर जिन लोगोके लिए यह लिखी गयी है वह एक विशेष राजनीतिक और आर्थिक वातावरणमे रह रहे है। मुझे आशा है कि वह समाजवादको केवल बुद्धि-विलासका विषय न समझेगे प्रत्युत इस बातपर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे कि इसके द्वारा उनको पृथ्वीकी वर्तमान दुरवस्थाको सुधारने और मनुष्योको श्रुतिके शब्दोमे वस्तुत 'अमृतस्य पुत्राः' बनानेमे कहाँतक सहायता मिलती है। कार्य्यक्षेत्रमे प्रयुक्त होनेमे ही समाजवादकी सार्थकता है।

जालिपादेवी, काशी
८ कन्या १९९३

—सम्पूर्णानन्द

पञ्चम संस्करणकी भूमिका

यह इस पुस्तककी छठी आवृत्ति तथा पाँचवाँ संस्करण है। पुस्तकका इतनी बार छपना इस बातका प्रमाण है कि इसने विचारशील पाठकोको आकृष्ट किया है और हिन्दी-जगत्की कुछ सेवा की है।

पाँचवी आवृत्तिको छपे बारह वर्ष हो गये। बारह वर्षकी अवधिको युग कहा करते है। यह पिछला युग पृथिवीके इतिहासमे बहुत महत्त्व रखता है। इसके आरम्भमे भारत परतंत्र था, इस समय वह स्वतन्त्र है यद्यपि उसका एक भाग पाकिस्तानके नामसे अलग हो गया है। इसी बीचमे महात्मा गाँधीकी एक भारतीयके हाथो हत्या हुई। पृथिवीके राजनीतिक मञ्चपर चीनके बलवान् कम्युनिस्ट राजने प्रवेश किया है और रूस और अमेरिकाका मनोमालिन्य चरम सीमा तक पहुँचता जाता है। यह दोनो राज कम्युनिस्ट और पूँजीवादी जगत्के सर्वमान्य नायकोके रूपमे एक-दूसरेके प्रतियोगी है। सबसे भीषण शस्त्रास्त्र इन्ही दोनोके पास है। पृथिवीका भाग्य इन्हीके हाथोमे है। विज्ञानने भी अभूतपूर्व उन्नति की है। कहानियाँ सच्ची होने जा रही है और मनुष्य आकाशयात्रा करके दूसरे खवर्ती पिण्डो तक पहुँचनेवाला है। यह भविष्य ही बतलावेगा कि वह दूसरे ग्रहो पर नयी सस्कृति और मानवोचित सभ्यताको जन्म देगा या पृथ्वीसे अपने राग-द्वेषको करोडो कोस दूर पहुँचाकर वहाँकी भूमिको भी रणचण्डीके ताण्डवका प्रागण बनायेगा। यदि मनुष्यने अभीसे अपनेको न सँभाला, अपनी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्थाको न बदला, भौतिक अभ्युदयको ही जीवनका लक्ष्य मानता रहा, तो वह स्यात् सामूहिक आत्महत्या कर लेगा, कम-से-कम सभ्यता और संस्कृतिका तो अन्त कर ही डालेगा। ऐसी दशामे उसकी वैज्ञानिक उन्नति उसके लिए अभिशाप

हो जायगी और यदि दूसरे पिण्डोपर प्राणी है तो उनके लिए अभिशाप हो जायगी।

स्वतन्त्र होनेके बाद भारत अपने उजडे घरको बसानेके भगीरथ प्रयासमे लगा है। पञ्चवर्षीय योजनाओके द्वारा यह काम सँभाला जा रहा है। सबसे बडे राजनीतिक दल, काग्रेस, ने यह स्वीकार किया है कि हम अपने यहाँ समाजवादी ढाँचेकी व्यवस्था रखेगे और हमारे शासनका आधार जनतान्त्रिक होगा, हमारा भावी समाज वर्णहीन और वर्गहीन होगा। सुननेमे यह बाते बहुत अच्छी लगती है परन्तु इनपर गहिराईसे विचार करना होगा। साधारणतः समाजवाद एक प्रकारसे समष्टिवाद (साम्यवाद) या मार्क्सवादका पर्य्यायसा हो गया है। हम अपने यहाँ उसी ढाँचेको स्थापित करेगे या किसी अन्य को। हमारी सारी व्यवस्थाओका दार्शनिक आधार क्या होगा ? हमारा सिद्धान्त और तन्मूलक व्यावहारिक कार्य्यक्रम किन बातोमे रूस और चीनसे भिन्न होगा ? यह ऐसे प्रश्न है जिनके समुचित उत्तरपर न केवल हमारा वरन् मानव जगत्का भविष्य निर्भर करेगा। कम्युनिज़मके पीछे रूस और चीनकी प्रतिष्ठा और शक्ति है। यदि हम उनसे पृथक् मार्गपर चलनेका निश्चय करे तो उसके लिए बडे साहस, अध्यवसाय और श्रद्धाकी आवश्यकता होगी।

पुस्तकके प्रथम संस्करणमे इसके लिखे जानेके मुख्य उद्देश्योका निदर्शन किया गया था। उसमे विशेष रूपसे और किञ्चित् विस्तारके साथ मार्क्सके मतका प्रतिपादन किया गया था। मैने उसमे इस बातका तो संकेत कर दिया था कि मुझे मार्क्सवादकी दार्शनिक मान्यताएँ पूर्णतः स्वीकार नही है परन्तु इस सम्बन्धमे कुछ अधिक नही कहा गया। पीछे, विशेषत चौथे सस्करणमे, इस मतपर कई शंकाओका उत्पादन किया गया परन्तु आलोचना वितण्डा तक ही सीमित रही। मार्क्सवादके कुछ दोष दिखलाये गये परन्तु अपने मतका पुरःस्थापन नही किया गया।

प्रस्तुत संस्करणमे इस त्रुटिको दूर करनेका प्रयास किया गया है। सारी पुस्तकका सशोधन हुआ है, बहुत-सा अश जोडा और घटाया गया है, विषयोके स्थापित करनेके क्रममे भी उलट-फेर हुआ है और खण्डोमे विभाजन करनेसे उनका पारस्परिक सम्बन्ध और पौर्वापर्य्य अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। तृतीय खण्ड इस सस्करणकी विशेषता है। इसमे समाजवादके दार्शनिक आधार और व्यावहारिक कार्य्यक्रमकी वह रूपरेखा दी गयी है जो मेरी समझमे भारतकी आत्माके अनुरूप है।

अन्धवत् दूसरोका अनुकरण करना और गहिराईसे सोचे बिना प्रचलित शब्दो और नारोको दुहराते जाना हमको शोभा नही देता। मै केवल राष्ट्रीय अभिमानकी दृष्टिसे शोभाकी बात नही करता। दूसरो के अनुभवसे हमको लाभ उठाना चाहिए। हम क्या करना चाहते है और क्यो करना चाहते है, इसका निश्चय करके ही आगे बढना चाहिए। यह खेदका विषय है कि इस ओर पर्य्याप्त, पर्य्याप्त क्या जरा भी, ध्यान नही दिया जा रहा है। राष्ट्रके कर्णधार इन बातोपर विचार करना अनावश्यक समझते है। यह उनकी भारी भूल है और राष्ट्रके प्रति अपने कर्तव्यसे च्युत होना है। विचारशील लोगोको इन प्रश्नोपर मनन करना चाहिए और नेतृवृन्दको इनकी महत्ताकी ओर आकृष्ट करना चाहिए। समाजका कल्याण केवल मुट्ठी भर नेताओका काम नही है: प्रत्येक नागरिकके ऊपर इसका दायित्व है।

मैने ऊपर भारतका नाम लिया है परन्तु मनुष्यका स्वभाव सर्वत्र एक-सा है। ब्योरेकी छोटी-छोटी बातोमे भेद हो सकता है परन्तु मुख्य समस्याएँ एक सी है, उनके सुलझानेके उपाय भी एकसे ही होगे। मेरा ऐसा विश्वास है कि जिस विचारधाराका मैने निरूपण किया है वह मनुष्यमात्रके लिए कल्याणमयी होगी।

आज भारतीयोके सामने कई जटिल व्यावहारिक प्रश्न है: कृषिकी

क्या व्यवस्था हो, संविधानमे किस प्रकार संशोधन किया जाय, शिक्षाका क्या स्वरूप हो, बडे और छोटे उद्योग-धन्धोमे किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित किया जाय, राज किस सीमा तक स्वयं उद्योगोका सचालन करे, इत्यादि । इन प्रश्नोका उत्तर देना इस पुस्तकका काम नही है परन्तु इसमे तृतीय खण्डमे जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये है उनके प्रकाशमे ब्योरेकी बातोको सुलझाना चाहिए ।

नैनीताल
५ तुला २०१६

—सम्पूर्णानन्द

पहला खण्ड

विषय-प्रवेश

समाजवाद

पहला अध्याय

मानव-जगत्

'समम् अजन्ति जना. अस्मिन् इति' यह समाज शब्द का अर्थ है। जिसमे लोग मिलकर, एक साथ, एक गति से, एक–से, चले वही समाज है। एक साथ या 'एक-से' चलनेका अर्थ फौजी सिपाहियोकी भाँति किसी एक दिशामे कदम मिलाकर चलना नही है। तात्पर्य तो यह है कि लोगोकी, उन लोगोकी जो समाजके अंग हो, परिस्थिति एक-सी हो, उनके प्रयत्न और उद्देश्य एक-से हो। इसका यह अर्थ नही है कि लोग एक ही काममे लगे हो, ठीक एक ही खाना खाते हो, एक ही प्रकारका वस्त्र पहनते हो, हर बातमे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका प्रतीक या छाया हो। ऐसा न तो सम्भव है, न उचित। पर यह सम्भव है कि सब लोगोके प्रयत्न एक दूसरेके प्रपूरक हो, अर्थात् लोग भिन्न-भिन्न कामोमे लगे हो पर उन सब कामोके फलस्वरूप सबका कल्याण हो। कोई भी इतना समर्थ नही है कि सभी काम कर सके परन्तु यह सम्भव है कि कामोका बँटवारा इस प्रकार हो कि चाहे कोई किसी भी काममे लगा हो, इन सब कामोका एकमात्र परिणाम यही निकले कि सबका भला हो। यह तभी सम्भव है जब कि यह श्रमविभाग बुद्धिपूर्वक हो। सोच-विचारकर यह निश्चय किया जाय कि सबके हितके लिए कौन-कौनसे काम होने चाहिए और कौन-कौनसे काम अहितकर होनेके कारण न होने चाहिए। फिर लोगोकी योग्यता देखकर 'योग्यं योग्येन योजयेत्'की नीतिके अनुसार जो जिस कामके योग्य हो

उसको वही काम देना चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो कुछ काम तो ऐसे होगे जिनमे अपने निजी दृष्टिकोणसे अधिक लाभ देखकर सभी उनकी ओर दौडेगे और कुछको सभी छोडना चाहेगे। इस प्रतियोगितामे कुछ लोगोको चाहे जो लाभ हो जाय पर समूहको क्षति ही पहुँचेगी। ऐसी अवस्थामे लोगोके प्रयत्न एक दूसरेके प्रपूरक नही वरन् विघातक होगे क्योकि यह सब प्रयत्न एक सूत्रमे बँधे न होगे।

इसका एक और परिणाम होगा। यदि श्रमविभाग बुद्धिपूर्वक न हुआ तो पारिश्रमिक, मजदूरीका विभाग भी बुद्धिपूर्वक नही हो सकता। अपने शरीरकी शक्ति और चालाकीका दुरुपयोग करके कोई तो अनुचित, अर्थात् अपने श्रमकी दृष्टिसे अधिक पारिश्रमिक ले लेगा, किसीको बहुत कम मिलेगा। जिन लोगोके कामसे समूहका विशेष लाभ होगा वह कम पायेगे, दूसरे अधिक पा जायँगे। इससे केवल व्यक्तियोकी ही नही, वरन् व्यक्तियोके समूहकी भारी हानि होगी। सबका एक साथ चलना न होगा, प्रत्येक व्यक्ति अपने तुच्छ स्वार्थको ही देखेगा। 'तुच्छ' इसलिए कहता हूँ कि सबके भलेमे अपना भी भला हो सकता है पर इस ऊँचे स्वार्थकी ओर कम ही लोगोका ध्यान जाता है।

समाजसे मिलता-जुलता समुदाय शब्द है। समाजशास्त्रके विद्वानोके अनुसार* जो लोग एक ही जगह रहते है, एक ही प्रकारके विधानो और नियमोके अनुसार जीवन-निर्वाह करते है और समान बातोमे अभिरुचि रखते है उनके समुच्चयको समुदाय कहा जाता है। यह बहुत ही व्यापक अर्थ है। इस परिभाषाके द्वारा आकस्मिक समूह या भीडसे व्यावर्तन हो जाता है। भीड समुदाय नही है क्योकि जो लोग किसी जगह भीडके रूपमे एकत्र हो जाते है उनमे स्थायी सम्बन्ध नही है। राजनीतिकी दृष्टिसे

***वार्नर और लंट कृत दि सोशल लाइफ़ आव ए माडर्न कम्युनिटीके आधारपर।**

समुदाय राष्ट्र या राज्यका रूप ले सकता है। दूसरे दृष्टिकोणसे समुदाय समाज कहा जा सकता है। सिमेल और दूसरे समाजशास्त्रियोका मत है कि समाज वह अवयवी है जिसके अग एक दूसरेको बराबर प्रभावित करते रहते है। जिस प्रकार शरीरके सब अग एक दूसरे पर निर्भर है और एक दूसरेको तथा शरीर नामकी समष्टिको प्रभावित करते रहते है वैसे ही समाजके अगभूत व्यक्तियोका व्यवहार होता है। शरीरके अवयव सज्ञान नही है परन्तु समाजके अन्तर्गत व्यक्तियोका आचरण ज्ञानपूर्वक होता है। उनको प्रभावित करने और प्रभावित होनेकी अनुभूति होती है।

'समाज' के इस अर्थको ध्यानमे रखते हुए हम जब मानवजगत्की ओर दृष्टिपात करते है तो एक विचित्र दृश्य देख पडता है। इस मानव-जगत्को, मनुष्योके इस समूहको, 'मनुष्य-समाज' कहते है। जैसा कि एक पाश्चात्य लेखक कहता है, "समाजका अर्थ है भाई-चारा, एक उद्देश्यकी सिद्धिके लिए काम करनेवाले, एक भावसे परिचालित व्यक्तियोकी बिना किसी प्रकारके दबावके अपनी इच्छासे, संचालित सस्था, जिसके सब सदस्य सबके हितके प्रयत्नकी सफलताके इच्छुक हो। 'मानव-समाज'का भाव यह है कि यह एक ऐसा सघटन है जिसको सबके हितके लिए मनुष्यजातिने अपने संयुक्त प्रयत्नसे जन्म दिया है।"* यह परिभाषा वस्तुत 'समम् अजन्ति जना. अस्मिन्' की विस्तृत व्याख्यामात्र है। इसके ठीक होनेमे भी कोई विशेष सन्देह नही हो सकता। यदि एक उद्देश्य न हो, एक भाव न हो, सबके हितका विचार न हो, यदि सब केवल अपने तात्कालिक सुख या धनकी पूर्तिमे लगे हो, यदि सबके प्रयत्नोका कोई एक लक्ष्य न हो, तो मनुष्योके ऐसे समूहको भीड भले ही कह ले, समाज नही कह सकते। यदि सघटन ऐच्छिक न हो वरन् किसी प्रकारके दबावसे हुआ

*राबर्ट ब्रिफ़ोल्ट (विक्टर गोलैक्ज) 'ब्रेकडाउन', अध्याय १।

हो तो भी यह समाज नही हो सकता । राज इसी प्रकारका एक सघटन होता है । सरकारके दबावसे लोग किसी न किसी सीमातक मिलकर काम करते है, उनके प्रयत्नो और उद्देश्योमे कुछ समता और एकलक्ष्यता भी देख पडती है, पर यह संघटन कृत्रिम होता है । वियोजक शक्तियाँ बराबर काम करती रहती है और किसी भी कारणसे दबावके हट जानेपर सघटित अवयव बिखर जाते है । ऐसा सघटन समाज नही कहला सकता, इसमे वास्तविक 'सम-अजन' का अभाव है ।

पर शब्द मात्रके अतिरिक्त 'मानव-समाज' है कहाँ ? शब्दोमे तो आकाशका पुष्प भी होता है, गधेके सीगका भी अस्तित्व है । पर वस्तु-स्थितिमे कही मनुष्य-समाज देख पडता है ? मनुष्योमे काले, पीले, गोरे, भूरेका विभाग है, पाश्चात्य और अपाश्चात्यका प्रचण्ड विभेद है, आर्य्य, अनार्य्य, हब्शी, अग्रेज, फ्रेञ्च, अरब, रूसी, जर्मन, तुर्क, भारतीय, जापानीकी दीवारे एकको दूसरेसे पृथक् कर रही है । क्या इन सबमे समाजके लक्षण पाये जाते है ? आपसमे खानपानके रीति-रिवाजमे जो भेद है वह तो नगण्य है पर उद्देश्योकी समता, संघटन कहाँ है ? आजसे कुछ दिन पहिले गोरी जातियोका आधिपत्य पृथिवीके बहुत बडे भागपर था, अब रगीन जातियोने अपनी शृखलाओको बहुत कुछ तोड दिया है । एशिया, यूरोप, अफ्रीका, सर्वत्र सघर्ष जारी है । युद्धके बादल निरन्तर मँडलाते रहते है । परमाणु और हाइड्रोजन बमोने युद्धकी भीषणताको बढा दिया है परन्तु मनुष्य युद्धसे विरत नही हुआ है । न तो सब गोरे, न सब रङ्गीन एक साथ है । गोरे भी अनेक जातियो, अनेक राष्ट्रोमे बँटे हुए है, जो आज एकका साथ देता है, वही कल अपने पुराने साथीके विरुद्ध पुराने शत्रुका साथ देता है । एक मात्र उद्देश्य स्वार्थ देख पडता है पर स्वार्थ भी स्थायी नही है, क्षणिक है । सघटन बनते है और बातकी बातमे टूटते है । विज्ञानका कहना है कि यह भेद प्रायशः कृत्रिम है । न तो किसी रङ्ग-विशेषमे कोई उत्तमता है, न किसी रङ्ग-विशेषमे बुराई ।

अरब, भारतीय, अंग्रेज आदि अनादिकालसे शुद्ध और पृथक् जातियाँ नही है, सभी मिश्रित है । इतना ही नही, इनकी भौगोलिक सीमाएँ भी बराबर बदलती रहती है परन्तु आज यह जनसमूह अपने-अपने 'हितो' को एक दूसरेसे पृथक् ही नही, विरोधी मानते है । न मनुष्यमात्रके हितका विचार है, न कोई एक लक्ष्य है, न किसी प्रकारका ऐच्छिक संघटन है। सब पृथ्वीपर रहते है पर उसी भाँति जैसे कि किसी जगलमे हिंस्र पशु रहते है। ऐसी दशामे यह कहना गलत है कि 'मनुष्य-समाज'का अस्तित्व है । मनुष्य है, इतस्तत उनके समूह फैले हुए है, पर यह समूह उस एक सूत्रसे बँधे हुए नही है जो इनको एक 'समाज' का अग बना सकता है। शान्तिका नाम सब लेते है परन्तु अशान्तिमय साधनोका ही अवलम्बन किया जाता है ।

यदि इनमेसे कोई एक 'समाज', किसी देश-विशेषमे रहनेवाला समुदाय, ले लिया जाय तो उसके भीतर भी वही समताका अभाव अर्थात् वैषम्य देख पडेगा । प्रत्येक समुदाय कई विरोधी समुदायोका समूह है । प्रत्येक समुदाय दूसरे समुदायोका विरोधी है । जमीनदार, कृषक, व्यापारी, महाजन, मिल-मालिक, श्रमिक, दस्तकारी करनेवाले कारीगर, छोटी नौकरियोसे पेट पालनेवाले, ब्याजकी आयसे जीवन-निर्वाह करनेवाले, यह सब पृथक्-पृथक् समुदाय है और सबके हित भी पृथक्-पृथक् है । प्रत्येक समुदाय अपने लाभको सामने रखता है और उस लाभकी सिद्धिके लिए दूसरे समुदायोको नीचा दिखानेके लिए तत्पर रहता है। इनमेसे किसी भी जन-राशिका संघटन बुद्धिपूर्वक, सबके हितके लिए नही हुआ है ।

भारतमे वर्णव्यवस्थाने एक और जटिलता उत्पन्न कर दी है । कुछ लोगोके हाथमे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकार है; दूसरे लोग, जो प्रत्यक्षरूपसे उनसे किसी भी गुणमे कम नही प्रतीत होते, इस सारे अधिकारसे वञ्चित है ।

यदि हम इन छोटे समुदायो, कृषक या वणिक् समुदाय, ब्राह्मण या शूद्र समुदाय के भीतर प्रवेश करते है तो भी वही दशा देखते है । बुद्धि-

मगत संघटनका अभाव है। समुदायका प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्तिका प्रतियोगी है; प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि दूसरोको दबाकर उनसे अपना काम निकाले।

इसका अर्थ यही निकला कि मनुष्योमे इस समय कही भी एक साथ मिलकर काम करनेका, एक ध्येयको सामने रखकर सघटित रूपसे अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार उस ध्येयकी प्राप्तिके लिए काम करनेका, अभाव है। इसमे सन्देह नही कि कुछ परोपकारी व्यक्ति लोकसग्रह-भावसे काम करते देख पडते है परन्तु ऐसे लोग अपवाद मात्र है। अधिकाश मनुष्य और मनुष्य-समुदाय केवल अपने प्रत्यक्ष स्वार्थको सामने रखकर काम करते है और दूसरोको दबाकर अपने हितोके साधनका प्रयत्न करते है। दूसरे शब्दोमे यो कह सकते है कि पृथ्वीपर मनुष्य तो है पर मनुष्य-समाज नही है। इस समय 'समाज' एक कल्पना-मात्र है। विशेष उद्देश्योकी सिद्धिके लिए अस्थायी गुट बन जाते है परन्तु स्थायी बुद्धिमूलक सघटन, जिसमे लक्ष्यकी एकता, श्रमका और पारिश्रमिकका विभाग तथा एकके प्रयत्नका दूसरेके प्रयत्नके साथ सहयोग हो, नही है। न तो किसी छोटे क्षेत्र, किसी राष्ट्रके भीतर समाजके लक्षण देख पडते है, न व्यापक रूपसे पृथ्वीभरके मनुष्योमे।

इसका एक प्रत्यक्ष परिणाम देख पडता है। वह है घोर, निरन्तर सघर्ष और अशान्ति। सबका हाथ सबके विरुद्ध उठा हुआ है। व्यक्ति व्यक्तिमे, समुदाय समुदायमे, राष्ट्र राष्ट्रमे, संघर्ष है। सब अपनी अपनी समझके अनुमार अपना भला चाहते है और, मुँहसे कहे या न कहे, सबका यह विश्वाम है कि बिना दूसरोको दबाये अपना भला नही हो सकता। इस प्रकार दूमरोसे होड करके, उनको दबाकर, अपनी जो भलाई की जाती है वह स्थायी नही होती। जो एक आगे बढता है उसके दस शत्रु हो जाते है, क्योकि उसके आगे बढनेमे उनकी क्षति होती है। वह शत्रु आपसमे मिलकर उसको नीचे गिराते है और फिर आपसमे लडते है।

क्या व्यक्ति, क्या व्यक्तिसमूह, सर्वत्र यही तमाशा देख पडता है। मनुष्योका जीवन एक विशाल युद्ध-क्षेत्र है। परन्तु साधारण युद्ध-क्षेत्रमे सैनिक स्वतन्त्र नही होते, सब किसी न किसी अधिकारीके अधीन होते है, उनका सघटन बुद्धिपूर्वक होता है ओर उनका तात्कालिक लक्ष्य एक होता है। परन्तु जीवनके इस विशाल क्षेत्रमे इस बातका अभाव है। न लक्ष्यकी एकता है, न बुद्धिसगत सघटन है; केवल अपने-अपने क्षणिक स्वार्थके लिए संघर्ष है और सघर्षके फलस्वरूप अशान्ति है।

यह लडाई पागलोकी भाँति लडी जा रही है। स्वार्थकी अग्निमे मनुष्य अपनी बहुमूल्यसे बहुमूल्य सम्पत्ति भस्म कर रहा है। उदाहरणके लिए, विज्ञानको लीजिए। विज्ञान मनुष्यके मस्तिष्कका उत्कृष्टतम निष्कर्ष है। हवा, पानी, आग, बिजलीको वशमे करना, रोगके कीटाणुओको पहिचानना, नये-नये फल निकालना, थोडेसे परिश्रममे बडे-बडे काम कर डालना—यह सब इस युगकी विशेपता है। पर यह विज्ञान आज विषैली गैस, विस्फोटक, परमाणु बम, बनानेके काममे लगाया जा रहा है। जिन आविष्कारोसे सबका भला हो सकता है उनका दुरुपयोग व्यक्ति या समुदाय या राष्ट्रविशेषके स्वार्थके लिए किया जा रहा है। पर यह एक ऐसा खेल है जिसे सभी खेल सकते है। अत. सभी देशोके विज्ञानाचार्य अपनी विद्वत्ताका उपयोग मनुष्योके सहारके लिए करनेमे प्रयत्नशील है। विज्ञानने मनुष्योमे भ्रातृभावका संचार भले ही न किया हो पर दिक्कालके बन्धनोको तो ढीला कर ही दिया है। अत लोग भलेके लिए न सही, बुरेके ही लिए एक दूसरेको पहिलेसे अधिक प्रभावित करते है और अशान्ति अधिक भीषण रूप धारण करती जाती है।

यह लडाई केवल भौतिक क्षेत्रमे नही लडी जाती। लोग अपने स्वार्थोकी सिद्धिके लिए केवल तोप, तलवार, बम और लाठीसे काम नही लेते। कूटनीति, चालाकी, 'तिकडम' बडे कामकी चीजे है, पर यह भी पर्याप्त नही है। व्यक्तियोका काम इतनेसे चल सकता है क्योकि व्यक्तियोका

जीवन थोडा होता है, उनके झगडे भी जल्द ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु मनुष्योंके कुछ ऐसे समुदाय हैं जो व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक स्थायी-से हैं। उनका सघर्ष दूसरे समुदायोंके साथ बराबर ही चलता रहता है। उनके 'हित' सकुचित हैं, स्वार्थमूलक हैं पर एक प्रकारसे नियत और स्थायी हैं। ऐसे समुदायोने एक विशेष प्रकारके शास्त्रोंकी सृष्टि की है। इन्होंने अपने-अपने लिए विशेष 'दर्शनो' या 'सिद्धान्तो'का आविष्कार किया है। इनकी लडाइयाँ बौद्धिक क्षेत्रमे लडी जाती हैं। पहिले शास्त्रकी लडाई होती है, तब शस्त्रसे काम लिया जाता है। जमीनदारो, मिल-मालिको, मजदूरो, गोरी जातियो, अग्रेजो, सबका अपना शास्त्र है। विद्वानोंका एक दल बडी गम्भीरतासे यह सिद्ध करता है कि ससारकी उन्नति इसी बातपर निर्भर हे कि सारा अधिकार पूँजीपतियोंके हाथमे रहे। दूसरा दल ठीक ऐसी ही बात मजदूरोंके लिए कहता है। तीसरा दल रूसको उन्नतिकी धुरी बताता है और चौथा दल प्रगतिके केन्द्रको अमेरिकामे बताता है। यह सब तो ठीक नही हो सकते, पर इतिहासकी पुस्तकें, अर्थशास्त्र और दर्शनकी पोथियाँ, निबन्ध, पद्य सब इसी दृष्टिकोणसे लिखे जाते हैं। इस प्रकारके प्रचार-कार्य्यमे विपुल धनराशि लगायी जाती है। इससे कुछ तो विपक्षियो या तटस्थोपर प्रभाव पडता है, कुछ अपने पक्षवालोका बल बढ जाता है। 'मै उन्नति-पक्षका सैनिक हूं, जगत्-हितके लिए लड रहा हूँ' ऐसा विश्वास हो जानेसे, चाहे विश्वास कितना ही निराधार हो, लडनेवालेका उत्साह बढ जाता है। मनुष्योंमे समाज नही है परन्तु प्रत्येक समुदायने अपनेको यह समझ रखा है कि उसके ही हाथो समाजकी स्थापना होगी।

इस कलहमय जीवनका एक और परिणाम देख पडता है। चारो ओर 'मिथ्यात्व' झूठका, व्यापार फैल रहा है। जो बात नही हे उसको कह देना मात्र झूठ नही होता। आजकल, कबीरके शब्दोमे, झूठ ओढना, बिछौना, चबैना हो रहा है। किसी व्यक्ति, समुदाय, राष्ट्रको किसी

दूसरे व्यक्ति, समुदाय, राष्ट्रकी नीयतका विश्वास नही है। मनुष्यके नैसर्गिक गुणोका बहुत कम समादर है। विद्वान् और कलाकार उन लोगोके आश्रित है जो दूसरोको दबाकर आगे बढनेमे समर्थ हुए है। जो दूसरोकी सबसे अधिक सेवा कर सकता है उसकी नही वरन् उसकी पूजा होती है जो दूसरोके हितोको पीछे करके अपने स्वार्थका साधन करता है। प्राचीन भारतीय धर्म्मग्रन्थ व्यक्तियो और समुदायोके धर्म्मो अर्थात् कर्त्तव्योका उल्लेख करते थे। आजके दिन सबको अपने अधिकारोकी धुन है, कर्त्तव्यक्षेत्र नही, अधिकारक्षेत्र बढानेके पीछे सभी पागल हो रहे है।

इसी व्यापक अविश्वास, अशान्ति, प्रतियोगिताका यह परिणाम है कि जगत्का वातावरण कलहमय हो रहा है। कही हडताल हो रही है, कही खेत उजड रहे है, कही कारखाने बन्द हो रहे है, एक ओर स्वतन्त्र देश गुलाम बनाये जा रहे है, दूसरी ओर बडे-बडे शक्तिशाली राज आपसमे टक्कर ले रहे है, तीसरी ओर यादवीय मची हुई है और चौथी ओर विद्रोहकी आग भभक रही है। किसीको कलका भरोसा नही है। विज्ञानने उपजको सौगुना बढा दिया है। जहाँ एक थानका बुनना कठिन था, वहाँ बातकी बातमे हजारो थान बुने जाते है। जिस भूमिपर अन्नकी एक बाल नही उग सकती थी वहाँ अब खेत लहराते है। पृथ्वीके एक कोनेमे पैदा हुई वस्तु सुगमतासे दूसरे कोनेतक पहुँचायी जा सकती है पर यह सब होते हुए नंगो, भूखो, बेकारोकी संख्या ज्योकी-त्यो है, वरन् बढ गयी है। जितनी धनराशि अब देख पडती है उतनी पहिले कभी सुन भी नही पडती थी परन्तु निर्धनोकी संख्या द्रुत वेगसे बढती जाती है। पृथ्वीपर जितनी भौतिक सामग्री है उसका सदुपयोग नहीं हो रहा है। किसी प्रकारका सघटन नही है; समाज नही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मैने किसी पुराणसे लेकर कलियुगका चित्र खीच दिया है। क्या किया जाय, वर्तमान समयमे वस्तुस्थिति ऐसी ही है।

वाकुनिनने एक जगह कहा है "समाज व्यक्तिसे पहिले है। ...मनुष्य तभी मनुष्य होता है और उसकी विवेक-बुद्धि तभी जागरित होती है जब वह समाजमे अपने मनुष्यत्वका अनुभव करता है। उस दशामे भी वह 'समाजके सामूहिक कामो द्वारा ही अपनेको व्यक्त कर सकता है।' ... समाजकी सीमाके वाहर मनुष्य सदैव जगली पशु बना रहेगा।" आज नरराशि समाजके रूपमे सग्रथित नही है, इसीलिए मनुष्य स्वार्थी बनैला पशु हो रहा है।

दूसरा अध्याय

धर्म्म, सदाचार, राज और सभ्यता

ऐसे बहुत कम लोग होगे जो वर्तमान जगत्के उस स्वरूपको न स्वीकार करे जो पिछले अध्यायमे अकित है, पर यह आक्षेप कई लोगोको हो सकता है कि यह कहना कि मानवजीवन सर्वथा असंघटित है, अनुचित है। मै यहॉपर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मै ऐसा नही कहता कि किसी प्रकारका संघटन है ही नही। संघटन तो थोडा-बहुत है पर ऐसा और इतना नही है कि उसके द्वारा मनुष्योकी जाति 'मनुष्य-समाज' बन सके। कुछ सघटन और अनुशासन तो कुछ पशुओमे भी देख पडता है। भेड़ियोके झुण्ड इसके उदाहरण है। भेडियोके व्यवहारमे ठहरकर सोचने और सकल्पपूर्वक काम करनेका परिचय मिलता है और वह एक दूसरेको प्रभावित भी करते है।

जो लोग इस कथनसे सह्मत नही है वह विशेषरूपसे तीन शक्तियो-का नाम लेते है जो उनकी सम्मतिमे मनुष्यो को एक सूत्रमे बाँधकर 'समाज'की सृष्टि, कमसे कम रक्षा, करती है। इनके नाम हैं धर्म्म, सदा-चार और राज।

धर्म शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है। 'धारणाद्धर्म्म इत्याहु' 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि. स धर्म्म.' इत्यादि इसकी प्राचीन व्याख्याएँ है। तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा प्रजाका धारण हो, जिसके द्वारा प्रजा समृद्ध और सुखो हो, जो प्रजाको एक सूत्रमे बाँधकर रखे, वह धर्म्म है। यदि धर्म्मका यही अर्थ है तो यह कहना ठीक नही है कि धर्म्म मनुष्योको बाँधे हुए है। ऐसा कहनेमे एक तो पुनरुक्ति दोष आता

है क्योकि इसका इतना ही अर्थ हुआ कि जो समाजको बाँधता है वह बाँधे हुए है। दूसरा बडा दोष प्रकरणसम है। इस बातका प्रमाण क्या है कि प्रजाको कोई भी समृद्धिकारी सूत्र बाँधे हुए है ? हम तो अभी तक यही देखते आये है कि ऐसी कोई वस्तु है ही नही।

मै धर्म्मकी सत्ता या महत्ताको अस्वीकार नही कर रहा हूँ। वस्तुत: मनुष्यको मनुष्य बनानेकी क्षमता सत्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य आदि धर्म्माङ्गो-मे ही है परन्तु इस समय वह वातावरण नही देख पड़ता जिसमे धर्म मनुष्य-जीवनको अनुप्राणित कर सके।

एक चीज है जिसे लोग प्राय. धर्म्म नामसे पुकारा करते है : मजहब। मजहबको सम्प्रदाय कह सकते है। मज़हब एक तो नही है परन्तु प्रत्येक मजहबके लाखो, प्रत्युत करोडो, अनुयायी है और कुछ बाते सभी मजहबोमे पायी जाती है। इसलिए ऐसा विचार उठ सकता है कि मजहब मनुष्योको एकमे मिलाकर समाजके रूपमे संघटित कर रहा है।

इस समय दो प्रकारके सम्प्रदाय है। कुछमे, जिनका सबसे अच्छा उदाहरण ईसाई सम्प्रदाय है, आभ्यन्तर संघटन है। नीचेसे लेकर ऊपर-तक सरकारी ढंगसे कर्मचारी नियुक्त है। इनके दर्जे बँधे हुए है, आम-दनी नियत है, नियुक्ति और वियुक्ति तथा पदवृद्धिके नियम बने हुए है। दूसरे प्रकारके सम्प्रदायोमे, जिनका उदाहरण हिन्दू सम्प्रदाय है, इस प्रकारका कोई सघटन नही है। इन दोनो प्रकारके सम्प्रदायोमे दो बाते होती है, किसी न किसी प्रकारकी उपासनाका कुछ उपदेश दिया जाता है और अपने सम्प्रदायवालो तथा दूसरोके साथ व्यवहार करनेके कुछ नियम वतलाये जाते है। उपासना या तो ईश्वरकी होती है या तदधीन किसी देव-देवीकी। 'ईश्वर'की व्याख्या अनेक प्रकारसे हो सकती है। शारीरक-सूत्रके 'जन्माद्यस्य यत' सूत्रका जो भाष्य शकराचार्यने किया है उसके अनुसार ईश्वर मायाशबल ब्रह्म है, रामानुजके अनुसार वह जीवाजीवकी

समष्टि है, गौतमकणादके मतानुसार वह जीवोके संचित कर्मोके अनुसार उनको फल-भोगकी प्राप्ति करानेवाला जगत्‌का साक्षी और आरम्भक है, योगके अनुसार वह क्लेशादिसे अस्पृष्ट पुरुषविशेष मात्र है, इस्लाम और ईसाई मजहबके अनुसार वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्'मे समर्थ जगत्‌का स्रष्टा, पालक और सहारक है। सचमुच ईश्वर है भी या नही यह विवादास्पद है, परन्तु यदि ईश्वर है तो उसके सम्बन्धमे इतने प्रकारके विचार घोर बुद्धिभेद उत्पन्न करते है। दार्शनिकोको इस प्रकारके बुद्धि-भेदमे भले ही रस मिलता हो पर साधारण मनुष्य तो घबरा उठता है। इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय अपने अनुयायियोमे चाहे जैसा ऐक्य उत्पन्न करे परन्तु विभिन्न सम्प्रदाय लडते रहते है। सम्प्रदायोके आचार सम्बन्धी उपदेश भी एकसे नहीं है। कौन स्पृश्य है, कौन अस्पृश्य, क्या भक्ष्य है, क्या अभक्ष्य, अन्य मतावलम्बीकी शुद्धि करके उसे अपने सम्प्रदायमे मिलाना चाहिए या नही, कर्मोके फलका कैसे भोग होता है, विवाह किस प्रकार होना चाहिए, इत्यादि अनेक प्रश्नोके उत्तर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न रूपमे देते है। इन्ही सब बातोका यह परिणाम है कि सम्प्रदायके भेदके नामपर लाखो मनुष्य बलि होते रहे है और आपसमे कलह मचा रहता है। प्राय सभी सम्प्रदायोको यह विश्वास है कि इनको सीधे ईश्वरसे आदेश मिला है, पर हिन्दूका ईश्वर एक बात कहता है, मुसलमानका दूसरी और ईसाई-का तीसरी। इटलीकी सेना अबिसीनियापर आक्रमण करती है और उभय पक्ष ईश्वर, ईसा और ईसाकी मातासे विजयकी प्रार्थना करते है। आज मजहबके नामपर लोग जलाये नही जाते परन्तु सैकडो फिर भी इसी द्वारसे यमलोक जाते है। ईश्वरकी किसी विशेष ढङ्गसे पूजा करनेसे सैकडो-हजारोकी जीविका बनती है, सैकडो-हजारोकी जीविका छिनती है। ईश्वर-को न माननेवाले सम्प्रदाय भी इस अखाडेमे किसीसे, पीछे नही है। बौद्धो-का व्यवहार इसका प्रमाण है।

आचारके क्षेत्रमे भी यही दशा है। मै यह जानता हूँ कि बडे-बडे

धर्म्मप्रवर्त्तकोने जगद्धिताय ही अपने धार्मिक आन्दोलन चलाये, यह भी जानता हूँ कि मजहबने बहुतसे लोगोकी पाशव प्रवृत्तियोकी निरंकुशताको कडे हाथो रोका है, यह भी मानता हूँ कि आज भी ऐसे लोग है जो अपने साम्प्रदायिक विचारोपर सचाईसे दृढ है और इन विचारोसे प्रेरित होकर यथाशक्ति बडी लगनसे लोकसंग्रहमे लगे रहते है; पर यह सब बाते साम्प्रदायिकताके इतिहाससे सम्बन्ध रखती है । इस समय तो इनकी गिनती अपवादोमे है । आजकल तो सम्प्रदायोसे अनाचारको ही सहायता मिलती है ।

ऐसे लाखो व्यक्ति है जो बडे ही भक्त है । भगवन्नाम-जप, भगवत्कथा-कीर्तन,के समय प्रेमगद्गद हो जाते है, अपने आपको भूलकर प्रेमावेशमे नाच उठते है । मन्दिर, मस्जिद या गिरजा बनवानेके लिए श्रद्धालुओसे लाखो रुपये मिल जाते है, यज्ञ, साधुभोज और विधर्म्मियोकी शुद्धिके लिए रुपयेकी धारा बहती ही रहती है । आयु थोडी है और शरीरके अवयवोकी सख्या भी बँधी हुई है । इसलिए रुपये देकर जप, व्रत आदि करनेके लिए आदमी रख लिये जाते है । उनके किये हुए सत्कर्मो का फल धनदाताको होता है । यह सब तो हे पर जप और पूजा महाजनोको गरीबोका गला दबाकर, उनके घर बिकवाकर ब्याजके नामपर तबाह करनेसे नही रोकती । खराब माल बेचने और एकका चार मुनाफा लेनेसे मजहबमे फर्क नही आता । करोडोकी सम्पत्तिके स्वामी मठाधीश भी अपनेको त्यागी साधु कहते है । लोगोके रक्तको चूसकर जो रुपया आता है उसमेसे चार पैसे दानके रूपमे लौटा देनेसे स्वर्गका सौदा पक्का हो जाता है ।

यह कहा जाता है कि ईश्वरके सामने सब बराबर है । 'विद्या विनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनिचैव श्वपाके च', विद्वान् लोग समदर्शी होते है । जहाँतक शास्त्रार्थकी बात है वहाँतक तो समदर्शन निर्विवाद है परन्तु व्यवहारमे इसका पता नही चलता । व्यवहारमे तो समुदाय समुदायके

लिए दूसरा मजहब है। हिन्दुओका ईश्वर करोड़ो हिन्दुओको अपने सामने आने ही नही देता। उनको मन्दिरोमे जानेका अधिकार ही नही है। जब किसी बडे आदमीको दर्शनकी सुविधा देनेके लिए लोग धक्के देकर हटाये जाने लगते है, उस समय साम्प्रदायिक समदर्शिता थोडी देरके लिए आँखे बन्द कर लेती है। ईसाई और इस्लाम मजहब वर्ण-भेद नही मानते, पर इसका तात्पर्य यह नही है कि इनमे ऊँचे-नीचेका भाव नही है। भेद इतना ही है कि उसका स्वरूप दूसरा है। गरीबका मजहब दूसरा है और अमीरका दूसरा। गरीबको तो गला फाड-फाडकर 'सन्तोष'का पाठ पढाया जाता है, उससे यह कहा जाता है कि उसकी वर्तमान दुर्दशा उसके पूर्वजन्मके कृत्योका फल है या ईश्वरकी ओरसे उसकी परीक्षा है। वह इस प्रारब्ध या किस्मतसे लड नही सकता। यह दैवी व्यवस्थासे सर टकराना और विपत्ति मोल लेना है। इसलिए उसे चुपचाप सब कुछ सह लेना चाहिए। इस सन्तोषका फल उसे अगले जन्म या स्वर्गमे मिलेगा। परन्तु अमीर और बलीके लिए सन्तोषकी शिक्षा नही है। वह चाहे जैसे और जितना धन उपार्जन करे, अधिकारका उपयोग करे। निर्धनके धन और निर्बलके बल कोई भगवान् है ऐसा कहा जाता है। यदि है तो उनसे किसी बलवान् या धनीको कोई आशका नही है। वह उनके दरबारमे रिश्वत पहुँचानेकी युक्तियाँ जानता है। पर उनका नाम लेनेसे दुर्बल और निर्धनका क्रोध शान्त हो जाता है। जो हाथ सतानेवालोके विरुद्ध उठते वह भगवान्के सामने बँध जाते है। आँखोकी क्रोधाग्नि आँसू बनकर ढल जाती है। वह अपनी कमर तोडकर भगवान्का आश्रय लेता है। इसका परिणाम कुछ भी नही होता। उसके आर्त्त हृदयसे उमड़ी हुई कम्पित स्वर-लहरी आकाशमण्डलको चीरकर भगवान्के सूने सिहासनसे टकराती है। टकराती है और ज्योकी-त्यो लौटती है। कबीर साहबके शब्दोमे 'वहाँ कुछ है नही, अरज अन्धा करै, कठिन डण्डौत नहि टरत टारी'। आज हजारो कुलवधुओका सतीत्व बलात् लुट रहा है, हजारोको पेटकी ज्वाला बुझानेके

लिए अबलाका एक मात्र धन बेचना पड़ रहा है, लाखो बेकस निरीह राजनीतिक और आर्थिक दमन और शोषणकी चक्कीमे पिस रहे है पर जो भगवान् कभी खम्भे फाडकर निकला करते थे और कोसोंतक चीर बढाया करते थे वह आज उस कलाको भूल गये और अनन्तशयनका सुख भोग रहे है । फिर भी उनके नामकी लकडी दीन-दुखियोको थमायी जाती है । जो लोग ऐसा उपदेश देते है वह खूब जानते है कि अशान्तोको काबूमे रखनेका इससे अच्छा दूसरा उपाय नही है । अन्न-संकटके समय लाखो प्राणी तडप-तडपकर दिन काटते है परन्तु धर्म्मप्राण व्यापारी चोर-बाजारी और गहिरी मुनाफेखोरीसे करोडो कमा लेते है । जो दुखी है वह और दुखी होता जाय, जो सुखी है वह निष्कण्टक सुख भोगता रहे, धर्म्म-सञ्चालित ससारके लिए इससे उत्कृष्ट और क्या नियम होगा !

सबसे विलक्षण बात तो यह है कि यह सब अन्धेर मचता रहता है, दुर्बल और निर्बल व्यक्तियो तथा समुदायोका शोषण और उत्पीडन जारी है, पर कोई धर्म्माध्यक्ष चूँ नही करता । जर्मनीमे यहूदियोका क्या कुछ नही हुआ परन्तु ईसाई धर्म्मगुरु पोपने मुँह नही खोला । ब्रिटिश साम्राज्यमे चाहे जो होता हो परन्तु ब्रिटेनके बादशाह 'डिफेण्डर आव दि फेथ' (प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायके रक्षक) बने रहते है । प्रजाकी बहिन-बेटियोकी इज्जतका अपहरण करनेवाला भारतीय नरेश भी धर्म्मावतार ही कहलाता था । कोई ब्राह्मण पुरोहित किसी अनाचारी नरेश, जमीदार, महाजन, शासकसे नही कहता कि तुम अधर्म्मी हो, मै तुम्हारे यहाँ धर्म्मकृत्य नही कराऊँगा, तुम्हारा अन्न नही ग्रहण करूँगा । स्वयं इन धर्म्मव्यवसायियोकी जीविकामे कोई हस्तक्षेप कर बैठे तब तो दूसरी बात है, अन्यथा क्या भारतमे, क्या भारतके बाहर, धर्म्माचार्य्य बराबर सरकार, बलवान् और धनवान्का ही साथ देते है । मै यह जानता हूँ कि भृगु और अंगिरा, बुद्ध और शकराचार्य ऐसा कदापि न करते । यदि शाप देकर भस्म न कर पाते तो कुछ ऋषि-मुनि अत्याचारीको उसी तरह मार डालते जिस तरह

राजा बेन मारा गया था। ऐसा भी माना जा सकता है कि आज भी ऐसे पण्डित, संन्यासी, मुल्ला, पादरी है जो इस व्यापक अनाचारसे व्यथित है, पर धर्म्मदीक्षा भी व्यवसाय है और पुरस्कार देनेवालो अथच दण्ड देनेकी सामर्थ्य रखनेवालोके विरुद्ध आवाज उठाना कठिन है।

मजहबने दम्भका जो वातावरण फैला रखा है उसमे उन्नतिका दम घुटता है। अत्याचार, अनाचार, शोषण, उत्पीडन चाहे जितना सक्रिय दुष्कर्म्म हो, चाहे चुप्पी साधकर आततायीको कितना भी प्रोत्साहन दिया जाय, पर नाम ईश्वरका ही लिया जायगा, दुहाई वेद, कुरान, इञ्जीलकी ही दी जायगी। जो काम किया जाता है वह धर्म्मके प्रचारके लिए। जिसको देखिए वही सत्य, अहिसा, अपरिग्रह, समता और विश्वशान्तिका उपासक है। जो स्वेच्छाचारी शासक है वह ईश्वरका विनम्र नि.स्वार्थ सेवक है। प्रत्येक शोषण शोषितके हितके लिए होता है। देशोपर आक्रमण उनके निवासियोके कल्याणके लिए किया जाता है।

इस अवस्थाको देखकर यह मानना पडता है कि धर्म्म-प्रवर्तकोका उद्देश्य कुछ भी रहा हो और सम्प्रदायोका इतिहास कुछ भी बतलाता हो, इस समय तो मजहब विघातक शक्तिका काम कर रहा है। जैसा कि एक प्रसिद्ध समाजवादीने कहा था—'मजहब लोगोको बेहोश करनेकी दवा है और समृद्ध लोग इसी कामके लिए धर्म्माचार्यो द्वारा इसका उपयोग कराते है'। वर्तमान समयमे मजहबमे इतनी क्षमता नही है कि वह लोगोको एक सूत्रमे बाँध सके, अत वह मनुष्य-समाजका साधन नही हो सकता।

मेरे इस सारे कथनका यह तात्पर्य नही है कि मै धर्म्मका विरोधी हूँ। मै तो धर्म्मकी शक्तिको स्वीकार करता हूँ। मैने जो कुछ लिखा है वह दु खमे, क्रोधमे नही। धर्म्म पर जो मलिन खोल चढ गयी है उसे फाडकर फेक देना होगा। यह काम वही लोग कर सकते है जिनको धर्म्म पर आस्था हो। सच्चे धर्म्माचार्योको इस दिशामे निर्भीक, निर्लोभ, नि स्वार्थ और निर्मम होकर बढना चाहिए, लोकापवादकी परवाह न करके धर्म्मकी परि-

शुद्धि करनी चाहिए। सम्प्रदाय भी रहे परन्तु द्वेष, कलह, सघर्षको छोड़कर। यह युग धर्म्मके अनुकूल नही प्रतीत होता परन्तु धर्म्मप्राण मनुष्य अपने त्याग और तपसे इसको परिवर्तित कर सकते है और धर्म्मको मनुष्य समाजके सर्जन और परिरक्षणका पुष्ट साधन बना सकते है।

दूसरी चीज, जो मनुष्यको संघटित करनेवाली बतलायी जाती है, सदाचार है। सत्पुरुष, श्रेष्ठ, शिष्ट लोग जो आचरण करें वही सदाचार है। सदाचारके कई आधार हो सकते है। एक आधार तो मजहब है पर यह आधार इस समय बडा दुर्बल है। मजहब एक स्वरसे नही बोलता। ईश्वरने विभिन्न मतानुयायियोको विभिन्न उपदेश दे रखे है। वह जगज्जनक होकर भी बलि और कुरबानीसे प्रसन्न होता है। एक ओर विश्वेश्वर बनता है, दूसरी ओर विधर्म्मियो और कभी-कभी स्वधर्म्मियोको मार डालने तकका उपदेश देता है। एक ही अपराधके लिए अलग-अलग लोगोको अलग-अलग दण्ड देता है और एक ही सत्कर्म्मके पुरस्कार भी अलग-अलग देता है। अपने भक्तोके लिए कानूनकी पोथीको बेठनमे बन्द करके रख देता है। ऐसी दशामे मजहबके आधार पर कोई सार्वदेशिक स्थिर सदाचार-नियम नही बन सकता। जो आचरण स्वर्गके लालच या नरकके भयसे बरता जाता है उसको यदि सदाचार कहा जाय तो जेलका कैदी सदाचारियोमे अग्रगण्य हो जायगा।

कुछ लोग ऐसा मानते है कि मनुष्यमे कोई ऐसी दैवी शक्ति है जिसके द्वारा वह सत्य-असत्य, सुकृत्य-कुकृत्य, मे विवेक कर सकता है। परन्तु थोडा-सा विचार करनेसे प्रतीत होगा कि ऐसी कोई दिव्य शक्ति नही है जो सदैव एक स्थिर और स्फुट आवाजसे बोलती हो। भिन्न-भिन्न देशो और समयोमे, एक ही देशमे भिन्न-भिन्न समयोमे, एक ही देश और काल मे भिन्न-भिन्न व्यक्तियोके हृदयमे विभिन्न प्रकारकी प्रेरणाएँ उठती है। इसलिए ऐसी प्रेरणाके आधारपर स्थायी सार्वभौम नियम नही बन सकता।

वस्तुतः सदाचारका एक ही आधार है—मनुष्यकी बुद्धि। जिस प्रकार बुद्धि यह निश्चय करती है कि दो और दो मिलकर चार होते है या पाँच, उसी प्रकार वह इसकी विवेचना करती है कि अमुक परिस्थितिमे किस प्रकार बरतना चाहिए। बुद्धि व्यक्तिकी सहोदर है। जन्मना सबकी बुद्धि एक-सी नही होती पर जैसी कुछ भी बुद्धि-सामग्री लेकर कोई व्यक्ति जन्म लेता है उसका विकास होना सम्भव है। यह विकास उस व्यक्तिकी परिस्थितिपर निर्भर है। जैसे राजनीतिक, आर्थिक, कौटुम्बिक, सास्कृतिक, साम्प्रदायिक और सामाजिक वातावरणमे कोई व्यक्ति पलता है उसीके अनुसार उसकी बुद्धि होती है और उस अपनी बुद्धिके अनुसार ही वह दूसरोके साथ आचरण करता है। यह ठीक है कि मनुष्यकी कई प्रमुख जातियोकी उन्नति कुछ दूर तक एक-सी हुई है, इसलिए सदाचारके नियम भी मिलते-जुलते है। इस दृष्टिसे सदाचारके नियमोमे यह शक्ति थोडी-सी है कि मनुष्योको एकमे बाँधे। पर इस शक्तिकी सीमाएँ भी स्पष्ट है। जहाँ तक कोई संघर्ष नही उठता वहाँ तक शरीफ, सज्जन बनना सुकर है। छोटी-छोटी बातोमे दब जाना भी शोभाकी बात है। पर जब स्वार्थोमे टक्कर होती है उस समय यह ऊपरी रङ्ग उड जाता है, क्योकि जो बुद्धि आचरणका स्रोत है वही स्वार्थसे कलुषित हो उठती है। उस समय न मजहब काम देता है, न हृदयमे ईश्वरकी आवाज सुन पडती है। राष्ट्रोके आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ विभिन्न है इसलिए उनका आचरण भी साधारण शिष्टाचारकी कसौटीपर नही रखा जा सकता। इसी प्रकार व्यक्तियोके स्वार्थ भिन्न है, भिन्न ही नही, परस्पर विरोधी है। इसी-लिए आचरणोमे भी वैषम्य और विरोध होता है। जिन लोगोके हाथमे सम्पत्ति और अधिकार है वह उसको चिरस्थायी बनाना चाहते है, इस-लिए सदाचारके नियम भी ऐसे फैलाना चाहते है जिनमे स्थिति उनके अनुकूल बनी रहे। उन लोगोका आचरण इसके विपरीत होना स्वाभाविक है जो अधिकार और सम्पत्तिसे वञ्चित है। जो परिस्थितिको ज्योकी

त्यो रखना चाहता है और जो उसको बदलना चाहता है, दोनोके दृष्टि-कोणमे अन्तर है, बुद्धिमे अन्तर है, लक्ष्यमे अन्तर है अत. आचरणमे भी अन्तर होगा। एक ही आचरण-नियम दोनोको बाँध नही सकते।

सच तो यह है कि मनुष्यने अब तक अपने लिए सदाचारकी कोई स्पष्ट और सार्वभौम कसौटी बनाई ही नही। दूसरी कठिनाई यह है कि आचार-के क्षेत्रमे बहुविध्यका औचित्य स्वीकार किया जाता है। बहुविध्यका तात्पर्य यह है कि देशकालपात्रके भेदसे आचारमे भेद हो सकता हे। व्यक्ति और समुदायके लिए अलग-अलग नियम है। व्यक्तिका झूठ बोलना बुरा है, पर राष्ट्र झूठ बोल सकता है। एक आदमीको मार डालना निन्द्य है परन्तु फौज़के द्वारा लाखोको मार डालना गौरवकी बात है। मित्र और शत्रुके साथ अलग-अलग आचरण हो सकता है। इस बहु-विध्यने आचारके क्षेत्रको अनियन्त्रणका घर बना दिया है। जो स्वय अनियन्त्रित, अनिश्चित है, वह समाजको कैसे बाँध सकता है ?

सदाचारसे मिलती-जुलती वस्तु विधान, कानून है। स्थितिको कायम रखनेमे कानूनसे बडी सहायता मिलती है, क्योकि कानूनके द्वारा स्थिति-को परिवर्तित करनेवालोको दण्ड दिया जा सकता है। राजनीतिके सम्बन्धमे तो यह बात सभी देखते है। जो लोग सरकारको पलटना चाहते है वह आये दिन जेल जाते है, जुर्माना देते है, काले पानीकी सैर करते है या फाँसी पाते है। परन्तु आर्थिक क्षेत्रमे भी यही बात है। जिन लोगोके हाथमे सम्पत्ति है उनका कानून बनानेवाली संस्थाओमे प्रभाव है। वह ऐसे कानून बनवाते रहते है जिनसे उनके स्वार्थोपर आघात करनेवालोको दण्ड दिया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति किसी भी चालबाज़ीसे एक करोड रुपया एकत्र कर लेता है तो कानून उसकी रक्षा-का जिम्मा लेता है। कोई भूखा आदमी उसमेसे चार पैसे भी बिना पूछे ले ले तो वह जेल भेजा जा सकता है, पर कानून उस भूखेका पेट भरने-का जिम्मा नही लेता। ऐसी दशामे कानूनके प्रति सबका एक भाव नही

हो सकता। कानून सब मनुष्योको एक सूत्रमे बाँधकर समाज नही बना सकता।

अन्तमे थोडा-सा विचार राजके विषयमे भी करना होगा। लोगोका ऐसा विश्वास है कि राजशक्ति सर्वोपरि है, सबको समान दृष्टिसे देखती है और सबको एक सूत्रमे बाँध सकती है।

पहिले तो कोई सार्वभौम राज नही है अत सब मनुष्य तो एक राजकी छत्रछायामे बँध नही सकते। अत हमको पृथक् राजोपर थोडी-सी दृष्टि डालनी चाहिए। प्राचीन कालसे ही राजसत्ताधारियोका यह प्रयत्न रहा है कि प्रजा उनको सर्वोपरि, समदृष्टि, नि स्वार्थ और निष्पक्ष माने। बात यह है कि कोई शासक कितना ही प्रबल क्यो न हो केवल बल-प्रयोगके सहारे बहुत दिनोतक शासन चल नही सकता। अत प्रजामे यह भाव उत्पन्न करना आवश्यक होता है कि राजप्रतीक अर्थात् सरकार केवल लोकहित अर्थात् सर्वहितसे प्रेरित है और उसका समर्थन करना सबका कर्त्तव्य है। धर्म्माध्यक्षोसे राजको इसमे बडी सहायता मिलती रही है। राजाज्ञाको मानना धार्म्मिक कृत्य हो गया। मनु कहते है 'नाविष्णु पृथिवीपति'–ऐसा कोई राजा नही है जो विष्णुस्वरूप न हो। मुसलमान और ईसाई सम्प्रदाय भी नरेशको ईश्वरका नायब बतलाते थे।

आज मजहबमे न वह शक्ति है, न मजहब और राजसस्थामे वह पुराना नाता है। नरेश या तो मिटते जाते है या शक्ति-क्षीण हो जाते है। परन्तु शासनपद्धति कुछ भी हो, राज तो है ही और प्रत्येक राज अपनी प्रजाके हृदयमे वही स्थान अब भी चाहता है। इसलिए प्रत्येक राज यह दिखलाना चाहता है कि वह सबका है और सबके भलेकी बात करता है। पर यह बात ठीक है नही। प्रत्येक देशमे, प्रत्येक राजमे, कुछ लोगोके हाथमे सम्पत्ति और अधिकार होता है। इन लोगोका ही राजके सञ्चालनमे प्रभाव पड़ता है। सरकार इनके ही संकेतपर चलती है। कानून ऐसे ही बनाये जाते है जिनसे सबसे पहिले इनके हितोकी रक्षा हो। दाम्भिक

भाषाका प्रयोग करके भले ही घोषित किया जाय कि सब कुछ सबके हितके लिए होता है पर वस्तुत जो प्रभावशाली समुदाय होता है उसका हित—उसके हितोकी चिर-रक्षा—ही प्रधान लक्ष्य होता है। कही धर्म्मा-चार्य्योंका समुदाय शक्तिशाली है, कही सामन्त-सरदार साधिकार होते है, कही जमीनदारोका जोर होता है, कही महाजनो और पूँजीवालोका प्राधान्य होता है, कही नगरवासियोका अधिक प्रभाव होता है, कही ग्राम-वासियोका। कब और कहाँ किस समुदायके हाथमे राजसत्ता रही है यह वात उस समयके कानूनोसे और शासन-व्यवस्थासे जानी जा सकती है। इसलिए राजसत्ता वस्तुतः शासक-समुदायका सघटन है और सरकार वस्तुत शासक-समुदायकी कार्य्यकारिणी समिति है।

परन्तु जहाँ शासकवर्ग है वहाँ शासितवर्ग भी है। यह बात लोक-तन्त्रात्मक शासनविधानसे छिपाये नही छिपती। आज ब्रिटेन और अमेरिका-मे लोकतन्त्रात्मक शासन है, पार्लिमेट और काग्रेस चाहे जो करे ऐसा प्रतीत होता है। पर सभी जानकारोको यह विदित है कि पार्लिमेट और काग्रसकी नकेल धनिको और सम्पत्तिवानोके हाथमे है। प्रतिनिधि चुनकर कोई आये पर ऐसी बात नही की जा सकती जो इन प्रभावशाली समुदायो-को सचमुच नापसन्द हो। ऐसी दशामे ऐसे बहुतसे अवसर आते रहते है जब शासितोकी आर्थिक हत्या हो जाती है। इससे उनमे असन्तोष भी फैलता रहता है। सरकार कहती है कि राजकी आज्ञाका मानना प्रजाका अनिवार्य कर्त्तव्य है पर दूसरा पक्ष ऐसा नही मान सकता। जैसा कि लास्कीने 'ग्रामर आव पालिटिक्स' मे कहा है "हमारी सस्कृत बुद्धि सार्व-जनिक हितके लिए जो वस्तु अपनी ओरसे अर्पित करती है उसका नाम नागरिकता है। नागरिकताका परिणाम यह हो सकता है कि हम राजका समर्थन करे पर यह भी हो सकता है कि हम उसका विरोध करे।" तात्पर्य यह है कि जो लोग अधिकारसे वञ्चित है वह ऐसा मानते है कि आवश्यकता पडनेपर विद्रोह करना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

परन्तु शासक-समुदाय ऐसा नही मान सकता । फलत: दोनो समुदायो-मे सघर्ष बना रहता है । यह सघर्ष प्रायश. अव्यक्त रहता है । दोनो ओरसे वाद-प्रतिवाद होकर काम चल जाता है । पर कभी-कभी स्थिति गम्भीर हो जाती है । उस समय बलप्रयोगकी नौबत आ जाती है । ऐसे अवसरपर शासित-समुदायको बडी असुविधा होती है । उसका पक्ष कितना ही न्याय्य क्यो न हो, उसकी शक्ति बहुत कम होती है । दूसरी ओर राजकी संघटित शक्ति होती है । इसीलिए लेनिनने कहा है 'बलप्रयोगके एकाधिकार-का नाम राज है ।' महात्मा गान्धीने मनुष्यके हाथमे सत्याग्रह नामका नया शस्त्र दिया है । सत्याग्रही किसीको प्रत्यक्षरूपसे भौतिक क्षति नही पहुँचाता, स्वय कष्टका वरण करके विरोधीके हृदयको परिवर्तित करनेका प्रयत्न करता है । विरोधी भी उसपर स्वच्छन्द बल प्रयोग करनेमे सकोच करता है । सघर्पकी उग्रता कम हो जाती है । परन्तु राजसत्ताके मूल-स्वरूपके सम्बन्धमे जो कहा गया है वह अपनी जगहपर यथार्थ है ।

यदि ऐसी व्यवस्था हो कि सभी नागरिकोके राजनीतिक अधिकार समान हो, एक वर्ग दूसरे वर्गका शोपण न करता हो, समाजमे जन्मना ऊँच-नीचका भेद न हो और शासनका स्वरूप लोकतन्त्रात्मक हो तो राज-सत्ता मनुष्य समाजके सस्थापन और सरक्षणका सुदृढ उपकरण बन सकती है । इसके साथ ही अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारका आधार भी समता और अहिसा होना चाहिए ।

अस्तु, वर्तमान समयमे जब कि शासक और शासित, अमीर और गरीब, का विभेद है, जब कि लोगोके स्वार्थ और 'हित' विभिन्न और परस्पर विरोधी है, न मज़हब, न सदाचार, न कानून, न राजसत्तामे मनुष्योको एक सूत्रमे ग्रथित करके समाजके रूपमे परिणत करनेकी क्षमता है । इसलिए इनमेसे किसीके भी द्वारा सौहार्द और शान्तिकी स्थापना नही हो सकती । यह चीजें जो देखने-सुननेमे ऐक्य और समताको बढाने-वाली है वस्तुत. आपसमे लडने, एक दूसरेकी बुद्धिको मोहमे डालने और

एक दूसरेको दबानेका साधन है। इनका ही उपयोग करके लोग अपनी सम्पत्ति और अधिकारको चिरस्थायी करना चाहते है, इसलिए यह शान्तिके स्थानमे विग्रहका द्वार है।

एक चीज और रह जाती है। ऐसा कहा जाता है कि चाहे और कुछ न हो पर एक ऐसी निधि है जिसपर सभी या प्राय सभी मनुष्योका स्वत्व है। वह निधि है हमारी सभ्यता। इसके कई स्रोत है। भारत, फारस, बैबिलोन-असीरिया, मिस्र, चीन, यूनान, रोम तथा वर्तमान यूरोपसे निकली हुई अनेक संस्कृति-धाराओने मिलकर इसे जन्म दिया है। अनेक भेद होते हुए भी एक सभ्य भारतीय एक सभ्य अंग्रेज या जापानीके साथ मिलने-जुलनेमे भाईचारेका अनुभव करता है। सदाचारके नियम, साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन ऐसी डोरियाँ है जो हृदयोको एक दूसरेके साथ बाँधे बिना नही रहती।

यह बात निराधार नही है। बौद्धिक जगत्मे ऐसे कई क्षेत्र है जहाँ विभिन्न प्रकृतिके, विभिन्न परिस्थितियोमे पले हुए व्यक्ति सौहार्दपूर्वक मिल सकते है। आजकल विज्ञानका विकास इस क्षेत्रको विस्तृत बनाता जा रहा है। पर जो बाते सदाचार, कानून राजके सम्बन्धमे कही गयी थी वह यहाँ भी स्मरण रखने योग्य है। हमारे जीवनका आधार हो रहा है अपना-अपना स्वार्थ। जबतक स्वार्थ नही टकराते तबतक हम मनुष्य है, नही तो पशु बन जाते है। एक ग्राहकके हाथ माल बेचनेके इच्छुक दूकानदारोंमे, एक नौकरीके इच्छुक उम्मीदवारोमे, एक उर्वर या खनिज-पूर्ण प्रदेशको हस्तगत करनेके इच्छुक राष्ट्रोमे, सभ्यता ढूँढे नही मिलती। ज्यो-ज्यो स्वार्थोका संघर्ष तीव्र होता जाता है त्यो-त्यो सभ्यताका ऊपरी रग उडता जाता है। एक समय था जब कि प्रतियोगिता इतनी तीव्र न थी। उन दिनो स्वार्थोका सङ्घर्ष इतना जबरदस्त नही था। पृथ्वी बडी थी क्योकि रेल-तारका अभाव था, जनसंख्या कम थी, दूसरोको दबाने और अपने सुख-साधनके लिए आज जैसे वैज्ञानिक उपायोका आविष्कार नही

हुआ था। पर आज बिना तीव्र, निरन्तर, निरकुश और निर्दय संघर्षके अपने स्वार्थकी सिद्धि नही हो सकती। आज स्वार्थ भी वैयक्तिक नही, संघटित होता है। जैसा कि एक लेखक कहता है—'महाजन तो आदर्श-वादी और दानी हो सकता है पर बक ऐसा नही हो सकता।' दानी और दयालु बंकका एक दिनमे दिवाला पिट जायगा। इसका परिणाम यह हो रहा है कि सभ्यताको दृष्टिसे मनुष्यका पतन हो रहा है। पहलेकी नकल मात्र होती है परन्तु आजके शिक्षित व्यक्तिके आचरणमे वह शील, सौजन्य और सचाई नही है जो पहले थी। हॉ, इस दृष्टिसे उसमे स्वाभा-विकता अधिक है कि वह भीतरकी एषणाओकी नग्नमूर्ति होता है। जो बुद्धि दूसरोकी बुद्धिसे दाव-पेच करते रहनेमे, दूसरोको बेवकूफ बनानेमे, दूसरोको दबाकर अपना कुछ लाभ कर लेनेमे, बराबर लगी रहेगी वह न तो सभ्यताका विकास कर सकती है न उसको बरत सकती है। कुछ दिनोतक पुरानी लकीर पिटती जायगी पर धीरे-धीरे मनुष्योके चित्त असस्कृत और असभ्य होते जा रहे है। चित्तकी ऐसी अवस्थामे सभ्यताका बाहरी उपकरण बहुत दिनोतक नही टिक सकता। सभ्यम्मन्य मनुष्य कहॉ-तक गिर सकता है इसका सबसे बडा उदाहरण उस बर्तावसे मिल सकता है जो जर्मनीमे यहूदियोके साथ किया गया।

शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा बुद्धिका विकास होता है। परन्तु शिक्षा स्वतन्त्र नही है। प्रत्येक सरकार शिक्षाका नियन्त्रण अपने हाथमे रखना चाहती है और उसको एक विशेष प्रकारका झुकाव देना चाहती है। इसका उद्देश्य यह होता है कि शिक्षा पानेवाला स्वतन्त्र विचार करनेकी योग्यता खो बैठे और प्रत्येक प्रश्नपर उसी दृक्कोणसे अक्षपात करे जो सरकार अर्थात् राजके प्रभावशाली समुदायको अभिमत है। जैसे टक-सालसे एक ही सॉचेके ढले सिक्के निकलते है वैसे ही शिक्षालयोसे एक ही प्रकारकी बुद्धियॉ निकलती है।

लेखक, कवि, चित्रकार, पत्रकार इस दोपको दूर कर सकते है।

मनुष्यके इस सामूहिक सास्कृतिक पतनको रोकनेका प्रयत्न कुछ वही कर सकते है पर वह भी ऐसा प्राय नही कर रहे है। सम्पत्ति और अधिकार-के स्वामीकी बडी प्रभुता है। वह सरस्वतीके इन उपासकोको पुरस्कार और दण्ड दे सकते है। अप्टन सिक्लेयरने 'मनी राइट्स'मे इसके उदाहरण दिये है। स्वतन्त्रचेता लेखको, कलाकारो और पत्रकारोको भूखो मारनेका प्रयत्न किया जा सकता है और किया जाता है। बहुत कम ऐसे लोग है जो इसका सामना करनेको तैयार है। रूस और चीन जैसे देशोमे तो विद्वान्की वाणी, ग्रन्थकारकी लेखनी और कलावन्तकी तूलिका पिजडेमे बन्द तोता बन गयी है। उसे जो पढाया जाता है वही उससे निकलता है। स्वतन्त्रताका सहारा लेना भूख, तिरस्कार, कारागार और मृत्युको निमन्त्रण देना है। धर्म्म, देशभक्ति और विज्ञानकी भाँति साहित्य और कलाको भी शहीदोकी आवश्यकता है पर शहीद मिलते नही। अधिकाश लोग या तो ऐसी कृतियाँ प्रकाशित करते है जो गुणग्राहको—अनाचारी, अत्याचारी, परपीडक समुदायो—मे बिक जायँ या वास्तविक जगत्से भागकर 'कलाके लिए कला' की निरर्थक आवाज उठाते हुए कल्पनाके कृत्रिम जगत्मे निरा-धार रहस्योका उद्घाटन और शब्दजालोकी रचना करनेमे अपनी प्रतिभाको खो देते है। जैसा कि राबर्ट ब्रिफाल्टने 'ब्रेकडाउन' मे कहा है "लालच या कायरताके कारण साहित्यने विवश होकर वर्तमान विचार-जगत्के उस क्षेत्रको छोड दिया है जिसमे जीवन और तात्कालिक महत्ता है और अप्रा-सङ्गिकता, चतुरता, झूठी प्रतिभा और ऐसी तुच्छ बातोका आश्रय लिया है जिनकी बाजारमे माँग है, परन्तु जो ससारके जीवनकी वास्तविकतासे पूर्णतया असम्बद्ध है। बादशाह नीरोकी भाँति, रोम जल रहा है और साहित्य बैठा-बैठा बाँसुरी बजा रहा है। कलाके सभी भेदोकी ठीक यही दशा है।"

आजकल चरित्रका जो ह्रास हो रहा है वह सभ्यताकी जडको और भी खोद रहा है। एक ओर वह लोग है जो उत्पीडनके शिकार है। इस

कक्षामे हिन्दू सम्प्रदायके अस्पृश्य, आधा पेट खाकर काम करनेवाले मज़दूर और दफ्तरके बाबू, शरीर बेचकर पेट पालनेवाली स्त्रियाँ, पृथ्वीकी परतन्त्र जातियाँ, यह सभी परिगणित है। इनके लिए सुख नही है। जो कुछ सुखका लवलेश इन्हे मिल जाता है, उसे यह कहीसे छीन-झपटकर पा जाते है। इनकी दशा अपने स्वामियो और शोषकोके सामने वैसी ही है जैसी कि छोटी मछलियोकी मगर या शार्कके सामने होती है। धूर्तता, चालबाजी, खुशामदसे इनका काम निकलता है। यह आशा करना कि इनमे सत्य, क्षमा, स्वाभिमान, नैतिक वीरता पायी जायगी, भूल है। इनके तो चरित्र गिराये हुए है।

दूसरी ओर इनके स्वामी है। उनका लक्ष्य है अपने स्वार्थोकी रक्षा करना और इसके लिए दूसरोसे काम लेना। वह अपने विशेषाधिकारो द्वारा वैभव प्राप्त करते और भोगते है। परन्तु विशेषाधिकारोका भोगना ही घातक है। जो बलप्रयोग या बन्दरघुडकीसे दूसरोको दबाता रहता है वह स्वयं बलवानोसे दब जाता है। हिन्दुओकी ऊँची जातिवाले भङ्गियो और डोमोको दूर-दूर करते है पर कल तक अंग्रेजोके पॉव चूमते थे। जो बर्ताव दूसरोके साथ किया जाता है वह धीरे-धीरे कुछ ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि अपनोके साथ भी वही स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। यूरोपकी जातियोने एशिया और अफ्रीकाके निवासियोको गुलाम बनाया। उनमे जहॉ-जहाँ स्वाधीनताकी आकाक्षा प्रकट हुई वहाँ-वहाँ उसे निर्म्मम होकर कुचला। पर अब वही शस्त्र घरवालोपर चल रहे है। यूरोपके देश-देशमे पार्लिमेण्ट और लोकतन्त्रके ढोगको पाँव तले रौदकर अधिनायक-तन्त्र स्थापित किया जा रहा है। कही इसका स्वरूप प्रत्यक्ष है, कही अभी प्रच्छन्न है पर धीरे-धीरे सर्वत्र यह रोग बढ रहा है। अधिनायकशाहीके शासनमे प्रजाके नागरिक अधिकार—वह अधिकार जिनको गोरी जातियोने आजतक अपना ही सहज अधिकार समझ रखा था और जिनको न देना या देकर छीन लेना गोरोने रङ्गीनोके साथ अपने बर्तावका अनिवार्य अग

मान लिया था—लुप्त होते जा रहे है। जो यूरोपवाले विदेशोंमे भेडियो जैसा आचरण करते थे, वही आज अपने घरोंमे भेड़ बन रहे है। उच्छृङ्खलताको अपना नित्यका व्यवहार बनानेवाले उसको अपने-अपने देशके दैनिक जीवनका अङ्ग बनानेमे लगे है। मानव-जगत् अर्थात् भेड़ और भेड़ियोका यह जमघट बहुत दिनो तक सभ्यताका स्वाग नही निभा सकता।

यह कहा गया था कि द्वितीय महायुद्ध पृथ्वीका अन्तिम युद्ध होगा। यह आशा ध्वस्त हो चुकी है। तीसरा महायुद्ध निकट आता प्रतीत होता है और यह निश्चित है कि वैसा भीषण और विनाशकारी युद्ध अब तक नही हुआ। उससे सभ्यता और संस्कृतिको जो धक्का लगेगा उससे सँभलना कठिन होगा। यदि किसी प्रकार यह युद्ध न रुका तो ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य हिंस्र पशुओकी भाँति रहने लगेगा। विज्ञानकी उन्नति अपने जन्म देनेवालोकी समाधिपर अट्टहास करेगी और मनुष्योके बीचसे समाजका नाम चिरकालके लिए उठ जायगा।

तीसरा अध्याय

सनातन प्रश्न

पिछले दोनो अध्यायोमे मैंने जो कुछ लिखा है उसमे कोई नयी बात नही है । उसकी विशेषता यही है कि वह आजकलके जगत्का सच्चा चित्र है इसीलिए प्रत्येक विचारशील मनुष्य उससे सहमत होगा । धर्म्म, मजहब, कानून, राज, यह सब बडे नाम हैं । इनके लिए हमारे हृदयोमे बड़ा आदर है । इसलिए यह माननेमे चित्तको ठेस लगती है कि यह सब सस्थाएँ कुछ समुदायोके, जो हमारे आदरके पात्र नही हो सकते, स्वार्थोकी साधक है । बार-बार दुहराना बुरा होता है, पर यह बात अच्छी तरह हृदयपर अकित कर लेनेकी है कि इस समय विघटन ही विघटन देख पडता है और जो कुछ थोडा-बहुत सम-अजन है भी वह मनुष्योके जगत्को हिस्र और स्वार्थी पशुओकी वनस्थली बननेसे रोकनेमे असमर्थ है ।

कुछ लोग तो इतना कहकर ही अपना परितोष कर लेगे कि यह कलिकाल है, इसमे ऐसा होना स्वाभाविक ही है । परन्तु ऐसा मानकर बैठ रहना तो तामस अकर्मण्यता है । जिन लोगोकी बुद्धि सात्त्विक है, उनके चित्तमे हठात् एक प्रश्न उठता है । देशकालपात्रके भेदसे प्रश्नके रूपमे भेद हो सकता है, उत्तरमे भी नि सन्देह भेद होता है, परन्तु उसका मूल रूप एक ही है । यह वही प्रश्न है जिसे मैत्रेयीने याज्ञवल्क्यसे किया था, जिसका उत्तर पानेके लिए शङ्कराचार्य संन्यासी हुए, जो कुमार सिद्धार्थके चित्तमे उठा था । वह प्रश्न आज भी प्रत्येक विचारशील मनुष्यको क्षुब्ध करता है । आजकल शब्दोमे उसका स्वरूप यह हो सकता

है · "संसारमे इतना दु:ख क्यो है ? खाद्य पदार्थोकी अपार राशि प्रति वर्ष उत्पन्न होती है, मिलोसे वस्त्रोका पहाड निकल रहा है, लाखो वर्गकोस बसने योग्य भूमि पडी हुई है, एक देशमे उत्पन्न वस्तु सुगमतासे दूसरे देशोमे पहुँच सकती है, घातक रोगोपर चिकित्साशास्त्र विजय पाता जा रहा है; फिर भी इतने नगे, भूखे, रोगी, निराश्रय क्यो है ? ऐसी अन्धी प्रतियोगिता किस लिए हो रही है ? सुख और शान्तिके इतने साधनोके होते हुए इतनी बेचैनी, इतनी अशान्ति क्यो है ? सुखके साधन थोडेसे लोगोको ही क्यो लभ्य है ? जिस सम्पत्तिकी वृद्धिमे इतने लोगोके हाथ लगते है उसका उपभोग सब क्यो नही कर सकते ? राष्ट्रोकी स्वतन्त्रताका क्यो अपहरण किया जाता है ? युद्ध क्यो होते है ? मनुष्य जल, वायु और विद्युत्को अपने वशमे कर सकता है, अरबो कोस दूरकी नीहारिकाओको दृष्टिगत कर सकता है और अगोचर परमाणुओकी गतिविधिकी गणना कर सकता है पर उसकी बुद्धि अपने जीवनको सघटित क्यो नही कर सकती ?"

ब्यक्ति हो या समूह, यदि उसके कलेवरमे विकार है तो सबसे पहिली आवश्यकता इस बातकी है कि वह विकारके अस्तित्वको स्वीकार करे, अपनेको रोगी समझे। इसके बाद रोगका निदान, कारणोकी खोज, की जाती है। निदानके पश्चात् उपचार, रोगके कारणोको दूर करनेका उपाय होता है। यदि निदान और उपचार ठीक है तो व्याधिका उपशम होना अवश्यम्भावी है।

विज्ञानसे प्राप्त शक्तिके मदमे चूर मनुष्य भला अपने जीवनको कब विकृत माननेवाला था, परन्तु अब स्वय विज्ञानने उसकी आँखे खोल दी है। वह अपनी प्रगतिसे सहम गया है। जिन उपकरणोकी रचना बल और वैभव बढानेके लिए की गयी थी अब गलेका साँप बन गये है। बहुत-से गम्भीर विचारकोका ध्यान इस ओर गया है। वह सोचने लगे है कि मानव जीवनमे कोई आमूल परिवर्तन होना चाहिए, अन्यथा सुग्रथित समाज

बनना तो दूर रहा मनुष्य सभ्यतासे पीछे हटकर फिर बर्बर दशामे जा गिरेगा ।

हमने देखा है कि जो अशान्ति मानव-जीवनको नष्ट कर रही है उसकी तहमे स्वार्थ है । प्राचीन कालमे भी दु खका मूल तृष्णा, तन्हा, बतलायी जाती थी । पर इस स्वार्थ या तृष्णाका विकास कैसे हुआ है । इस विकास-को कैसे रोका जा सकता है ? मनुष्यको सुखी कैसे बनाया जा सकता है ? किस प्रकार मनुष्यको संघटित करके 'समाज' के रूपमे लाया जा सकता है ?

चौथा अध्याय

कुछ उत्तर

जो प्रश्न पिछले अध्यायमे सामने रखा गया है उसके, जैसा कि हम पहिले भी कह चुके है, कई प्रकारके उत्तर है । जिस समस्याने इस प्रश्नको जन्म दिया है वह सनातन है, इसलिए प्रश्न भी सनातन है और प्राचीन कालसे ही बुद्धिमानोने इसके उत्तर भी दिये है ।

पहिला उत्तर तो यह हो सकता है कि जगत्मे जो कुछ हो रहा है वह कुछ दैवी शक्तियोकी लीला है, जिसमे हस्तक्षेप करनेकी सामर्थ्य मनुष्यमे नही है । ईश्वर या तत्सम कुछ देवगणके हाथमे जगत्का नियमन और नियन्त्रण है । उनके बनाये हुए कुछ नियम है । उनका अनुसरण करनेसे सुख और उल्लंघन करनेसे दु ख होता है । बहुधा ऐसा भी देखा जाता है कि देवाज्ञा पालन करनेवाले दु ख और उल्लंघन करनेवाले सुखका अनुभव करते है । इसके लिए यह उत्तर है कि सुख-दु खका हिसाब मृत्युके पीछे स्वर्ग-नरकमे पूरा होता है । इसपर एक आक्षेप यह हो सकता है कि दैवी नियमो-को पूरा-पूरा जानना कठिन है । यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि यह नियम किसी धर्म्मग्रन्थमे लिखे है तो पृथ्वीके ऐसे बहुतसे प्रदेश हैं जिनके पास तक इन ग्रन्थोकी आवाज नही पहुँची है । जहाँ पहुँची है वहाँ भी सब लोगोकी बुद्धि ऐसी नही है कि सब बाते समझ सके । अबोध बालक तो कही कुछ भी समझ नही सकते । फिर भी कितने ही ऐसे व्यक्ति है जो जन्मना दु खी है । दैवी नियमोके अनुसार तो यह होना चाहिए था कि सब मनुष्योका एक ही परिस्थितिमे जन्म होता, सबको एक ही प्रकारसे उनका ज्ञान होता और प्रत्येक व्यक्ति यथाकृत्य पुरस्कार या दण्ड पाता । इसके

उत्तरमे यह कहा जा सकता है कि कर्मका प्रवाह अनादि है। मनुष्य जो कुछ एक जन्ममे करता है उसका फल जन्मान्तरमे भोगता है। अतः यदि कोई इस जन्ममे जन्मना दु:खी या अल्पबुद्धि है तो यह उसके पूर्वजन्मोके कर्म्मोका फल है। इसके लिए उसको सन्तोषसे काम लेना चाहिए और इस जन्ममे ऐसे कर्म्म करने चाहिए कि भावी शरीरमे दु ख न झेलना पडे।

उपर्युक्त उत्तरमे कहाँ तक सत्यका अंश है यह इन प्रश्नान्तरोके उत्तर-पर निर्भर करता है—ईश्वर है या नही ? देवगण है या नही ? इस दैवी विधानके जाननेके साधन है या नही ? पुनर्जन्म होता है या नही ? यहाँपर मै इन विवादास्पद विषयोकी विवेचना नही करूँगा क्योकि ईश्वरादि हो या न हो, मूल प्रश्न तो यह है कि मनुष्य अपनी वर्तमान परिस्थितिको बदल सकता है या नही ?

यदि ऐसा माना जाय कि मनुष्य अपनी परिस्थितिका दास है, वह दैवी शक्तियोका क्रीडाकन्दुक है तो फिर उन्नतिका मार्ग ही बन्द हो जाय। रोगीके लिए औषधोपचार करना, अशिक्षितको पढाना, अपनी आयवृद्धिके लिए व्यवसाय करना यह सब प्रयत्न निरर्थक हो जायँ। परन्तु पागलको छोडकर कोई भी मनुष्य इन प्रयत्नोसे विमुख नही होता। इसका तात्पर्य यह है कि सब लोगोको ऐसा विश्वास है कि अपनी अवस्था सुधारी जा सकती है। इस विश्वासकी दार्शनिक व्याख्या चाहे जो कर ली जाय परन्तु इसीके अनुसार काम होता है। साधु-महात्मा, धर्मप्रवर्तक, जो उपदेश देते है उसके भीतर भी यह बात मान ली गयी है कि जिसको उपदेश दिया जाता है वह यदि चाहे तो अपने जीवनके प्रवाहको पलट सकता है। परि-स्थिति और प्रयत्नके सघर्षमे, सम्भव है, प्रयत्नको पूर्ण सफलता न मिले पर कुछ तो मिलेगी ही और पूर्ण सफलताकी सम्भावना है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने प्रारब्ध या किसी दैवी विधानका पूर्णतया दास नही है। उसकी परिस्थिति चाहे जैसे उत्पन्न हुई हो उसको उसके बदलनेकी सामर्थ्य है। वह दास नही वरन् स्वतन्त्र व्यक्ति है।

यह बात भारतीय दर्शनके सर्वथा अनुकूल है। यथार्थतः इसका प्रत्यक्ष-से भी विरोध नही है। यह ठीक है कि प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करके भी अपनी अवस्थाको सुधारनेमे सफल नही हो पाता परन्तु प्रयास निष्फल नही होता। यदि स्वयं उसका कल्याण नही होता तो भविष्यके लिए उसके जैसे दूसरे लोगोका भला हो जाता है। जो लोग अन्याय और उत्पीडनके विरुद्ध सिर उठाते है वह स्वयं भले ही कुचल दिये जायँ परन्तु शहीदोके तपके फलस्वरूप उत्पीडन और अन्यायका किला गिरकर ही रहता है।

यह बडे महत्त्वकी बात है। इससे मनुष्योकी सुदशा-दुर्दशाकी कुञ्जी उनके ही हाथोमे आ जाती है। जो बात एक व्यक्तिके लिए सत्य है वह समूहके लिए भी सत्य है। यदि एक व्यक्ति अपनी परिस्थितिको बदलनेका प्रयत्न कर सकता है तो समुदाय भी कर सकता है और समुदायके प्रयत्नमे सफलताकी भी अधिक सम्भावना है। 'सघे शक्ति.' यह बडा ही सच्चा सिद्धान्त है। संघकी कार्य्यशक्ति अपने अवयवोकी शक्तियोका धनफल नही वरन् गुणनफल होती है।

प्राचीन आर्य्यदर्शनने तो इस बातको बराबर ही माना है। प्रारब्ध अर्थात् पूर्वसञ्चित कर्म्मोके कुछ परिपक्व भागके सस्कारोकी प्रधानता, अर्थात् उनके द्वारा मनुष्यकी बौद्धिक और शारीरिक शक्तियोके बँधे होनेको, स्वीकार करते हुए भी उसने मनुष्यको स्वतन्त्र माना है। दूसरे विचारकोने ऐसा स्पष्ट कहा हो या न कहा हो पर यदि वह मनुष्यको स्वतन्त्र न मानेगे तो फिर उसको पुरस्कार या दण्ड दिया जाना दैवी नियमोका आततायीपन होगा। 'स्वतन्त्र'का अर्थ केवल इच्छा करनेकी स्वाधीनता नही वरन् प्रयत्न करनेकी भी स्वाधीनता है और प्रयत्नका अर्थ है सफलताकी सम्भावना।

यह मानते हुए देखना यह है कि इसके आधारपर लोगोको उपदेश क्या दिया गया। दु खका अस्तित्व तो स्वीकार किया ही गया है। उसका स्वरूप दिखलाकर ही वैराग्यका उपदेश दिया जाता है। दुःखकी निवृत्तिके लिए कुछ तो किसी-न-किसी प्रकारकी उपासनाका आदेश है। उसपर हम

यहाँ विचार नही कर सकते । उपासकोका ऐसा विश्वास है कि उपासनासे आगन्तुक दु.ख रोका और आगत दु ख दूर या कम किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त जो कुछ बतलाया जाता है उसका निचोड है सन्तोष और आत्मसंयम ।

सन्तोष न तो आनेवाले दु खको दूर कर सकता है न आये हुए दु खको; उसका प्रभाव वही होता है जो बेहोशीकी दवाका, अफीमका, होता है । दु.खकी चोट कम लगती है या लगती ही नही । यदि कोई अपनेको यह समझा सके कि मुझे दु ख सहना ही है, यह दु ख टल नही सकता तो फिर वह अपनेको यह भी समझायगा कि रोना व्यर्थ है, इसे शान्तिपूर्वक सह लूँ । अपनेको ऐसा समझाना उसका कर्तव्य हो जाता है, क्योंकि इससे दु खकी कटुता कुछ कम हो जाती है । यदि नश्तर लगकर शरीरका कोई अङ्ग कटना ही है तो बेहोशीकी दवा सूँघकर पीडा तो कुछ कम कर लेनी ही चाहिए । इसी प्रकार यदि वह दु ख जिनसे इस समय मानव-जगत् तप्त हो रहा है, अनिवार्य्य हो तो सन्तोष ठीक ही है । 'यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोष ' की नीतिके अनुसार यदि सब प्रकारसे प्रयत्न करके भी सफलता न प्राप्त हो तो रोने-कलपनेके बदले गम्भीरतासे दु खको सह लेना चाहिए । यह भी सन्तोषका ही स्वरूप है और उत्तम स्वरूप है ।

परन्तु सन्तोषका जो रूप लोगोके सामने आता है उसका तो यह तात्पर्य है कि रोग, दारिद्र्य, विषमता, अस्पृश्यता, दासता अनिवार्य्य है । इनसे छुटकारा नही मिल सकता, अत इनके सामने सिर झुकाना ही श्रेयस्कर है ।

जिस कालमे विज्ञानका शैशव था उस समय यह भाव स्यात् ठीक रहा हो । मनुष्य प्रकृतिकी शक्तियोके सामने मिट्टीका बेबस ढेर था । पर आज यह बात नही है । आज तो वह प्रकृतिके बहुत-से रहस्योको जान गया है और इस ज्ञानकी बदौलत प्रकृतिपर हुकूमत करता है अर्थात् प्रकृति-से अपना काम निकालता है । ऐसी अवस्थामे दैन्य उसको शोभा नही

देता। बडे-बडे रोगोको अपने वशमे लाकर विज्ञान आज लोगोकी जीवनाशा बढा रहा है। अभी ऋतुओपर नियन्त्रण नही प्राप्त हुआ है परन्तु यदि किसी कारणसे सारी पृथ्वीपर एक साथ ही ऋतु-प्रकोप न हो जाय तो अनावृष्टि आदि ईतियोसे पहिले जैसा बुरा प्रभाव अब नही पड सकता। अब रही दासता, अस्पृश्यता, दरिद्रताकी बात। यह बातें दैवी क्यो मानी जायँ? मनुष्य काना, लँगडा, अन्धा, बहरा पैदा होता है पर अस्पृश्य, दास या दरिद्र नही पैदा होता। हाँ, दास, अस्पृश्य या दरिद्र बने हुओके घरमे जन्म लेने मात्रसे भले ही वह स्वयं ऐसा माना जाने लगे। पर आजकल तो जन्मान्ध, जन्मबधिर तकके सहज दोष दूर या कम हो सकते है, फिर मनुष्यके बनाये यह कृत्रिम दोप क्यो दूर नही हो सकते? देखते-देखते कई दास जातियाँ स्वतन्त्र हो गयी। पिछले युद्धके बाद कई स्वतन्त्र राष्ट्रोकी सृष्टि हुई। मुसलमान या ईसाई बन जानेसे तो अस्पृश्यता दूर हो ही जाती थी, आजकल तो बिना सम्प्रदाय बदले भी यह दोष दूर होता जा रहा है। थोडे-से आन्दोलनकी कमी थी। दरिद्रता भी किसी कुल या जातिके माथे-पर सदाके लिए नही लिखी है। यह कोई दावेके साथ नही कह सकता कि अमुक रोगी अवश्य अच्छा हो जायगा, अमुक दास जाति अवश्य स्वतन्त्र हो जायगी, अमुक निर्धन अवश्य धनी हो जायगा पर यह कहा जा सकता है कि प्रयत्न करनेसे रोगी स्वस्थ, दास स्वाधीन और निर्धन सम्पन्न हो जाते है। परन्तु प्रयत्न तभी सम्भव है जब रोगी, दास और निर्धन अपनी दशाको सदाके लिए दैवनिर्मित न समझ बैठे। उनको यह समझानेकी आवश्यकता है कि मनुष्योका बल-प्रयोग, मनुष्योके बनाये कानून, बातकी बातमे लाखो-करोडोको सम्पन्न और साधिकार, लाखो-करोडोको विपन्न और निरधिकार बना देते है। एक जमाना था जब नरेशोके हाथमे सारी शक्ति थी। उनके विरुद्ध कोई चूँ नही कर सकता था। उनके हाथो कोई लाख सताया जाय पर उसके लिए सन्तोष ही उपाय बतलाया जाता था। आज मनुष्योके ही प्रयत्नने नरेशोका या तो

अस्तित्व ही मिटा दिया है या उनको परकैच कर दिया है। फ्रान्सीसी क्रान्ति तथा रूसी क्रान्तिने पुराने शक्तिधरोको मिट्टीमे मिलाकर नये समुदायोको उनका उत्तराधिकारी बनाया। इसलिए जो दलित, प्रपीडित, विपन्न, अधिकार-वञ्चित है उसे सन्तोषका पाठ पढाना भूल है। प्रयत्न करनेपर भी यदि कार्य्य सिद्धि न हो तो रोना-कल्पना आत्मगौरव और बुद्धिमत्ताके विरुद्ध है। असफलताको धैर्यसे वहन करना जहाँतक सन्तोष है वहाँतक तो वह उपादेय गुण है, अन्यथा अपनी परिस्थितिसे असन्तुष्ट रहना, उसको बदलनेका प्रयत्न करना, ही श्रेयस्कर है। नीतिकी यह शिक्षा सर्वथा ठीक है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।

जो उद्योगी पुरुष-सिह है उसे ही श्री प्राप्त होती है, दैव देगा ऐसा तो कायर कहा करते है।

सन्तोषका उपदेश जो लोग देते है उनमे कुछ तो ऐसे है जो तोतेकी भाँति पुरानी पोथियोकी उक्तियाँ दुहरा दिया करते है। उनका तो कोई महत्त्व नही है, वह तो बेचारे बे-समझे-बूझे बोलते है पर उनके अतिरिक्त बहुत-से उपदेशक ऐसे है जिनका आचरण शुद्ध दम्भसे प्रेरित है। वह धनिकोको सन्तोषकी शिक्षा नही देते, शक्तिशालियोको सन्तोषका गुण नही सुनाते, अपना सारा उपदेश धन और अधिकारसे वञ्चितोके लिए रखते है। धनी और अधिकारी मृत्यु जैसी दो-एक विपत्तियोको छोडकर दूसरे अवसरपर हाथपर हाथ रखकर बैठनेको तैयार भी नही होता। परन्तु वह अपने पाससे पैसे खर्च करके मन्दिर-मस्जिदमे या अपने घरपर कथा-कीर्तन कराता है और 'जनता'को उपदेशका पाठ पढवाता है। सन्तोषी व्यक्ति अन्याय और उत्पीडनको चुपचाप सहता है पर सिर नही उठाता। उसको यह भरोसा है कि मै अपने कुकर्मोका फल भोग रहा हूँ, मरनेके बाद स्वर्ग या अगले किसी जन्ममे मुझे सुख मिलकर ही रहेगा। फिर यदि

अन्यायीको दण्ड देना ही है तो जिस भगवान्ने गजकी गुहार लगकर ग्राह-को मारा था वह आप ही मेरी सहायता करेगा, 'राखनहार जो है भुजचार तो का होइहै भुज द्वैके बिगाडे।' किसीको यह ख्याल न होना चाहिए कि मै सन्तोषकी निन्दा कर रहा हूँ। मेरी शिकायत उस अकर्मण्यता और कायरतासे है जो सन्तोषके नामसे पुकारी जाती है। किसीने कहा है असन्तुष्टा द्विजा नष्टा—असन्तोषी ब्राह्मण नष्ट हो जाता है। यह ठीक है। जो विद्याव्यसनी या धर्मोपदेष्टा है उसे धन-सम्पत्तिके पीछे नही दौडना चाहिए। दूसरे लोगोको भी यह ध्यानमे रखना चाहिए कि परस्वत्वका अपहरण करके अपनी श्री-वृद्धि करना अच्छा नही है। अभ्युदयके लिए चरित्रको गिरने न देना सन्तोषका लक्षण है।

दूसरा उपदेश आत्मसयमका है। जिस मनुष्यको संसाराग्नि तप्त कर रही है, जो जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना ही जीवनका लक्ष्य समझता है, उसके लिए वैराग्य श्रेयस्कर हो सकता है पर यहाँ हम उसके विषयमे विचार नही कर रहे है। रहा प्रश्न आत्मसंयमका। आत्मसंयम मनुष्यका भूषण है। इन्द्रियोका दमन और वासनाओका शमन करना प्रत्येक समझ-दार मनुष्यका, जो अपने मनुष्यत्वका अनुभव करना चाहता है, कर्तव्य है। विषयेन्द्रिय-सन्निकर्षमे जो सुखकी प्रतीति होती है वह अस्थिर है और उस सुखका सजातीय है जो पशु-पक्षियोको भी प्राप्त है। इसके विपरीत दर्शन, विज्ञान, साहित्य तथा कलाके द्वारा मनुष्य जिस आनन्दका अनुभव करता है वह इतर प्राणियोको अलभ्य है। परन्तु इस आनन्दकी प्राप्ति उसी सीमातक हो सकती है जिस सीमातक कि मनुष्य अपनेको पाशव जीवनके ऊपर उठा सकता है अर्थात् अपने चित्तको विषयोसे पराङ्मुख करके अन्त-र्जगत्की ओर प्रेरित कर सकता है। दूसरे शब्दोमे इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियोपर वशी होना मनुष्योचित सुखोकी प्राप्तिके लिए आवश्यक है। इन्द्रियोके व्यापारका अशत निरोध—पूर्ण निरोधसे तो जगत्के व्यापारका ही अभाव हो जायगा—बलात् भी कराया जा सकता है। जेलका कैदी

बहुत-से विषयोके उपभोगसे दूर रहता है परन्तु इससे वास्तविक लाभ नही होता । शरीर बेकार कर दिया जा सकता है पर चित्त घूमकर वही पहुँच जायगा । जरूरत इस बातकी है कि चित्त वशमे किया जाय । इसीका नाम आत्मसंयम है । चित्तको शून्य रखनेके विफल प्रयासकी अपेक्षा उसको अंकुशके साथ विषयमे लगानेसे सयममे सहायता मिलती है ।

संयमके लिए सम्प्रदायोने बडी-बडी युक्तियाँ बतायी है, जिनमे न्यूनाधिक उपयुक्तता भी होगी ही पर जो लोग किसी भी विषय विशेपमे अभिरुचि रखते है, वह प्राय स्वयं ही आत्मसयमका अभ्यास करते है । अतः यदि लोगोको अधिक सस्कृत, कार्य्यकुशल या परिष्कृतबुद्धि बनानेके उद्देश्यसे आत्मसंयमका उपदेश दिया जाय तो यह सर्वथा उचित होगा । गणित, राजनीति, साहित्य, कला, दर्शन, शिल्प, किसी भी मानसिक या शारीरिक व्यवसायमे सफलता प्राप्त करनेके लिए आत्मसयमकी आवश्यकता है । घोर नास्तिक और अनीश्वरवादी भी अपने-अपने क्षेत्रमे सिद्धिके लिए आत्मसंयमका अभ्यास करते है ।

परन्तु जो लोग आत्मसयमकी शिक्षा देते है उनमेसे कुछको छोडकर शेप उतने ही कपटी है जितने सन्तोषका उपदेश देनेवाले । वह गरीबो और दुर्बलोको ही आत्मसयम सिखलाते है, धनिको और बलवानोको नही । विपयपरता छोटेके लिए दूषण है, बडेके लिए भूपण । इस प्रकारका आत्मसयम वास्तविक आत्मसयमकी भाँति हितकर नही होता वरन् उलटे दम्भ फैलाता है ।

जहाँ विपन्नोको सन्तोप और आत्मसयमका उपदेश दिया जाता है वहाँ उनके स्वामियोको दानकी शिक्षा दी जाती है । उनसे यह कहा जाता है कि जो नगे, भूखे, निराश्रय, रोगी हो उनकी यथाशक्य सहायता करो ।

प्रत्युपकारका विचार हृदयसे निकालकर केवल कर्तव्य-बुद्धिसे जो दान दिया जाता है वही उत्कृष्ट दान है । जो आपन्न है, दुर्बल है, उसको सहायता करना मनुष्यकी शोभा और उसका एक स्वाभाविक गुण है ।

स्वयं कष्ट उठाकर भी लोग दूसरेकी सहायता करते है। इससे उसका काम तो निकलता ही है जिसकी सहायता की जाती है, सहायता देनेवालोको भी लाभ पहुँचता है। उसके चरित्रका विकास होता है। कमसे-कम थोडी देरके लिए वह अहम् और ममकी संकुचित परिधिके बाहर निकलकर दूसरेके सुख-दु खका अनुभव करता है, दूसरेके साथ तन्मयता प्राप्त करता है। अत जहाँतक इस शुद्ध सात्त्विक भावसे दान दिया जाता है वह अच्छी चीज है।

परन्तु व्यक्तियोमे ऐसा भाव भले ही हो, आजकल और आजकल ही नही प्राचीन कालमे भी दानकी तहमे एक और बात थी। भेद इतना ही है कि आज वह बात अधिक स्पष्ट हो गयी है। धनिक समुदाय जानता है कि निर्धनोकी सख्या अधिक है। उसे यह भी पता है कि निर्धन असतुष्ट है। वह यह भी समझता है कि सन्तोष और आत्मसयमकी लाख शिक्षा दी जाय, सहनकी भी एक सीमा होती है। अत एक दिन बाँध टूट जायगा और निर्धन आक्रमण कर बैठेगे। उस समय राजकी शक्ति लगाकर चाहे उन्हे एक बार दबा भी दिया जाय पर जीत अन्तमे उनकी ही होगी, क्योकि उनकी संख्या बहुत अधिक है। यह अवस्था धनिक समुदाय लाने नही देना चाहता। इसलिए वह समय-समयपर निर्धनोके सामने टुकडे फेकता रहता है। इन टुकडोकी बदौलत उनका असन्तोष उबलने नही पाता। इस टुकडा फेकनेका नाम दान है। बडे-बडे लक्ष्मीपुत्र जान-बूझकर ऐसा दान करते है, कम समझवाले उनका अनुकरण करते है और अपनेको यह प्रतारणा दे लेते है कि हम सचमुच उदार भावसे प्रेरित होकर दान दे रहे है, परन्तु वस्तुत दान अमीरोके लिए एक प्रकारका बीमा है, जो गरीबोके असन्तोषको सक्रिय विद्रोहका रूप धारण करनेसे रोकता है। यह दान व्यक्तिके उदार हृदयका परिचायक नही, सम्पन्न समुदायकी स्वरक्षार्थ-निर्मित सस्था हो जाता है। दान 'दातव्यमिति' शास्त्रीय आदेशके अनुसार नही दिया जाता प्रत्युत

उसको अपनी नाम-बडाईका साधन तो बनाया ही जाता है, यह हिसाब लगा लिया जाता है कि इससे आगे चलकर कितना काम निकलेगा। जो सचमुच उदारहृदय है उनकी निन्दा करना मेरा उद्देश्य नही है, परन्तु यह बात खूब समझ लेनी चाहिए कि दानका परिणाम और एक प्रधान लक्ष्य दरिद्रोके उचित असन्तोषको दबाना रहा है। जो टुकडे उनके सामने फेके जाते है उनसे दाताओको कोई कष्ट नही होता, न उनके चरित्रका विकास होता है। वह तो ऊपरकी बचतमेसे उसी प्रकार दिया जाता है जिस प्रकार बीमा कम्पनीकी किस्त। जिस तरह व्यापारका सघटन है, उसी प्रकार दान भी सघटित है। कौन दे, कितना दे, किसके कहनेपर दे इन सबके नियम है।

इसीसे मिलती-जुलती वह सलाह है जो महात्मा गाँधीने धनिकोको दी थी। उनमे कहा गया था कि बहुतोकी कौडी-कौडी जुडकर यह तुम्हारी धनराशि एकत्र हुई है। इसलिए तुम अपनेको इसका एकमात्र स्वामी मत समझो। तुम्हारा इसके साथ वही सम्बन्ध है जो किसी नाबालिगकी सम्पत्तिके साथ उसके अभिभावकका होता है। तुम रखवाली करनेके लिए उचित पारिश्रमिक ले सकते हो पर यह थाती तो उसीके हितके लिए खर्च होनी चाहिए जिसकी यह है।

इसके सम्बन्धमे कई बाते विचारणीय है। पहली आपत्ति तो यह है कि श्रुतिमधुर होनेपर भी इसपर चलनेको कोई तैयार नही है। मुँहसे हाँ-हाँ कह देना दूसरी बात है पर कोई धनिक यह माननेको प्रस्तुत नही है कि जो सम्पत्ति उसके कब्जेमे है वह उसकी नही प्रत्युत लाखो निर्धनोकी धरोहर है। व्यासजीने इसीमे घबराकर कहा था—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्म्मादर्थश्च कामश्च, स धर्म्मः किं न सेव्यते॥

मै हाथ उठाकर चिल्लाता हूँ कि धर्म्मसे ही अर्थ और कामकी सिद्धि होती है फिर धर्म्मका सेवन क्यो नही किया जाता, पर कोई मेरी बात नही

सुनता। इस बातकी कोई आशा नही है कि आजके धनिक पहिलेके धनिकोसे अधिक धार्म्मिक है। एक और बात है। यदि कोई एकाध व्यक्ति इस सीखपर चलनेवाला निकल भी आया तो भी अधिक संख्या तो उन्ही लोगोकी होगी जो धन और अधिकारको अपनी सम्पत्ति समझेगे। इन लोगोको दण्ड देनेकी तो कोई व्यवस्था है ही नही, यह बे-रोक-टोक मुनाफा करेगे और अपने अधिकारकी वृद्धि करते जायँगे। इनके सामने वह बेचारे जो सम्पत्तिको जनताकी धरोहर समझेगे, घाटेमे रहेगे। अतः चार दिन भी यह व्यवहार टिक न सकेगा।

दूसरे वह अभिभावकवाला दृष्टान्त यहाँ घटता भी नही। अभिभावक उसी समयतक काम करता है जबतक कि सम्पत्तिका स्वामी अपनी जायदादको सँभाल नही सकता पर यहाॅ तो धनिक-समुदाय ही धनको खर्च करेगा, जिन लोगोकी थाती वह धन है उनके हाथमे यह कभी भी नही आनेवाला है। वह चाहे कितना भी उदार क्यो न हो पर अपनी बुद्धिसे ही काम लेगा। ऐसी दशामे मीठे-मीठे शब्दोके होते हुए भी वस्तुत सारा व्यवहार वैसा ही होगा जैसा कि सम्पत्तिको अपनी माननेवालोका होता है।

यदि थोडी देरके लिए मान लिया जाय कि धनिक लोग अधिक उदारता बरतने लगेगे तब भी क्या होगा? अधिकसे अधिक इतना हो सकता है कि निर्धनोको रोटीके दो टुकडे मिल जायँ और उनके साथ कुछ अधिक सहानुभूति दिखलायी जाय। पर वह रहेगे दरिद्र और अधिकार-वञ्चित ही। महात्मा गाॅधीने स्वयं कहा था कि जिस स्वराज्यकी वह कल्पना करते है उसमे राजा और रङ्क दोनोके न्याय्य स्वत्वोकी रक्षा होगी अर्थात् उसमे राजा और रंक यानो अधिकारयुक्त और अधिकार-विहीन, सम्पन्न और भिखमगे, दोनो ही होगे।

साधारणत. धर्म्माचार्योने जो उपाय बतलाये है वह यही तक आते है। दीन-दुखियोकी दशाका कुछ सुधार हो जायगा। दरिद्र यदि आत्मसयमसे

काम लेगे तो उनकी आवश्यकताएं कम हो जायँगी। बहुत थोडेमे उनका काम चल जायगा। उधर उनको सन्तोषी बननेका भी उपदेश दिया जाता है। इससे यह होगा कि वह यदृच्छालाभतुष्ट रहेगे। जो कुछ थोड़ा-बहुत मिल जायगा उसीपर सन्तुष्ट हो जायँगे। इसका तात्पर्य यह है कि विषमता रहेगी परन्तु विषमताके शिकारोको ऐसी शिक्षा दी जायगी कि उन्हे अपनी कुदशाको बदलनेकी इच्छा ही न हो वरन् वह अपनी अवस्थाको कष्टमय होते हुए भी अपने लिए श्रेयस्कर समझे। उधर धनीमानी लोग भी दानी हो अर्थात् उदारतासे अपार धनराशिमेसे कभी-कभी गरीबोकी ओर भी टुकडे फेक दिया करे। इसमे उनको तो कोई विशेष कष्ट न होगा परन्तु दरिद्रोकी तात्कालिक मुसीबत कुछ कम हो जायगी और इन सौभाग्यशाली व्यक्तियोपर क्रोध करनेके स्थानमे वह कृतज्ञ होगे। इसी उपायसे हिन्दुओ-की ऊँची जातियोने करोडो मनुष्योको अस्पृश्य बना रखा था। अभी चार दिनकी बात है कि भारतवासी अपनी दासतापर मस्त होकर माँ-बाप सरकारके फेके हुए टुकडोके लिए सौ-सौ जानसे न्योछावर होते थे।

अतः यह स्पष्ट है कि यह उत्तर हमारे प्रश्नका समीचीन उत्तर नही है। प्राय. सभी सम्प्रदायो और धर्म्माचार्योने किसी-न-किसी रूपमे इसीका प्रतिपादन किया है। पर यह अपर्याप्त है, इस उपायसे आध्यात्मिक उन्नति भले ही होती हो, वैषम्यजनित कटुता कुछ घट जाती हो, संघर्षकी सम्भावना कम हो, पर मूल परिस्थिति जिसको देखकर हमारे प्रश्न उठे थे ज्यों-की-त्यो रहती है। धनो और निर्धनका भेद बना रहता है, धन और अधिकारके लिए प्रतियोगिता बनी रहती है। मीठे-मीठे शब्द बीचमे आ जाते है पर शोषक और शोषित, पीड़क और पीडितका अस्तित्व बना रहता है। यह मानना भूल है कि बिना परशोषणके विपुल धन इकट्ठा किया जा सकता है। जैसा कि महाभारतमे कहा है—

नाच्छित्वा परमर्म्माणि, नाकृत्वा कर्म्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव, प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

बिना दूसरेके मर्म्मस्थानका छेदन किये, बिना दुष्कर कर्म्म किये, बिना मछुआहेकी तरह निर्दय होकर हिंसा किये, महती श्री प्राप्त हो ही नही सकती ।

परन्तु हमने तो यह समस्या रखी थी कि वैषम्य दूर हो जाय, सुख सबको प्राप्त हो । इसका प्रबन्ध इस धार्म्मिक उत्तरमे नही है । बडी भारी कमी इसमे यह है कि किसी प्रकारका सघटन नही है । उपदेश कैसे ही अच्छे क्यो न हो पर मनुष्योको उनके अनुसार चलानेकी या न चलने-वालेको दण्ड देनेकी कोई व्यवस्था नही है और न ऐसे भौतिक वातावरण-को उत्पन्न करनेकी कोई व्यवस्था है जिसमे इस पथपर चलनेमे सुविधा अनुभव हो ।

वर्णाश्रम धर्म्म

इस प्राचीन उत्तरके अतिरिक्त दो-तीन और भी है । इनमे सबसे पुराना, गम्भीर और विचारणीय वह है जिसका आविष्कार भारतमे हुआ था । सक्षेपमे इस उत्तरका नाम है 'वर्णाश्रम धर्म्म' । भारतीय दर्शन और सस्कृतिका दम भरनेवाले बडे-बडे प्राच्यविद्याविशारदोने भी आज इस धर्म्मके तत्त्वको समझने-समझानेका प्रयत्न छोड दिया है । जो पुरानी रूढिके क्रीतदास पण्डित है वह तो स्मृतियोके शब्दोको पालतू तोतोकी भाँति दुहराना जानते है । उनकी एकमात्र धारणा यह है कि वर्णाश्रम धर्म्म सर्वश्रेष्ठ है और आजकलकी परिस्थितिमे भी उसे हठात् मनवानेमे ही जगत्का कल्याण है । वह एक-एक शब्दको, एक-एक शब्दकी पुराने टीकाकारो द्वारा की हुई व्याख्याको, ज्योका-त्यो रखना चाहते है । वह लोग शब्दप्रमाणके आधारपर चलते है, इसलिए इस बातका प्रयत्न भी नही करना चाहते कि तर्क द्वारा वर्णाश्रम धर्म्मकी महत्ता सिद्ध करे । उनके लिए 'यस्तर्केणानुसंन्धत्ते, स धर्म्म वेद नेतर.' (जो तर्कके द्वारा अनुसन्धान करता है वही धर्म्मको जानता है, दूसरा नही) का कोई अर्थ नही है । दूसरी ओर ऐसे लोग है जिन्होने यह मान लिया है कि वर्तमानकालमे

स्मृतिसम्मत वर्णाश्रम धर्म्म अव्यवहार्य्य ही नही हानिकारक और राष्ट्रके लिए घातक है, अत जितनी जल्दी इसका नाम मिट जाय उतना ही अच्छा होगा।

इन दोनो वर्गोसे भिन्न वह लोग है जो ऐसा मानते है कि वर्णाश्रम धर्म्म जिन मनोवैज्ञानिक आधारोपर अवलम्बित है वह नित्य है अत. इस धर्म्मके मूल सिद्धान्त नित्य और अटल है परन्तु देशकालपात्रके अनुसार इन सिद्धान्तोकी व्याख्या और व्यावहारिक रूपमे हेर-फेर करना आवश्यक है। यदि बुद्धिसे काम लिया जाय तो आज भी वर्णाश्रम धर्म्म हमारी सारी समस्याओको सुलझा सकता है। ऐसा विचार रखनेवालोमे स्वर्गीय श्री-भगवानदासजी अग्रगण्य थे। मनुस्मृतिका उन्होने जो अनुशीलन किया था वह अपूर्व है और शिक्षित जनताके सामने, वह भी न केवल भारत प्रत्युत विदेशोमे भी, वर्णाश्रम धर्म्मको वर्तमान जगत्‌की बुराइयोके दूर करनेका एक मात्र साधनके रूपमे रखनेका श्रेय उनको ही है। अपनी पुस्तक 'ऐंशेण्ट वर्सस मार्डन साएण्टिफिक सोशलिज्म' मे उन्होने इसका जिस प्रकार निरूपण किया है हम उसीको अपना आधार मानकर चलेगे।

यह जगत् द्रष्टा और दृश्य—अहम् और अनहम्, मै और न-मै—के साहचर्य्यका फल है। दृश्य त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्, रज और तमोगुणमय है। द्रष्टा जब उसके साथ सम्बद्ध होता है या होता प्रतीत होता है तब उसे सुख-दु खात्मक भोगकी प्राप्ति होती है, उसकी ओरसे पराङ्मुख होने-पर उसे मोक्षका अनुभव होता है। इसीलिए साख्याचार्य्योने दृश्यको पुरुष-के 'भोगापवर्गार्थम्' कहा है। द्रष्टा न सुखी है न दुःखी, न राजा है न रङ्क, न लोभी है न त्यागी। उसमे यह सब गुण दृश्यके कारण उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते है जिस प्रकार भाँति-भाँतिकी रङ्गीन वस्तुओके सामने आनेसे श्वेत स्फटिकमे तत्तत् रङ्गकी प्रतीति होती है। द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध अनादि है। इस अनादि सम्बन्धके कारण द्रष्टा असख्य शरीरोको धारण करता और उनमे असख्य शुभाशुभ कर्म्म करता चला आया है।

इस अविच्छिन्न कर्म्मप्रवाहके कारण किसी शरीर-विशेषमे सत्, किसीमे रज और किसीमे तमकी विशेष अभिव्यक्ति होती है, शेष गुण दबे-से रहते है। इन प्राकृत सस्कारोके कारण ही इन शरीराभिमानी द्रष्टाओ अर्थात् जीवोकी प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती है। यो तो षट्विकार काम, क्रोध-लोभ इत्यादि सभीमे पाये जाते है परन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियोमे इनकी मात्राएँ भिन्न-भिन्न होती है। जितनी इच्छाएँ मनुष्योको होती है उनको 'एषणा' कहते है। एषणाएँ यो तो सहस्रो प्रकारोकी हो सकती है परन्तु उनको तीन मुख्य वर्गोमे डाल सकते है, पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा। मेरी सन्ततिका उच्छेद न हो, ससारमे मुझे मानमर्य्यादा-प्रतिष्ठा प्राप्त हो और मेरे पास सम्पत्ति रहे इन्ही तीन बातोके लिए मनुष्यके सारे प्रयत्न होते है। यो तत्त्वदृष्ट्या यह तीन भी एक ही सूत्रमे बँधी हुई है। सन्ततिमे भी मनुष्य अपनेको देखता है—'आत्मा वै जायते पुत्र.।' सन्ततिकी वृद्धिमे अपनी वृद्धिका अनुभव होता है, वित्त और मानमर्य्यादा तो अपने लिए होती ही है। अत इन सब एषणाओमे अपने ही उत्कर्षकी इच्छा निहित है। इसलिए बृहदारण्यक उपनिषद्मे याज्ञवल्क्यने बतलाया है कि पुत्रादि अपने लिए नही किन्तु आत्माके लिए प्रिय होते है। जहाँ तक उनके साथ तन्मयता होती है वहाँ तक उनमे सुखका अनुभव होता है। आत्मविस्तारमे जहाँ सफलता होती है वहाँ सुख और जहाँ आत्म-सकोच (अर्थात् आत्मविस्तारमे बाधा) होता है वहाँ दु:खका अनुभव होता है। सुख और दु खके अनुशयी राग और द्वेष है अर्थात् जो सुख देता है उसके प्रति राग और जो दु.ख देता है उसके प्रति द्वेष होता है।

एषणाओके लिए तीन मार्ग है। एक मार्ग तो भोगका है। एषणाओके अनुसार काम करके इनको तृप्त करना ही भोग है। पर इसमे एक कठिनाई है। भोगसे एषणाओकी ज्वाला उसी प्रकार बढती है जैसे घी देनेसे अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। शरीर निकम्मा हो जाय पर भोगकी लिप्साका शमन नही होता। भर्तृहरिके शब्दोमे 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता:,

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'। भोगसामग्रीके संग्रहके प्रयत्नमे, भोगकालमे दु ख होता है। और भोगके उपरान्त यदि कुछ सुखका अनुभव होता भी हो तो वह दु खमिश्रित है। जैसा कि पतञ्जलिने कहा है 'सर्व दु खमयं विवेकिन·' दूसरा मार्ग यह है कि जो मानसिक और शारीरिक शक्ति एषणाओकी तृप्तिमे व्यय होती है, वह दूसरे कामोमे लगायी जाय। आजकलके मनोविज्ञानवेत्ता इसे उन्नमन कहते है। भक्ति, वाङ्मय, कला इन सबकी उन्नति इसी प्रकार हुई है। योगसिद्धिके लिए भी ऊर्ध्वरेता होने—कामशक्तिको योगसवेगमे परिणत करने—की आवश्यकता है। यह मार्ग सर्वोत्तम है पर सुकर नही है। सब इसपर चल नही सकते। फिसलनेका डर रहता है। तीसरा मार्ग एक और है। कुछ लोग हठात् एषणात्मक भावोको दबानेका प्रयत्न करते है। इस तामस तपसे उनको एषणाओपर विजय तो प्राप्त होती नही, उलटे उनका सारा जीवन दूभर हो जाता है। जो भाव दबाये जाते है वह रह-रहकर मनमे उठते है। सामनेसे हटा भी दिये जायँ तो मस्तिष्कमे दबे पडे रहते है और जीवनकी सारी क्रियाओको अपने रगमे रँगते रहते है। ऐसा व्यक्ति सदैव मलिनवदन और क्षुब्धचित्त रहता है। उसके स्वप्न तक इन दबे विचारोके द्वारा दूषित होते रहते है। अतः यह मार्ग श्रेयस्कर नही है। इन्ही बातोको देखकर बुद्धदेवने 'मध्यम मार्ग', श्री कृष्णने 'युक्ताहारविहार' रहनेका उपदेश दिया है। साधारण मनुष्यके लिए यही हितकर है कि वह अपनी प्रवृत्तियोको नियन्त्रित करे, कुछ दूरतक भोग हो और कुछ दूर तक शमदम।

जो बात व्यक्तियोके लिए लागू है वही व्यक्ति-समूहोके लिए भी ठीक है। यदि प्रत्येक राष्ट्र अपनी वित्तादि एषणाओको निरंकुश रूपसे तुष्ट करनेकी चेष्टा करने लगे, तो यह पृथ्वी पूरी वनस्थली बन जाय। इसलिए राष्ट्रोके आभ्यन्तर और अन्ताराष्ट्रिय जीवनको नियन्त्रित करनेकी नितान्त आवश्यकता है। इस प्रकारके नियन्त्रणके अभावके कारण ही आज मनुष्योकी ऐसी भीषण दुर्दशा हो रही है।

वर्णाश्रम धर्म्म वैयक्तिक और सामूहिक जीवमके नियन्त्रणका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। आर्य्य महर्षियोने यह देखा कि वित्त और लोक-एषणाओकी तृप्ति धन, अधिकार और प्रतिष्ठा द्वारा होती है। उन्होने यह भी देखा कि एक ही व्यक्तिमे तीनो महाविद्याओ—लक्ष्मी, सरस्वती और काली—की शक्तियोका केन्द्रीभूत होना ठीक नही है। जो धनवान् हो, वह शक्तिशाली और प्रतिष्ठाभोगी भी हो यह समुदायके लिए बडा ही अहितकर होगा। एक तो मात्स्यन्याय यो ही चल रहा है, बडा छोटेको खाये डालता है, पर जब दूसरेको शोषित करनेके इतने साधन एक ही व्यक्तिमे सन्निहित हो जायँगे तब तो निर्धनो और निर्बलोंका कही ठिकाना न रहेगा। इसलिए उन्होने जनताको चार विभागोमे बाँटा। यह विभाजन कृत्रिम नही था, मनुष्यकी सहज प्रवृत्तियोको देखकर किया गया था। इसीलिए यद्यपि आज इसका थोडा-बहुत पालन केवल भारतमे ही हो रहा है पर धर्म्माचार्य्योके मतानुसार मनुष्यमात्र प्रकृत्या चार वर्णोमे विभक्त है। गीतामे श्रीकृष्णने कहा 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट, गुणकर्म्मविभागश '—मैने गुणकर्म्मको देखकर चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की। सबसे पहिले शूद्रवर्ण है। इसमे वह अपरिपक्व जीव है जिनको अभी अपनेसे उत्कृष्ट लोगोके ससर्गमे रहकर पावन और संस्कृत बनना है। यह लोग शारीरिक या निम्नकोटिका मानसिक श्रम करके समुदायकी सेवा करते है। इनके बाद वैश्यवर्ण है। यह लोग धन उपार्जन करते है। इनका उद्देश्य समुदायको समृद्ध करना होता है। तीसरा वर्ण क्षत्रियोका है। 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रिय:'—जो समुदायकी रक्षा करता है, शासन करता है, वह क्षत्रिय है। अन्तमे ब्राह्मण वर्ण है। ब्राह्मण तपोनिष्ठ और विद्वान् होता है। वह दूसरे वर्णोको धर्म्म मार्गपर रखता है, समुदायका शिक्षक है और उसके समस्त जीवनपर नियन्त्रण रखता है। ब्राह्मण सबसे अधिक प्रतिष्ठा पाता है, उसको भूदेवकी पदवी प्राप्त है पर न उसके हाथमे अधिकार है न धन। क्षत्रियके पास अधिकार है और वैश्य-के पास सम्पत्ति। जो लोग अभी इन शक्तियोका उपयोग करने योग्य नही

हैं वह शूद्रवर्णीय है। चारके अतिरिक्त कोई पाँचवाँ विभाग हो नही सकता; मनुके शब्दोमे 'पञ्चमो नैव विद्यते'। आजकल प्राचीन व्यवस्था बिगड गयी है, इसलिए ऊँच-नीचका भाव उत्पन्न हो गया है और चारके स्थानमे सैकडो वर्ण-उपवर्ण देख पडते है। परन्तु सिद्धान्त-दृष्टिसे वर्णोमे उतना ही ऊँचा-नीचापन हे जितना शरीरके अवयवोमे। शरीरके लिए सभी अवयव आवश्यक है। सबके ठीक-ठीक काम करनेपर ही शरीरका स्वास्थ्य और उसका सुचारु सञ्चालन निर्भर है। फिर भी महत्तामे थोडा बहुत भेद है। मस्तिष्कको उत्तमाग कहते है। और अङ्गोमे थोडा बहुत विकार आ जानेपर भी काम चल सकता है परन्तु मस्तिष्कके बिगडनेसे तो मनुष्यका मनुष्यत्व ही लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार अन्य अवयवोका भी सापेक्ष महत्त्व है। ऐसा ही सम्बन्ध वर्णोमे है। श्रुतिने ब्राह्मणादिको भगवान्के विराट् स्वरूपका अवयव बतलाया ही है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याम् शूद्रोऽजायत॥

ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय बाहुद्वय, वैश्य ऊरुद्वय और शूद्र पदस्थानीय हे। ब्राह्मण बडा भाई है, शेष क्रमात् उससे छोटे भाई है।

यदि इस प्रकार सामूहिक जीवनका सचालन किया जाय तो वह बुराइयाँ जो वर्तमान कालमे देख पडती है, लुप्त हो जायँगी। जो धन उत्पन्न करनेवाले है वह धन उत्पन्न करेगे परन्तु राजका शासन या सर्वोपरि प्रतिष्ठा न पा सकेगे। जो शासनकर्ता है वह अपनी भृति-मात्र ले सकेंगे, अधिकारके द्वारा धन न बटोर सकेगे। इन दोनो वर्गोपर नियन्त्रण रहेगा ब्राह्मणोका अर्थात् वृद्ध, तपस्वी, नि:स्वार्थ विद्वानोका, जिनको न धनसे सरोकार होगा न शासनाधिकारसे। इनके दबावसे न तो क्षत्रिय अपने अधिकारका दुरुपयोग कर सकेगे, न वैश्य अपने धनका। अधिकार और धनका उपयोग समुदायकी सेवाके लिए होगा और शेष सभी वर्ण शूद्रोको, जिनके श्रमके आधारपर समुदायका जीवन निर्भर

होगा, अन्न-वस्त्रादिसे परितुष्ट रखना अपना कर्त्तव्य समझेगे। ऐसी सुसघटित योजनाके रहते हुए एकके द्वारा दूसरेका शोषण हो ही नही सकता। यह सम्भव है कि पुत्र पिताके आचरणका अनुकरण करे पर वर्णो का भेद जन्मना नही कर्म्मणा होगा। जिसका जैसा गुण-कर्म्म-स्वभाव देखा जाय वह प्रौढ होनेपर उसी वर्णमे रखा जायगा। सामूहिक जीवन-की भाँति वैयक्तिक जीवनके नियमनकी भी आवश्यकता है। यह नियमन आश्रम-धर्म्म द्वारा होता है। जिस प्रकार सामूहिक जीवनमे चार वर्ण है, उसी प्रकार वैयक्तिक जीवनमे चार आश्रम है। पहला ब्रह्मचर्याश्रम है। यह प्राय चौबीस वर्षके वय तक जाता है। इसमे विद्याध्ययनके द्वारा आगेके लिए तैयारी की जाती है। इसके पीछे गार्हस्थ्य है। इसमे अपनी तीनो ही एषणाओको भोग द्वारा तृप्त करनेका प्रयत्न किया जा सकता है परन्तु यहाँ भी बन्धन रखे गये है। किसके साथ विवाह करना, कैसे विवाह करना, इस विषयमे मनमानापन नही है। किस वर्णवाला कौन व्यापार कर सकता है, यह भी निश्चित है। अपनी आयका कम-से-कम कितना अश दान अर्थात् लोकसेवाके लिए लगाना चाहिए, इसका भी विधान है। तीसरा आश्रम वानप्रस्थ है। प्रायः पचास वर्षके वयमे घरका प्रबन्ध लडकेको सौपकर इस आश्रममे प्रवेश होता है। वनस्थ रुपया कमाना छोड देता है। उसके भरण-पोषणका भार उसके पुत्रादिपर होता है पर वह अपने परिपक्व अनुभव द्वारा समुदायकी सेवा करता है। चतुर्थ आश्रम सन्यास है जिसमे व्यक्ति वर्णधर्म्मोका अतिक्रमण करके अनिकेतन स्वच्छन्द घूमता है और स्वयं मोक्ष-प्राप्तिके उपायमे सलग्न रहता हुआ अपने धार्म्मिक उपदेशसे दूसरोको भी उस मार्गकी ओर ले चलता है।

आजकल वर्णो, और आश्रमोका घोर व्यभिचार है। अपनेको ब्राह्मण कहनेवाले शूद्रकर्म्मा देखे जाते है और शूद्र कहे जाने वालोमे ब्रह्मस्वभाववाले पुरुष पाये जाते है। विद्यार्थी जीवनमे रुपया कमाना आरम्भ

होता है और यह परम्परा बुढौतीतक चली जाती है। ब्रह्मचर्याश्रम आरम्भ नही होने पाता कि गृहस्थाश्रम लग जाता है। प्राचीन महर्षियोने न कही वर्णो के अधिकारोका नाम लिया है न आश्रमोके। उन्होने केवल धर्म्मोका, कर्त्तव्योका, चर्चा किया है। ब्राह्मणको यह करना चाहिए, गृहस्थको यह करना चाहिए, ऐसे ही वचन शास्त्रोमे मिलते है। यदि सब अपने कर्त्तव्योका पालन करे तो सबको अपने-अपने अधिकार आप ही मिल रहेगे। पर आज सबको अपने अधिकारोकी ही धुन है। मुझे यह करना चाहिए इसे तो लोग भूल गये हैं, दूसरोको मेरे प्रति ऐसा बर्ताव करना चाहिए यह स्मरण है। धन और अधिकारके लिए वर्ण वर्णकी, आश्रम आश्रमकी, अनियन्त्रित घुडदौड है। इसीसे यह अशान्ति और दुरवस्था है।

श्री भगवानदासजी बराबर कहते थे कि यह योजना सर्वथा व्यवहार्य्य है। सारी बुराइयोकी जड वही सनातन मानम-विकार—षड्रिपु, रागद्वेष, एषणा, वासना—है अतः उनकी औषध भी वही है। ब्योरेकी बातोमे भेद होगा, पर मूल ढॉचा वही होगा जिसका निर्देश प्राचीन शास्त्रकार, मुख्यत मनु, कर गये है। मनुप्रोक्त पद्धति सभी देशो और कालोके लिए उपयुक्त है। वह आर्य्योके लिए पहिले अवतरित हुई पर जब स्वय वेद कहता है कि 'कृणुध्वम् विश्वमार्य्यम्' तब तो उसका क्षेत्र सारे विश्वमे है।

परन्तु आज तो वर्णोंका घोर व्यभिचार है। प्रत्येक तथोक्त वर्णमे ऐसे व्यक्ति पाये जाते है जिनमे न तो उम वर्णके अनुरूप गुणशील है, न जोविका। अतः मनुष्य-जगत्का पूरा मन्थन करना होगा। सैकडो वर्णोंको हटाकर पुन चार वर्ण स्थापित करने होगे और प्रत्येक व्यक्तिके लिए उपयुक्त स्थान ढूँढ निकालना होगा अर्थात् जो जिम गुण-कर्मवाला होगा उसको उम वर्णमे रखना होगा। एक बार जब लोग इम प्रकार बँट जायँगे तब आगेके लिए सुगमता हो जायगी। फिर सामूहिक और वैयक्तिक जीवनका नियन्त्रण होता रहेगा!

प्रश्न यह होता है कि यह पुनर्व्यूहन कैसे होगा। एक उपाय यह हो सकता है कि राज अपने ऊपर इस कामको ले और सरकारी कर्मचारियो द्वारा जाँच-पडताल करके लोगोको वर्णोमे बाँटे तथा आगे भी ऐसा प्रबन्ध करे कि लोगोके गुणकर्म्मकी बराबर जाँच होती रहे और वह उपयुक्त सूचियोमे सम्मिलित किये जाते रहे। यह काम कठिन है। आजकल किसी राजके अधिकारी स्यात् इन विचारोको पूरा-पूरा मानते ही नही। सनातन धर्म्मके नामपर पेट पालनेवाले कुछ पण्डित तो ऐसा चाहते है कि राज-दण्डके जोरपर वर्ण-व्यवस्थाका वर्तमान रूप स्थिर रखा जाय अर्थात् ब्राह्मण नामधारियोकी महत्ता और तथाकथित हीन वर्णोकी हीनता बनी रहे पर श्री भगवानदासजी ऐसा नही चाहते थे। यदि विद्वान्, तपस्वी, लोकहितैषी, नि स्वार्थ व्यक्ति अपने ऊपर यह काम ले और निरन्तर उप-देश और परामर्शके द्वारा लोगोको समझाकर यह व्यवस्था प्रचलित करावें तभी कुछ सफलता मिल सकती है।

मुझे विश्वास है कि मैने वर्णाश्रम-धर्म्मका जो चित्र खीचा है वह निष्पक्ष और ठीक है। जिस विस्तारके साथ मैने उसका निरूपण किया है वह अनुचित नही है क्योकि अबतक वर्णाश्रम-धर्म्मके सिवाय समाज-संघटन-की दूसरी सर्वाङ्गीण योजना हमारे सामने नही आयी है। चाहे किसी भी समयमे इसपर पूरा-पूरा काम न हुआ हो पर जिन लोगोने योजना बनायी उन्होने इसको निर्दोष और सर्वाङ्ग-सुन्दर बनानेका पूरा प्रयत्न किया था।

फिर भी हमको दु खके साथ कहना पडता है कि यह योजना भी हमे अपर्याप्त और आजकलकी परिस्थितिको सँभालनेके लिए अनुपयुक्त प्रतीत होती है। ऐसा कहकर हम मनु या अन्य किसी प्राचीन शास्त्रकारके प्रति असम्मान नही व्यक्त कर रहे है। केवल वस्तु-स्थिति हमको यह कहनेपर विवश करती है कि उनकी योजनासे आज हमारा काम नही चल सकता।

यह सत्य है कि सब मनुष्य एक ही गुण-स्वभाववाले नही होते, यह भी सत्य है कि सब एक ही प्रकारकी जीविकाके योग्य नही होते, यह भी

सत्य है कि एषणाओकी तुष्टिका नियन्त्रण होना चाहिए। इसमे सन्देह नही है कि एक ही व्यक्तिमे धन, बल और प्रतिष्ठाका केन्द्रीभूत होना अच्छा नही होता। यह भी निर्विवाद है कि समूहके जीवनकी देखरेख नि स्वार्थ, विद्वान्, तपस्वी व्यक्तियोके हाथमे होनी चाहिए। परन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी आज चातुर्वर्ण्य-विभागकी उपयुक्तता सिद्ध नही होती। मनुष्योका विभाग केवल मनोविज्ञानके आधारपर नही किया जा सकता। आर्थिक और राजनीतिक वस्तुस्थिति, चाहे वह हमारी समझमे गर्हित ही क्यो न हो, भुलायी नही जा सकती। जिस प्रकार अधिकाश मनुष्योके कर्म अशुक्लाकृष्ण अर्थात् पाप-पुण्य मिश्रित होते है, उसी प्रकार अधिकाश मनुष्य वित्त, मान और अधिकार तीनो ही चाहते है, अत. उनको पृथक् कक्षाओमे डालना कठिन होगा। और भी कठिनाइयाँ है। बहुत-से ऐसे पद है जिनमे शासन भी होता है और व्यवस्थापन भी। उनपर जो लोग नियुक्त होगे वह ब्राह्मण कहलायेगे या क्षत्रिय ? धन उपार्जन करनेका क्या अर्थ है ? जो स्वयं खेती करता है या गऊ पालता है, या दूकानपर बैठता है और अपना पेट काटकर पूँजी जमा करके उसे व्यवसायमे लगाता है या खानसे खनिज निकालता है, वह तो धनका उपार्जन करता है पर बडे-बडे बैकर, पूँजीपति, कम्पनियोके मैनेजर क्या करते है ? यह तो दूसरोके रुपयोका ही प्रबन्ध करके पूँजी बनाते है। फिर इन्हे वैश्य माने या क्षत्रिय ? निजी व्यापारियोके अतिरिक्त, सरकारी व्यवसायो जैसे रेलोके छोटे-बडे कर्म्मचारी इन दोनोमेसे किस वर्णमे है ? जमीदारका क्या वर्ण है ? वह कृषि करता है या शासन ? जो स्वयं शिल्पी है उसकी बात तो समझमे आती है पर मिलमे काम करके धन उपार्जित करनेवाले वैश्य है या शूद्र ? इस समय भी यूरोप और अमेरिकाके बडे पूँजीपति स्वय शासनकी डोर अपने हाथमे नही लेते वरन् अपने रुपयोके जोरपर राज-पुरुषोको नचाते है अर्थात् अधिकारीका रूप न रहते हुए भी अधिकारका उपभोग करते है। आजकल कारखानोका युग है। व्यापारियो, महाजनो, मिल-मालिकोके पास

अपार धनराशि रहती है। वह राजपुरुषो और विद्वानोको मोल ले सकते है। यह बात कैसे रोकी जायगी ? 'सर्वे गुणा. काञ्चनमाश्रयन्ते' तो पुरानी उक्ति है। जो धन एकत्र कर सकेगा वह शक्ति और प्रतिष्ठासे कैसे दूर रखा जायगा ? आज क्या यह सम्भव है कि थोडे-से पेशेवाले सैनिक देशकी रक्षा कर सके ? फिर जब देश-रक्षाका भार सबपर है तो क्षत्रिय कौन है ? कारखानोमे काम करनेवाले लाखो सघटित मजदूर, जो शिक्षित भी होते है, इस बातको कैसे स्वीकार कर लेगे कि बिना उनसे पूछे उनसे कर लिया जाय और व्यय कर दिया जाय, युद्ध छेडकर लाखो मनुष्य कटवा दिये जायं, व्यापारादिकी मनमानी व्यवस्था करा दी जाय ? फिर जब शासनमे तथा कानून बनानेमे इनका हाथ होगा तो यह लोग क्षत्रिय होगे या ब्राह्मण ? यह स्मरण रहे कि यह केवल शब्दोका झगडा नही है, अधिकारो और कर्तव्योका, समाजके सघटनका प्रश्न है। यह तो हो सकता है कि योगी लोग अपनेको निर्लिप्त रख सके पर साधारण विद्वान्, जिनका भरण-पोषण धनिको और साधिकारोके हाथमे रहता है, कहाँतक इनपर नियन्त्रण कर सकेगे ?

बात यह है कि यह योजना जिस समय बनी थी उस समय जो आर्थिक परिस्थिति थी वह अब नही है। उस कालमे सम्पत्तिका मुख्य स्वरूप और साधन भूमि थी। जिसके पास कृषियोग्य या गोचर भूमि थी वही सम्पन्न था। जनसख्या थोडी थी और भूमि अधिक। इसलिए कृषक-का इतना शोषण नही हो सकता था। मशीनें नही थी, इसलिए कारीगर स्वतन्त्र थे। एक ही जगह बहुत पूँजी लगाकर बहुतसे आदमियोको जमा करके रुपया कमानेका साधन नही था। इसलिए न तो धनिक वर्ग बहुत पूँजी जमा कर पाता था, न बहुत आदमियोका शोषण कर सकता था, न बहुतोपर अधिकार पा सकता था। इसीलिए भूमिपतियोके हाथमे शासन-का सूत्र था। आज धनोत्पादनका मुख्य साधन भूमि नही है। लक्ष्मीका निवास अब बक, कल-कारखाने और कम्पनियोके दफ्तरोमे है। अत:

इनके स्वामियोके हाथमे अधिकारका रहना अवश्यम्भावी है। इनका अपने स्वार्थसे प्रेरित होना भी अवश्यम्भावी है और, फलतः, सघर्ष तथा अशान्ति भी अवश्यम्भावी हैं।

फिर, बिना राजके पूरा जोर लगाये अर्थात् बिना बलप्रयोगके इसका व्यवहारमे लाया जाना भी असम्भव है। आज श्रमिकोको जो थोडा बहुत व्यवस्थापनका स्वत्व अर्थात् ब्राह्मणत्व मिला है, वह उसे इच्छासे न छोडेगे, न धनिक वर्ग अपने धनको लोकसम्पत्ति मानकर राजनीतिक क्षेत्रसे विरत होगा। वही निरंकुश वैयक्तिक और सामूहिक प्रतिद्वन्द्विता जो आजकल जगत्को नष्ट कर रही है तब भी जारी रहेगी। थोडेसे विद्वानोके उपदेश मात्रका प्रभाव अरण्यरोदनके प्रभावसे अधिक न होगा।

सच बात यह है कि किसी भी समयमे धनोपार्जनका मुख्य साधन जिस समुदायके हाथमे होगा वही प्रमुख समुदाय होगा। उनका नाम और काम कुछ भी हो, वास्तविक अधिकारकी डोर उसके ही हाथमे रहेगी। पहिले यह स्थान क्षत्रियोको प्राप्त था, आज वैश्योको प्राप्त है। आजका सत्ताधारी समुदाय अर्थात् पूँजीवाला पहिलेके क्षत्रियोसे अधिक बलवान् है क्योकि लाखोकी जीविका उसके हाथमे है। प्राचीन कालमे क्षत्रियोपर ब्राह्मणोकी श्रेष्ठता चल जानेका एक मुख्य कारण यह था कि लोग समझते थे कि परलोककी कुञ्जी ब्राह्मणोके हाथमे है। इसलिए यदि कभी ब्राह्मण किसी बातपर अड जाते थे तो जनता उनका साथ देती थी। इसलिए बिना अडे ही क्षत्रिय उनसे दबते थे। इसका परिणाम यह था कि स्वय सम्पन्न न होते हुए भी ब्राह्मण क्षत्रियादिसे आश्रितकी भाँति डरता न था वरन् साहसके साथ उनकी भी भर्त्सना कर सकता था। आज बहुतोको परलोक-पर विश्वास ही नही है। जिनको है भी वह ब्राह्मणोको इहामुत्रके बीच मध्यस्थ माननेको तैयार नही है। अत. विद्वत्समुदायको दूसरोके आश्रित रहकर ही काम करना पडेगा और उनमे वह पहिले जैसी स्वतन्त्रता नही हो सकती, कमसे कम मजहब उनकी मदद नही कर सकता।

इन्ही सब कारणोसे हम वर्णाश्रम धर्म्मको भी इस समय अपूर्ण और अपने कामके लिए असमीचीन पाते है। पर इसका यह तात्पर्य नही है कि मनुस्मृति आदि धर्म्मग्रन्थ निरर्थक है। ऐसा नही है। उनमे शमदमादि धर्मके जो दस सार्वभौम लक्षण बतलाये गये है वह सर्वोपयोगी है, अन्य बहुतसे विषयोपर भी बहुत ही सुन्दर और लाभकारी उपदेश भरे पडे है; यदि समाजव्यापी आर्थिक वैषम्य दूर हो जाय तो भावी समाजव्यवस्थामे वर्ण-धर्म्मके मूल सिद्धान्तोका उपयोग हो सकता है। जहाँतक आश्रम धर्म्म-का सम्बन्ध है वह हर समय उपयोगी है।

लोकतन्त्र शासन और व्यापक मताधिकार

कुछ लोगोका ऐसा विश्वास है कि व्यापक मताधिकार हमारे समस्त रोगोके लिए रामबाण औषध है। इस समय अधिकाश स्वतन्त्र देशोमे किसी न किसी प्रकारकी व्यवस्थापिका सभा, पार्लिमेण्ट या काग्रेस होती है। सरकारी मन्त्री किसी-न-किसी रूपमे उसके प्रति उत्तरदायी होते है। यह लोग अपनी इच्छासे चाहे और जो कुछ कर सके परन्तु खर्च मंजूर करना इस सभाके, जिसमे प्रजाके प्रतिनिधि होते है, अधीन होता है। इसलिए कोई सरकार व्यवस्थापिका सभाकी, अर्थात् उसके बहुमतकी, इच्छाके विरुद्ध नही चल सकती। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि जिन लोगोको प्रतिनिधि चुननेका अधिकार नही है, उनके मतका निरूपण व्य-वस्थापिका सभामे हो ही नही सकता, अतः उनके हितोकी रक्षा हो ही नही सकती। इसके विपरीत, जिन लोगोको मत देनेका अधिकार है वह अपने मनके प्रतिनिधि भेजकर अपने हितोकी रक्षा करा सकते है। अतः यदि सभी पूर्णवयस्क नागरिकोको मताधिकार प्राप्त हो जाय तो सरकारपर सबका समान रूपसे " प्रभाव पडेगा वरन् साधारण लोगोकी संख्या अधिक होनेके कारण उनका प्रभाव अधिक पडेगा। इसलिए सरकार सदैव उनके अनुकूल होगी या यो कहिये कि सरकार निष्पक्ष रूपसे सबके हितका साधन

करेगी। फलत. अन्यायपूर्ण संघर्ष और कलह एव तज्जनित अशान्तिकी जड ही कट जायगी।

इस विचारकी तहमे सत्यका अश है पर बहुत थोडा-सा। लोकतन्त्र शासनप्रणाली और व्यापक मताधिकार आजकल उन लोगोके लिए जो अमेरिका और पश्चिमी यूरोप, विशेषतः ब्रिटेन, की विचारधारासे प्रभावित हुए है, एक प्रकारके मन्त्रसे हो रहे है। साधारण पढे-लिखोको इनपर बडी श्रद्धा है और कट्टरसे कट्टर साम्राज्यवादी भी इन पवित्र नामोकी दुहाई देता है। परन्तु वस्तुत इनके भीतर बड़ा खोखलापन है। मताधिकार मिलने पर राजनीतिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो सब बराबर हो जाते है पर यह बराबरी किसी कामकी नही होती। सयुक्तराज (अमेरिका) इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। वहाँ मताधिकार प्राय· सभीको है पर आर्थिक विषमता प्रचण्ड है। इस आर्थिक विषमताके आगे राजनीतिक समताकी एक नही चलती। लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणालीके लिए कमसे कम दो राजनीतिक दलोका होना आवश्यक माना जाता है। चुनावके समय दोनो दल अपने-अपने उम्मीदवार खडे करते है और लोग अपना मत देकर जिसको ठीक समझते है चुनते है। प्रत्येक दल यह चाहता है कि उसके उम्मीदवार चुन जायँ क्योकि इसीपर उसका बहुमत होना और सरकारी लगामका उसके हाथमे आना निर्भर है। अत· प्रत्येक दल मतदाताओको अपने उम्मीदवारोकी योग्यता और अपने सिद्धान्तोकी उत्कृष्टता समझानेका प्रयत्न करता है। इस काममे विपुल धनराशि फूंक दी जाती है। जिस दलका प्रचारकार्य्य जितना अच्छा होता है उसकी सफलताकी उतनी ही अधिक सम्भावना होती है। जो उम्मीदवार स्वतन्त्र रूपसे खडे होते है उनके चुने जानेके तो बहुत ही कम अवसर हो सकते है। परन्तु प्रचारकार्य्यमे जो रुपया भस्म होता है वह धनिकोकी जेबसे निकलता है।

धनिक समुदाय बहुत समझदार होता है। वह राजनीतिक नेताओसे काम लेना जानता है। उसे यह ज्ञात है कि जबतक उनकी स्वाधीनता

ऊपरसे बनी रहेगी तभीतक उनसे सहायता ली जा सकती है। इसलिए उनको भाषण-स्वातन्त्र्य खूब ही दिया जाता है। दलोके नेता लम्बे-लम्बे व्याख्यान दे सकते है और पत्रोमे लम्बे लेख निकाल सकते है। सिद्धान्त और नीतिकी बातोमे कोई रुकावट नही डाली जाती। ऐसी ही श्रुतिमधुर बातोसे तो जनताको धोखा दिया जा सकता है। एक ही बन्धन है—कोई ऐसा सिद्धान्त नही प्रतिपादित किया जा सकता जिससे धनिक और साधिकार समुदायोके सामूहिक हितोको क्षति पहुँचती हो। बहुमत होने और अपना मन्त्रिमण्डल बना लेनेपर दलोको थोडा-बहुत सुधार भी करने दिया जाता है क्योकि यदि ऐसा न हो तो सारी कलई खुल जाय। यदि किसी सुधार-योजनासे कुछ दिनके लिए धनिकोको थोडी-सी आर्थिक हानि भी हो जाय तो वह सह ली जाती है। नकेल अपने हाथमे रखी जाती है, ऊँट यदि थोडा-सा इधर-उधर सिर हिला ले तो इसमे कोई हानि नही है।

इतना ही नही, कभी-कभी अपने विरोधियो तकको अधिकार पाने दिया जाता है। इसका उदाहरण ब्रिटेनमे मिलता है। वहाँ मजदूर नेता अपनेको समाजवादी कहते है पर वह क्रान्तिके विरोधी है। उनका विश्वास है कि पार्लिमेण्टके द्वारा धीरे-धीरे कानून बनवाते-बनवाते समाजवादी व्यवस्था जारी हो जायगी। अब यदि उनको कभी पार्लिमेटमे स्थान ही न मिले या उनको मन्त्रिमण्डलमे आनेका अवसर ही न मिले तो उनकी श्रद्धा पार्लिमेट-परसे उठ जायगी और वह भी क्रान्तिकारी बन जायँगे। ब्रिटेनके पूँजीपतियो-को यह अभीष्ट नही है। अत उन्हे मन्त्रिमण्डल तक बनाने देते है पर अब-तक मजदूर दलने कोई ऐसा काम नही किया है जिससे कि धनिक वर्गके हितोको कोई गहिरा आघात पहुँचे। कुछ दिनो तक पार्लिमेण्टमे इस दलका बहुमत था। ज्यो ही धनिक-समुदायने देखा कि यह लोग अपने समाजवादी सिद्धान्तोको कार्य्यान्वित करना चाहते है, उसने ऐसा प्रबन्ध किया कि बहुमत अल्पमत हो गया। यह बात स्वाभाविक भी है। यह मानना भी भूल है कि थोडेसे मतोके इधर-उधर हो जानेसे विभूतिका भोग करनेवाले अपने

स्वार्थोंको तिलाञ्जलि दे देंगे। इसलिए लोकतन्त्र शासन और व्यापक मताधिकारसे कुछ नही हो सकता। घोर आर्थिक विषमताके रहते हुए राजनीतिक समता व्यर्थ है। लोकतन्त्र शासनका अर्थ हो गया है संघटित सम्पन्न वर्गोंकी इच्छाके अनुकूल शासन, परन्तु इस प्रकार कि साधारण जनता समझे कि शासनमे हमारा भी हाथ है। इससे लोगोका असन्तोष उभडने नही पाता। यह आशा बँधी रहती है कि इस बार नही तो अगली बार अच्छे प्रतिनिधियोको चुनकर सब बाते ठीक कर लेगे। इसमे सन्देह नही कि यदि राजनीतिक समताके साथ-साथ न्यूनाधिक आर्थिक समता भी हो, शोषक और शोषितका भेद न हो और जनता शिक्षित तथा कर्त्तव्यपरायण हो तो लोकतन्त्र शासन सर्वोत्तम होता है और मताधिकार बहुमूल्य अधिकार हो सकता है पर यह 'यदि' इतना बडा है कि आजकल व्यावहारिक दृष्टिसे लोकतन्त्र शासन और मताधिकार निरर्थकसे है। यह बात निर्धनो, अधिकारहीनो, दुर्बलोकी दृष्टिसे कही गयी है, धनवानो, बलवानो और अधिकारवालोको तो यह दोनो चीजे बडी ही प्रिय है।

यह कहना आवश्यक है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्थाका जो चित्र मैंने ऊपर दिया है वह वह है जो पश्चिम यूरोप और अमेरिकामे प्रचलित है। भारतने भी इसका अनुकरण किया है। परन्तु ऐसे भी राज्य है जो अधिनायकशाहीके अधीन रहते हुए अपनेको गणतन्त्र कहते है। रूस और चीन इसके उदाहरण है। सारा अधिकार एक दलके हाथमे है और उस दलके नेताओका छोटा-सा गुट शासन करता है। परन्तु किसी-न-किसी प्रकारकी व्यवस्थापक सभा है। वह सालमे दो-चार बार बैठती है और शासनमे कामोका समर्थन कर जाती है। पार्लिमेण्टका समर्थन है इसलिए अपनेको गणतंत्र कहते है पर न कोई दूसरा दल है, न कोई शासनके विरुद्ध मुँह खोल सकता है। ऐसा लोकतन्त्र सर्वथा निकम्मा है, यह जनताको सुख-शान्ति नही दे सकता।

प्राचीनकालमे कई निर्दल गणतंत्र रहे है। आज भी स्विटज़रलैण्डमे

यह चीज देखी जा सकती है। परन्तु अभी किसी बडे राज्यमे ऐसा प्रयोग नही हुआ है। कुछ लोग चाहते है कि भारतमे इसका परीक्षण हो। यदि अधिनायकशाही न होते हुए निर्दल व्यवस्था हो सके तो व्यापक मताधिकारसे सम्भवत. बहुत कल्याण हो सकता है।

फ़ासिज़्म

जर्मनी और इटलीका उत्कर्ष देखकर कुछ लोगोकी यह भावना हो गयी थी कि फासिज्मसे पृथ्वीका कल्याण है, पर यह भ्रम था। फासिज्म मे स्वतंत्रता और शान्तिका क्या स्थान है वह इसी बातसे प्रकट होता है कि राष्ट्रसंघ और सभ्य जगत्की पुकारको ठुकराकर इटलीने अबिसीनियाकी हजारो वर्षकी संचित स्वाधीनताको नष्ट करके अपने साम्राज्यमे मिला लिया। कहा गया है कि इटली और अबिसीनियाकी लडाई सभ्यता और बर्बरताकी लडाई थी। यदि विषैली गैस, द्रवाग्नि, बम, विस्फोटक गोलियाँ, अस्पतालोपर गोलाबारी, यह सब ही सभ्यताके लक्षण है तो बर्बरता क्या बुरी चीज है? इस प्रकार तो शान्ति नही हो सकती। फासिज्मका एकमात्र सिद्धान्त है अपने राष्ट्रका बल और आधिपत्य बढाना, इससे दूसरे राष्ट्रोका चाहे जो कुछ हिताहित हो। अपने देशके भीतर फासिस्ट सरकारोने जो ऊपरी शान्ति कायम की थी वह शान्ति श्मशानकी या महामेघ-गर्जनके पूर्वकी शान्ति थी। मजदूर संस्थाएँ तोड दी गयी, उनके नेता मार डाले गये या जेलोमे डाल दिये गये, उनके पत्र बन्द कर दिये गये। असन्तोष भीतर-भीतर सुलग रहा था, एक दिन फूटता ही। जब किसी देशमे अशान्ति बहुत फैल जाती है तो वहाँका धनिक समुदाय लोकतत्रके थोथे स्वागको दूर फेंककर शासन सीधे अपने हाथमे ले लेता है। जैसा कि एक अवसरपर इटलीके सर्वेसर्वा मुसोलिनीने कहा था 'रूस और इटली दोनो देशोमे यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि सभी उदार विचारोके बाहर, ऊपर और विरुद्ध चलकर

शासन करना सम्भव है। समष्टिवाद या फासिज्म, दोमेसे एकको भी स्वाधीनताके साथ ज़रा भी सजातीयता नही है। फासिज्मको यह घोषित करनेमे किञ्चिन्मात्र डर नही है कि वह अनुदार या उदारता-विरोधी है। फासिज्म एक बार स्वतन्त्रताकी देवीके न्यूनाधिक सडे हुए शरीरपर-से गुजर चुका है और यदि आवश्यकता हुई तो ऐसा फिर करनेको तय्यार है।' जिस वादके प्रधान आचार्य्य ऐसी बातें कह सकते है उससे जगत्के कल्याणकी आशा रखना बालूसे तेलकी आशा रखनेके बराबर है।

अब फासिस्ट इटली और जर्मनीका अन्त हो गया है। फासिज्मकी दुहाई देनेवाला कोई नही है, कमसे कम खुलकर कोई इस समय उसका समर्थन नही करता। परन्तु यह नही कह सकते कि अब यह डर सदाके लिए चला गया। जब तक निजी लाभके लिए व्यापार होता रहेगा और अपने देशके व्यापारकी वृद्धि और रक्षाके लिए साम्राज्य रखनेकी सम्भावना रहेगी तब तक किसी-न-किसी नामसे और समयानुकूल रूपमे फासिज्म के पुन: उदय होनेकी संभावना बनी रहेगी।

प्रतिमशीनवाद

एक और 'वाद' है जिसपर थोडा-सा विचार करना है। कुछ लोगो-का यह विश्वास है कि यदि मशीने उठा दी जायँ तो फिर सुख-शान्ति हो जाय। मशीनोके कारण ही बडे-बडे कल-कारखाने खुलते है और थोडेसे लोगोको बहुत-सा धन सग्रह करने और दूसरोको अपना अर्थदास बनानेका अवसर मिलता है। यदि मशीने न होगी तो फिर वही पहिलेकी भाँति कारीगर अपने घरोपर वस्त्रादि तैयार करेगे। न आज जैसी प्रतियोगिता होगी, न कलह, न उत्पीडन, न असन्तोष, न अशान्ति।

इसके भीतर भी सत्यका कुछ अंश है। यदि आजसे सौ डेढ सौ वर्ष पूर्वकी आर्थिक अवस्था फिरसे ला दी जाय तो आजकी अपेक्षा उत्पीडन

और वैषम्यमे अवश्य कमी हो जायगी। परन्तु इसमे दो आपत्तियाँ है। एक तो यह कि अब मशीनोका तुडवाना सम्भव नही है। सभ्य राष्ट्र आपसमे लड़कर इस प्रकार तबाह हो जायँ कि मशीनोके चलानेकी विद्या ही लुप्त हो जाय तो दूसरी बात है, अन्यथा शौकसे कोई मशीनोको तोडने-पर राजी न होगा। फिर जिस वैज्ञानिक उन्नतिके द्वारा धनोपार्जन और उत्पीडनके साधनोका आविष्कार हुआ है उसीने सुखवर्द्धक यन्त्रोको भी सम्भव बनाया है। कपडा सीनेकी मशीन, कुएँसे पानी निकालनेकी मशीन, बिजलीकी रोशनी देनेवाला डाइनमो—यह भी तो मशीनें है। रोगीके पासतक डाक्टरको ले जानेवाली मोटर और दुर्भिक्ष-पीडितोके पासतक अन्न पहुँचानेवाली रेल भी मशीन है। इनमेसे किस किसको तोडे ? यदि इनको रखना है तो इनके बनानेवाले कारखाने भी रहेगे। फिर तो कोई नयी बात न हुई। आज मशीनोके कारण बहुत-सा काम थोडे समयमे हो सकता है और मजदूरोको भी पढने-लिखनेका अवसर मिल जाता है। यदि किसी प्रकार सब मशीने तोड ही दी जायँ तो सस्कृतिकी यह सारी बाते दूर हो जायँगी। सब काम हाथसे होगे। काम करनेवाले मजदूर अशिक्षित और असस्कृत हो जायँगे। मस्तिष्कोपर पुन ताले पड जायँगे। पर यह भी किसीको अभीष्ट नही। यदि मनुष्य अपने श्रमको कम करने, अपने स्वास्थ्यको बढाने, सर्वत्र अन्नवस्त्रादि पहुँचानेके, साधनोका आविष्कार कर सकता है, तो उसको ऐसा करनेसे रोकना श्रेयस्कर नही हो सकता। आवश्यकता इस बातकी है कि वह अपनी बुद्धिका सदुपयोग करके इन साधनोको अपनी तबाहीके उपकरण न बना ले। न सब काम हाथसे करनेमे कोई आध्यात्मिक महत्ता है, न सब कामोको मशीनसे करना ही श्रेयस्कर है। जहाँ तक मशीन स्वास्थ्य, सुख और सस्कृतिकी वृद्धिमे सहायक हो उसका उपयोग करना चाहिए परन्तु उसे बेकारी, शोषण, उत्पीड़नका साधन न बनने देना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब समाजकी ऐसी व्यवस्था हो कि मशीनोके चलानेपर और उनके

उत्पादनपर समाजका नियन्त्रण हो। आगसे कभी घर जल जाता है। इस डरसे उसे बुझाकर रसोईका काम भी बन्द कर देना बुद्धिमानी नही है।

मुझे विश्वास है कि मैने संक्षेपमे उन सब उपायोकी आलोचना की है जो साधारणत हमारे प्रश्नके उत्तरमे पेश किये जाते है। मैने इस बातका भी यथाशक्य प्रयत्न किया है कि आलोचना करते समय किसीके साथ अन्याय न करूं। फिर भी, मै इसी परिणामपर पहुँचा हूँ कि जो विकट परिस्थिति हमारे सामने है उसका निवारण इनमेसे किसीके भी द्वारा नही हो सकता। हमारे सामने समस्या यह है कि लोगोकी शिक्षा और सस्कृतिमे, मस्तिष्कके विकास और तज्जनित भौतिक तथा बौद्धिक सुखोमे, कोई कमी न हो पर दारिद्र्य, वैषम्य, उत्पीड़न, शोषणका अभाव हो जाय। हमारी इच्छा यह है कि यह पुराना आशीर्वाद सफल हो—

सर्वे भवन्तु सुखिन, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु खभाग्भवेत्॥

अपने लम्बे इतिहासमे मनुष्यने अव्यवस्थाको व्यवस्थामे, असमाजको समाजमे, बदलनेके जो प्रयास किये है वह सर्वथा निष्फल नही है परन्तु उनमेसे कोई अबतक पूर्णतया सफल न हो सका। वर्णाश्रम धर्म्म इनमेसे सबसे सफल प्रयोग था। उसने बहुत दिनोतक करोडो मनुष्योको सगठित रखा परन्तु जन्मना ऊँच-नीचके घुनने उसको खोखला कर दिया और लाभप्रदसे हानिप्रद बना दिया। सम्भव है आगे चलकर इसका कोई परिष्कृत रूप फिरसे अपनाया जाय।

धर्मोपदेष्टाओने जो आदेश किये वह स्वत अच्छे थे पर उनका प्रभाव व्यक्तियो तक सीमित रहा। इस बातका प्रयत्न नही हुआ कि किन्ही दार्शनिक आधारोपर समुदायके समूचे जीवनका संव्यूहन किया जाय। शिक्षा, विधान, आर्थिक और राजनीतिक संस्थान सब एक सूत्रमे बाँधकर एक ही दिशामे प्रेरित किया जाय। परिणाम यह हुआ कि अच्छे लोग भी अपने पर्य्यावरणके शिकार बन गये और विशाल जन-समूह उस सुखशान्तिसे वञ्चित रह गया जिसके लिए वह सदा लालायित रहता था।

२

मार्क्स-सम्मत समाजवाद

पाँचवाँ अध्याय

एक और उत्तर

तीसरे अध्यायमे जो सनातन प्रश्न उठाया गया है उसके प्रचलित उत्तरोकी जो विवेचना हमने की उमका परिणाम नञात्मक निकला। यदि इस गाँठको खोलनेका कोई और साधन नही है तो मानव जगत्का भविष्य बडा ही तम आच्छादित है। ऐसा प्रतीत होता है कि चाहे थोडा बहुत सुधार इधर-उधर हो जाय पर किसी मौलिक परिवर्तनकी सम्भावना नही है। यह हमारे सौभाग्यकी बात है कि वस्तुस्थिति ऐसी नही है। आजके युगमे ऐसी योजनाएँ भी सामने है जो पूर्वोक्त दोषोसे मुक्त प्रतीत होती है। इनमेसे एक तो सारी पृथिवीको प्रभावित कर रही है। इसका नाम है 'समाजवाद'। अधिक स्पष्टीकरणके लिए इसे 'वैज्ञानिक समाजवाद' भी कहते है। किसी समय 'साम्यवाद' शब्द अधिक प्रचलित हो गया था पर उसकी अपेक्षा 'समाजवाद' अधिक सार्थक है।

'वैज्ञानिक' विशेषण देनेका कारण है। अपनेको समाजवादी कहना प्रगतिशीलताका चिह्न माना जाने लगा है, इसलिए बहुतसे लोग समाजवादी कहलाने लगे है। भारतमे ही ऐसे सज्जन है जो रूसके कम्यूनिस्ट दल, भारतके समाजवादी दल तथा देश-विदेशके दूसरे संघटित समाजवादी दलोके प्रायः सभी मिद्धान्तोको नापसन्द करते है पर अपनेको समाजवादी कहते हैं। यह बात रोकी नही जा सकती, क्योकि यदि कोई व्यक्ति अपनेको समाजवादी कहना ही चाहता है तो उसे ऐसा करनेका पूरा अधिकार है। पर यह स्वाभाविक है कि ऐसे सब लोगोके विचार एकसे नही होते। इसलिए इनके मुँहसे इस शब्दका प्रयोग बहुत ही भ्रामक

होता है। परन्तु एक बात समझ लेनी चाहिए। एक शैली विशेषने अपनेको वैज्ञानिककी उपाधि दे रखी है, इससे यह सिद्ध नही होता कि अन्य शैलियाँ अवैज्ञानिक है या अपनेको अवैज्ञानिक मानती है। यह विशेषण पुराने उत्तर कौरव समाजवादसे व्यावर्तन करनेके लिए जोडा गया है।

आजकल ही नही प्राचीनकालमे भी ऐसे उदारचेता व्यक्ति हुए है जिनके हृदय मनुष्योके पारस्परिक कलह, उत्पीडन, शोषण, वैषम्यको देखकर व्यथित हो उठे है। वह ऐसी बातोको न्याय और मनुष्यता तथा धर्म्मके विरुद्ध समझते है। उन्होने ऐसे जगत्‌के मानस चित्र खीचे है जिनमे यह बाते न होगी, जिनमे सभी सुखी, सभी बराबर होगे। ऐसे काल्पनिक जगत्‌का वर्णन करनेवाली पुस्तके भी है। अंग्रेजीमे सर टामस मोरकी 'यूटोपिया' इस विषयकी प्रसिद्ध पुस्तक है। पुराणोमे 'उत्तरकुरु' का जो वर्णन है वह इसी ढङ्गका है। यूटोपिया हो यह उत्तरकुरु, यह काल्पनिक प्रदेश एक प्रकारके आदर्श है जिनमे यह दयार्द्र हृदय जगद्धितैषी इस पाशवाचारमयी पृथ्वीको परिणत करना चाहते है। इनमेसे कुछ लोगोने इतनेसे ही सन्तोष नही किया है वरन् अपने आदर्शोको कार्य्यान्वित करनेका भी प्रयत्न किया है। यूरोपमे ऐसी कई समाजवादी बस्तियाँ बसायी गयी जिनमे लोगोने इन आदर्शोके अनुसार जीवन बितानेकी यथाशक्य चेष्टा की पर यह सब प्रयत्न विफल हुए। सभी बस्तियाँ उजड़ गयी। इन लोगोकी सहृदयता सर्वथा प्रशंसनीय है परन्तु इनके विचारोके आधार ही गलत है, इसलिए उनमे व्यावहारिकता नही है। इस प्रकारके विचारोको उत्तर कौरव या यूटोपियन समाजवाद कहते है। इसमे जो त्रुटियाँ है वह वैज्ञानिक समाजवादके वर्णनके साथ आप ही स्पष्ट हो जायँगी।

समाजवादको जिस शैलीका वर्णन करना यहाँ अभिमत है, जिसका निर्देश ऊपर वैज्ञानिक समाजवादके नामसे किया गया है, वह वर्तमान युगकी आविष्कृति है। आजसे सौ डेढ सौ वर्ष पहिले, जब मशीनोका निर्माण नहीके बराबर था और पृथ्वीके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक याता-

यातके साधन संकुचित थे, वह परिस्थिति थी ही नही जिसमे इसकी आवश्यकता पडती । रोग था ही नही, औषध किस लिए दी जाती । आजकलकी वैज्ञानिक सभ्यताने जिस प्रकार उत्पीडन, दरिद्रता, शोषण, बेकारी, युद्ध, अशान्ति आदिको जन्म दिया है, उसी प्रकार इनके शमनके लिए उसने वैज्ञानिक समाजवादकी भी सृष्टि की है ।

यो तो समाजवादी विचारकी कई धाराएँ है पर इनमे सबसे प्रौढ वह है जिसके प्रवर्तनका श्रेय कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एगेल्सको है । यह दोनो ही जर्मन थे । इनके ग्रन्थ और लेख वैज्ञानिक समाजवादके प्रामाणिक प्रस्थान है । उनमे न केवल समाजवादके सिद्धान्त दिये गये है वरन् व्यावहारिक आदेश भी है । मार्क्स और एगेल्सके विचारोकी महत्ता इसीसे सिद्ध होती है कि आज 'समाजवादी' शब्दसे उसी व्यक्तिका निर्देश होता है जो इनके सिद्धान्तोका माननेवाला हो, किसी दूसरे खयालको माननेवालेके लिए कोई न कोई विशेषण जोडना पडता है ।

यो तो मार्क्स, एंगेल्स तथा इनके शिष्योने समाजवादके विषयमे बहुत कुछ लिखा है परन्तु दो ग्रन्थ विशेषतया प्रामाणिक है, एक तो मार्क्स और एगेल्स लिखित 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' (स० १९०५ मे प्रकाशित) और दूसरी मार्क्स लिखित 'दास कापिताल' (१९१४ से १९५१ तक प्रकाशित) ।

वैज्ञानिक समाजवादी न्याय और मनुष्यताके नाते पीडितोकी अवस्थामे सुधार नही करना चाहता । वह धनिको और अधिकारवालोसे दयाकी भिक्षा नही माँगता और न उनके हृदयोके परिवर्त्तनकी चेष्टा करता है । वह संसारके लिए क्या उचित और न्याय्य है, इसका आदर्श बनाने भी नही बैठता और न किसी उत्तरकुरुको अपना लक्ष्य मानता है । उसकी परिपाटी वही है जो कुशल वैद्यकी होती है । वैद्य रोगीकी परीक्षा करते समय अपने मस्तिष्कके किसी सिद्धान्तसे काम नही लेता; यह देखता है कि रोगीका शरीर क्या बतलाता है । नाडी देखकर, चाहे यन्त्रोकी सहायता

लेकर, सबसे पहिली और आवश्यक बात रोगका निदान है। मूल रोगके साथ उपरोग अनेक होते हैं पर मूलरोगको ही पहिचानना और पकडना चाहिए। उसके शमनके बाद उपरोग और उपलक्षण आप ही शान्त हो जायँगे। वैद्य यह भी जानता है कि यद्यपि शरीरमे रोगके कीटाणु या अन्य बाह्य वस्तुका प्रवेश हो जाता हैं पर शरीर स्वय अपनेको नीरोग करनेका प्रयत्न करता है। ज्वर स्वय कोई रोग नही है वरन् इस बातका सूचक है कि शरीरके भीतर रोग और रोग-नाशक शक्तियोमे, जो रोगके साथ ही जागरित हो उठती है, संघर्ष हो रहा है। इसलिए कुशल वैद्य यह प्रयत्न करता हैं कि प्रकृतिका अध्ययन करके उसकी सहायतासे काम ले। जो औषध यो ही मनमाने ढगसे दे दी जायगी वह प्रकृतिकी रोग-नाशक शक्तियोको कुण्ठित कर देगी और रोगीका प्राण ही ले लेगी। औषध देनेवालेके सद्भाव रोगीको नही बचा सकते। जो औषध प्रकृतिके साथ चलनेवाली होगी, जिस दिशामे प्रकृति शरीरको ले जाना चाहती है उस दिशामे चलनेमे सहायक होगी, वह उपयोगी होगी। जो वैद्य ऐसी औषध दे सकता है अर्थात् जो प्रकृतिकी गतिविधिको पहिचान कर उसके अनुकूल काम करना जानता है वही कुशल चिकित्सक है।

यह सब केवल रूपक बाँधनेके लिए नही कहा गया है। वैज्ञानिक समाजवादीकी यही पद्धति है। वह मनुष्य समाजकी हजारो खराबियोको देखता है पर इनमेसे एकके पीछे नही दौडता क्योकि वह समझता है कि इनमेसे अधिकाश गौण और उपलक्षण मात्र है। वह मूलरोगको पकडनेका प्रयत्न करता है और यह देखता है कि समुदायके भीतर वह कौन-सी शक्तियाँ है जो स्वत. इस रोगके उच्छेदका प्रयत्न कर रही है। उसको यह अनुभव है कि व्यक्तिकी भाँति समूहमे भी रोगके साथ ही उसको उन्मूलन करनेवाली शक्तियाँ भी जाग उठती है। वह इन्हीको दृढ करना चाहता है। प्रकृति जिस अवस्थाको उत्पन्न करना चाहती है उसीको सामूहिक स्वास्थ्य मानकर वह अपना लक्ष्य बनाता है। इसलिए उसकी प्रक्रिया वैज्ञानिक

कहलाती है। इसके साथ ही इसी पद्धतिका अनुसरण करनेसे मनुष्यता और सच्चे न्यायकी भी पुष्टि होती है।

वैद्यके पास रोगके निदान, रोगके वृद्धि-क्षयक्रम, रोगकी चिकित्सा, शारीरिक रसोके संचय और व्यय आदिके विषयोका एक शास्त्र है। इसको चिकित्सा-दर्शन कह सकते है। यह शास्त्र उसके प्रकृति-निरीक्षण और अनुभवके आधारपर बना है। इसी प्रकार समाजवादका भी दर्शनशास्त्र है जो उसको सामूहिक जीवनके विकास और परिवर्त्तनको समझने और तदनुसार अपनी कार्य्यप्रणाली निश्चित करनेमे सहायता देता है। इसका नाम है ऐतिहासिक भौतिकवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद★। 'ऐतिहासिक' और 'द्वन्द्वात्मक' का अर्थ तो अगले अध्यायमे दिखलाया जायगा पर यहाँ इतना कह देना चाहिए कि 'भौतिकवाद' शब्द भ्रामक है। समाजवादी दर्शन उस अर्थमे भौतिक नही है जिस अर्थमे चार्वाक मत या अन्य कई भारतीय या विदेशीय दर्शन भौतिक है। इसका विकास हीगेलके अध्यात्मवाद†के प्रतिवादमे हुआ, इसलिए यूरोपियन प्रथाके अनुसार इसका 'भौतिकवाद' ऐसा नामकरण हुआ। भारतकी बात होती तो इसे अनात्मवाद या कुछ ऐसा ही नाम देते। अनात्मवाद हमारे लिए कोई नयी वस्तु नही है। परम आस्तिक साख्यदर्शन अनीश्वरवादी है और सारा बौद्धधर्म्म अनात्मवादकी नीवपर खडा है। सब लोगोको यह अनात्मवाद अभिमत नही है पर इस अनात्मवादमे औदार्य्य, तप, ज्ञानके लिए उतना ही स्थान है जितना कि कोई अन्य दर्शन दे सकता है। यह उस बार्हस्पत्य अनात्मवादसे सर्वथा भिन्न है जो यह उपदेश देता है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

★ Historical Materialism or Dialectical Materialism.
† Idealism.

इसीलिए कुछ विद्वान् इसे भौतिकवादके स्थानमे 'वस्तुवाद' या 'याथातथ्यवाद'§ कहते है। मै स्वयं 'द्वन्द्वात्मक अनात्मवाद' नाम पसन्द करता हूँ।

समाजवादको यथार्थरूपसे समझनेके लिए उसके आधारस्वरूप दर्शनको जानना आवश्यक है। मै उसका थोडा-सा निरूपण करूँगा। प्रत्येक पाठकको यह सोचना चाहिए कि इस विचार-शैलीसे उसकी बुद्धिको कहाँतक परितोष होना है। यह भी विचार करनेका विषय है कि यदि यह दार्शनिक मत स्वीकार न किया जाय तो व्यवहारमे समाजवादी ढगसे व्यवस्थाको क्या आधार दिया जा सकता है।

ऐसे भी लोग है जो समाजवादके साथ दर्शनके योगको देखकर चौकते है। बहुतोकी ऐसी धारणा है कि समाजवाद क्रान्तिकी एक व्यावहारिक योजना है। ऐसे लोगोको लेनिनका यह वाक्य स्मरण रखना चाहिए—क्रान्तिकारी सिद्धान्तके बिना क्रान्तिकारी आन्दोलन नही हो सकता।

दर्शनके सम्बन्धमे मै अपनी पुस्तक चिद्विलाससे कुछ वाक्य उद्धृत करता हूँ जो यहाँके लिए प्रासङ्गिक प्रतीत होते है—

जो शास्त्र सम्पूर्ण विश्वको, समूचे जगत्को, एक मानकर उसके स्वरूपको, उसके अवयवोके पारस्परिक सम्बन्ध और कुलमे उनके स्थानको, और उसके विकास और सङ्कोचको अपना विषय बनाता है इसको अध्यात्मशास्त्र या दर्शनशास्त्र कहते है। दर्शनशास्त्रको विभिन्न एकदेशीय शास्त्रोसे निष्पन्न सामग्रीसे काम लेना पडता है ... उसको मिलाकर एकमे ग्रथित करना पड़ता है तभी सार्वदेशिक चित्र बन सकता है।

सर्वका ज्ञान ही अज्ञानकी निवृत्ति है, इसलिए दर्शन मोक्षशास्त्र है।

(आधारखण्ड—पहिला अध्याय)

दार्शनिक ज्ञान—विश्वके सत्य स्वरूपका ज्ञान—धर्म्मज्ञानका साधन होगा। हमको उससे ज्ञात होगा कि जगत्मे हमारा क्या स्थान है, किस-

---

§ Realism.

किसके साथ कैसा सम्बन्ध है, इस सम्बन्धसे हमारे कैसे कर्तव्य उत्पन्न होते है और इन कर्तव्योका किस प्रकार पालन किया जा सकता है।....... पूर्णज्ञानकी नीवपर समाजका जो सङ्घटन होगा वह निर्दोष होगा।........ अव्यवस्थामे प्रत्येक व्यक्तिको अपना मार्ग, अपने स्वार्थ, अपने अर्थ और कामको, प्रधान लक्ष्य मानकर चुनना पड़ता है। स्वार्थोंके अत्यधिक सङ्घर्ष-के अनुसार वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका नियमन होता है। किसी भी दार्शनिक सिद्धान्तके आधारपर व्यक्तिके और समुदायके जीवनको सङ्घटित करना अव्यवस्थासे लाख गुना श्रेयस्कर है।

(आधारखण्ड—पाँचवाँ अध्याय)

छठाँ अध्याय

द्वन्द्वात्मक अनात्मवाद

यह जगत् सत्य★ है। कुछ लोग इसको स्वप्नवत् मिथ्या मानते है, पर यह उनकी भूल है। इसके मिथ्यात्वका कोई प्रमाण नही है। उस पदार्थको सत्य कहते है जिसकी सत्ता द्रष्टृसापेक्ष न हो अर्थात् जिसकी सत्ता किसी साक्षीपर निर्भर न हो। मै अपने कमरेमे बैठा हूँ। मेरे सामने

★ दर्शनका अध्ययन पाश्चात्य देशोमें केवल सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए होता है। लोग यथासम्भव जगत्का स्वरूप, उसका कारण, उसका विकास, जीव-अजीवका रहस्य आदि समझना चाहते है। भारतमें दर्शनके अध्ययनका प्रधान उद्देश्य मोक्ष है। समाजवादीका उद्देश्य इन दोनोसे भिन्न है। वह जगत्का रहस्य इसलिए जानना चाहता है कि उसको समझकर जगत्को परिवर्तित कर सकें। वह जगत्की वर्तमान अवस्थाका सुधार ईश्वर, प्रारब्ध या नियतिपर नही छोडना चाहता। जैसा कि मार्क्सने कहा है, 'दार्शनिकोने जगत्को अनेक प्रकारसे समझनेकी चेष्टा की है, प्रश्न यह है कि उसको परिवर्तित कैसे किया जाय।'

मेरा यह दावा नहीं है कि मार्क्स और एंगेलसके दार्शनिक विचारकी जो व्याख्या मै कर रहा हूँ वह उनके सभी अनुयायियोंको अभिमत है पर इसके साथ ही मेरा यह विश्वास है कि मैंने उसको कहीं विकृत नहीं किया है। भारतीय पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग मेरी सम्मतिमें सर्वथा उचित है और भारतीय विचारधारासे तुलना करनेमें सहायता देता है।

एक पुस्तक है। यह कहा जा सकता है कि यह पुस्तकरूपी दृश्य मेरे अन्तःकरणरूपी द्रष्टाकी अपेक्षा करता है अर्थात् यदि मै इसका अनुभव करनेवाला न होता तो इस पुस्तकका अस्तित्व लुप्त हो जाता। इसपर यह आपत्ति की जा सकती है कि मै हूँ या न हूँ, पुस्तक रहेगी। इसके जवाबमे यह कहा जाता है कि मै न सही, कोई न कोई अन्त करण तो उसका अनुभव करनेवाला होगा। यदि यह बात ठीक हो कि प्रत्येक वस्तुकी सत्ता किसी न किसी अनुभव करनेवाले अन्त करणकी अपेक्षा करती है तो क्या उस जगह जहाँ अनुभव करनेवाला पशु, पक्षी, मनुष्य किसीका अन्त करण नही है वहाँ जगत् नही है ? या जिस समय मनुष्यादि प्राणधारी नही थे, उस समय जगत्का अभाव था ? यदि किसी समय ऐसे सब अन्त.करण प्रसुप्त या विलीन हो जायँ तो क्या जगत् न रहेगा ? क्या सचमुच जगत् मनोराज्य है ? जहाँ कोई अन्त·करण नही है, वहाँ मनोराज्य कैसे होगा ? वहाँ तो केवल शून्यदिक् और शून्यकाल रहेगा। पर दिक् और काल भी तो अन्तःकरण द्वारा अनुभूत या अनुमित होते है या, कुछ लोगोके विचारके अनुसार, अन्तःकरणके ही धर्म्म है, फिर जहाँ अन्त करण न होगा वहाँ दिक् और कालकी सत्ता कैसे रह सकती है ? इन सब प्रश्नोके तीन प्रकारके उत्तर हो सकते है। एक तो यह कि वस्तुत· जगत् मिथ्या है। उसका अस्तित्व है ही नही। दूसरा उत्तर यह है कि ईश्वर त्रिकालका साक्षी है। उसके अन्त.करणमे जो सकल्प-विकल्प उठते रहते है वह जगत्रूपसे प्रतीत होते है। जहाँ और जिस समय और कोई साक्षी नही होता उस समय भी ईश्वर रहता है, इसलिए उसके मनोराज्य-स्वरूप जगत् रहता है। जब मनुष्यादि कोई प्राणी नही था, तब भी ईश्वर था, इसलिए जगत् था। यही बात भविष्य कालके लिए लागू है। मार्क्स इन दोनो सिद्धान्तोको नही मानते। उनका कहना है कि जगत् सत्य है अर्थात् जब कोई अनुभव करनेवाला अन्त.करण नही था, तब भी था और जब कोई अनुभव करनेवाला अन्तःकरण न होगा तब भी रहेगा।

जगत्के सत्य होनेका अर्थ यह है कि जगत्-प्रवाह अनादि और अनन्त है। इसका जो रूप आज है वह पहले न रहा होगा, आगे भी न रहेगा। उसमे तो निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तनशीलता उसका मुख्य लिङ्ग है। यह प्रश्न तो निरर्थक है कि जगत्की उत्पत्ति किससे हुई। यह प्रश्न करनेका तात्पर्य यह होगा कि एक दूसरा प्रश्न जगत्की उत्पत्तिके हेतुके विषयमे पूछा जाय। यदि कोई स्रष्टा माना जाय तो यह प्रश्न होगा कि उसने सृष्टि क्यो की ? स्रष्टाकी उत्पत्ति कैसे हुई ? यदि ईश्वर बिना रचयिताके हो सकता है तो जगत् ही बिना रचयिताका क्यो न माना जाय ? इस सम्बन्धमे सभी देशोके दार्शनिकोने बहुत विचार किया है जिसको यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नही है। यहाँ इतना ही बतला देना पर्याप्त है कि मार्क्स जगत्का कोई आरम्भक या स्रष्टा नही मानते। जगत्का विकास अर्थात् उसके स्वरूपमे परिवर्तन किसी बाहरी शक्तिके अधीन नही है। उसकी भीतरी शक्ति, उसका स्वभाव ही, उसके लिए प्रेरक है। इसलिए जगत्की प्रगति किसी विशेष दिशामे नही है। उसका कोई विशेष, निश्चित, उद्देश्य नही है।

जगत्के विषयमे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका हमारे पास कोई साधन नही है। यदि जगत् किसी लौकिक या अलौकिक व्यक्तिका मनोराज्य या उद्देश्य-प्रसूति होता तो हम उस व्यक्तिके अन्त करणके साथ तादात्म्य प्राप्त करके उसको यथावत् जान लेते। वेदान्तके शब्दोमे हमारा ज्ञान हस्तामलक ज्ञान होता पर जो पदार्थ स्वतन्त्र सत्ता रखता है और प्रतिक्षण परिवर्तनशील है उसको बुद्धिमे बाँधा नही जा सकता। पर ज्यो-ज्यो हमारे ज्ञानके करणोमे उन्नति होती जाती है त्यो-त्यो हमारा ज्ञान यथार्थज्ञानके सन्निकट आता जाता है।

जगत्का मूल स्वरूप क्या था ? इसके सम्बन्धमे दो प्रकारके उत्तर हो सकते है। एक प्रकारका उत्तर तो यह है कि मूल पदार्थ एक ही था। दूसरा यह है कि जीव और अजीव, चेतन और जड, दो पदार्थ थे। इससे

मिलता-जुलता योगदर्शनका यह सिद्धान्त है कि मूलमे पुरुष, ईश्वर और प्रकृति तीन पदार्थ थे। एक पदार्थ माननेवाला अर्थात् अद्वैतवादी सिद्धान्त भी दो प्रकारका हो सकता है। एक तो यह कि मूल पदार्थ चेतन था। यह प्राय शङ्कराचार्य्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्तका अद्वैतवाद है। इसीके अन्तर्गत वह सब सिद्धान्त है जो ब्रह्म या तत्सम किसी पदार्थकी विकृतिसे जगत्का विकास मानते है। मार्क्स और एंगेल्स इनमेसे किसी भी सिद्धान्त-को नही मानते। वह अद्वैतवादी है पर उनका जगन्मूल अद्वय पदार्थ चेतन नही है। उनके अनुसार इस जगत्का मूल स्वरूप 'मैटर' था। इस पाश्चात्य 'मैटर' शब्दका पर्याय कुछ लोग भूत या तत्त्व करते है। मैटर पञ्चमहाभूतके लिए भी प्रयुक्त हो सकता है पर दार्शनिक परिभाषामे यह वह पदार्थ है जिससे जगत्का विकास हुआ है और जो स्वतः जड है। भारतीय दर्शनमे उस पदार्थको जिससे अन्य पदार्थ मिलते है प्रकृति कहते है। जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थसे निकला है उसे विकृति कहते है। अधिकाश पदार्थ प्रकृतिविकृति है अर्थात् वह किसी पदार्थसे निकले है और उनसे कोई पदार्थ निकलता है। परन्तु जगत्का मूल केवल प्रकृति है। इसीसे इसे मूल प्रकृति कहते है। इसका दूसरा नाम प्रधान भी है। प्रधान जड है। उसकी सत्ता है पर उसमे चेतना नही है। उसका स्व-रूप चित् नही केवल सत् है। यह प्रधान ही उच्च कोटिके यूरोपियन दर्शन-का 'मैटर' है। मैंने इस प्रसगमे प्रधान शब्दका व्यवहार किया तो है पर यह प्रयोग स्वयं मुझे खटकता है। प्रधानसे चेतन वस्तुको छोडकर और सब निकला है। चेतनकी स्वतन्त्र सत्ता है। परन्तु मार्क्सका मैटर सबका जनक है। चेतना भी उसीसे आविर्भूत हुई हे। अतः मेटीरिअलिज्मको अनात्मवाद कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। इस दशामे मैटरको जड तत्त्व या अनात्मतत्त्व कहना होगा।

ऊपरके कथनमे एक और दो संख्यावाची शब्दोको व्यक्तिसूचक नही वरन् जाति सूचक समझना चाहिए। मूल पदार्थ विजातीय भेद रहित होते

हुए भी संख्यामे एकसे अधिक हो सकता है। यदि वह जड़ था तो ऐसा हो सकता है कि आरम्भमे अनेक जड़ पदार्थ रहे हो, यदि चेतन था तो सम्भव है अनेक चेतन रहे हो। विभिन्न दर्शनोमे यह सब मान्यताएँ देख पड़ती है। शाङ्कर वेदान्तके अनुसार मूल पदार्थ सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहित था, अर्थात् वह एक, एकरस और अखण्ड था। साख्यके अनुसार दो प्रकारके मूल पदार्थ थे। इनमेसे प्रधान तो एक था—परन्तु चेतन अर्थात् पुरुष असख्य थे। मार्क्सका मैटरके विषयमे कोई अपना आग्रह नही है। आरम्भमे जो मूल पदार्थ था वह केवल जड था इतना तो वह कहते है परन्तु मैटर साराका सारा एक ही प्रकारका था या अनेक प्रकारका, परमाणुओमे विभक्त था या नही, उसमे क्या-क्या गुण थे, इन सब प्रश्नोका उत्तर विज्ञानके ऊपर छोडते है। भौतिक विज्ञान जड़तत्त्वका जो परमरूप बतलायेगा वह मार्क्सवादीको मान्य होगा।

मूलरूप क्या था? यह प्रश्न समीचीन नही है। भाषाकी बनावटके कारण हमको ऐसे शब्दोका प्रयोग करना पडता है परन्तु दर्शनके विद्यार्थीको तथ्य समझ लेना चाहिए। यदि मैटर, अनात्मतत्त्व, परिवर्तनशील है तो उसका कोई मूलरूप कैसे बताया जाय? जो भी रूप हमारे अध्ययनका विषय होगा उसके पहिले कोई और रूप हो चुका होगा। यदि कोई निश्चित मूलरूप प्रतिपादित किया जायगा तो यह मानना पडेगा कि किसी निश्चित कालके बाद परिवर्तन आरम्भ हुआ। तब प्रश्न यह होगा कि ऐसा क्यो हुआ? परिवर्तनकी प्रेरणा देनेवाली शक्ति कहाँसे आयी? यदि मूल पदार्थके भीतर थी तो अबतक रुकी क्यो थी? यदि बाहरसे आयी तो फिर मूल पदार्थ अकेला न रहा होगा, कम-से-कम दो पदार्थ रहे होगे।

इन सब प्रश्नोपर इस पुस्तकमे विचार नही हो सकता परन्तु दर्शनमे इनका बहुत महत्त्व है। जो व्यक्ति मार्क्सवाद या किसी अन्य दार्शनिक मतका अध्ययन करना चाहता हो उसको इनपर मनन करना होगा

और विचारसामग्रीके लिए बडी पुस्तकोको देखना होगा। मेरा अपना सिद्धान्त 'चिद्विलास'मे ग्रथित है।

अस्तु, इस पदार्थसे क्रमश सारे जगत्का विकास होता है। सारा जगत्—सारा चराचर विश्व—एक साथ ही नही निकल आता। क्रमश एक पदार्थके पीछे दूसरा पदार्थ, एक अवस्थाके पीछे दूसरी अवस्था प्रकट होती है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे स्थूल वस्तुएँ, कीटाणुसे लेकर मनुष्य तक, परमाणुके अङ्गभूत विद्युत्कणसे लेकर आकाशस्थ महा-सूर्य्यतक, रासायनिक तत्त्वोसे लेकर बुद्धितत्त्व और चेतनातक, सभी इसी-मेसे अभिव्यक्त हुए है।

अब प्रश्न यह होता है कि अनात्मतत्त्वका रूप विकृत कैसे होता है, उसमे परिवर्तन कैसे होता है ?

उसकी कोई भी अवस्था ले ली जाय, वह कई परस्पर विरोधी प्रवृत्तियोकी साम्यावस्था होती है। यह विरोधी प्रवृत्तियाँ प्रसुप्त हो या उदार, पर जबतक यह एक-दूसरीको सँभाले रहती है तबतक अवस्था एकसी रहती है। साख्यके अनुसार भी सत्त्व, रज, तम अर्थात् तीनो पर-स्पर विरोधी गुणोकी साम्यावस्था ही प्रधान है। प्रत्येक अवस्थामे विप-रीत धर्म्म एक दूसरेमे समवेत रहते है। इस विपरीत समवाय★के द्वारा ही आगे चलकर विकास या परिवर्तन होता है। पर यह साम्यावस्था बहुत दिनो तक नही रह सकती। जिन विपरीत तत्त्वोका समावेश उस अवस्था-मे होता है उनमे स्वभावत क्षोभ उत्पन्न होता है। धीरे-धीरे एक कुछ प्रबल होने लगता है। उसकी मात्रा बढती जाती है। बढते-बढते एक ऐसी सीमातक पहुँच जाती है जब कि वह पूर्वावस्था बदलकर नयी ही अवस्था, नया ही स्वरूप उत्पन्न होता है। इस प्रक्रियाको 'मात्राभेदसे

★ Interpenetration of contradictories.

गुणभेद'★ कहते है। उदाहरणके लिए जलको ले लीजिए। एक शक्ति है जो जलके परमाणुओको एक-दूसरेकी ओर आकृष्ट किये हुए है। दूसरी शक्ति उनको एक-दूसरेसे पृथक् करती है। दोनोकी साम्यावस्थामे जल-का रूप रहता है। जब वियोजक शक्तिकी मात्रा बढने लगती है तो बढते-बढते एक ऐसी सीमातक पहुँच जाती है जब जलके गुणके स्थानमे दूसरे गुण प्रतीत होने लगते है और जलके स्थानमे भाप आ जाती है। यदि सयोजक शक्तिकी मात्रा बढती तो गुणान्तरकी प्रतीति होती और जलके स्थानमे बर्फ देख पडता। यह नयी अवस्था प्रथम अवस्थासे विप-रीत होती है अत इसे उसका विपरिणाम †कहते है। परन्तु कुछ कालमे जिस प्रकार पहली अवस्थासे दूसरी अवस्था बनी थी उसी प्रकार इस दूसरी अवस्थामे भी साम्यावस्थाका प्रणाश अर्थात् क्षोभ उत्पन्न होता है। क्रमात् यह भी बदलती है। इसका भी विपरिणाम उत्पन्न होता है। यह तृतीय अवस्था पहली अवस्थाके विपरिणामका विपरिणाम‡ होती है। जिस प्रकार द्वितीय अवस्था प्रथम अवस्थामे बीजरूपसे वर्तमान है उसी प्रकार तृतीय अवस्था द्वितीय अवस्थामे बीजरूपसे वर्तमान है। प्रत्येक अवस्था अपनी पूर्ववर्तीके विपरीत होती है पर अपने गर्भमे उसका कुछ अंश ले आती है। इस प्रकार प्रत्येक उत्तरवर्ती अवस्थामे प्रत्येक पूर्ववर्ती अवस्थाका कुछ अंश विद्यमान रहता है। जो विपरिणामका विपरिणाम होता है उसमे मूल और विपरिणाम दोनोका समन्वय होता है अर्थात् वह दोनोके मुख्याशोकी साम्यावस्था होता है। इसके बाद उसकी दशा स्वय मूल अवस्था जैसी होती है अर्थात् उसमे स्वय परिवर्तन होता है। क्रमात् उसका विपरिणाम और विपरिणामका विपरिणाम उत्पन्न होता है। यो ही परम्परा चलती रहती है और तत्त्वसे तत्त्वा-

---

★ The changing of quantity into quality. † Negation.
‡ Negation of the negation.

न्तर, अवस्थासे अवस्थान्तर, बनता रहता है। यही इस जगत्के विकास-का क्रम है।

मूल अवस्थाको वाद★, विपरिणामको प्रतिवाद † और विपरिणामके विपरिणामको युक्तवाद§ भी कहते है। यह शब्द शास्त्रार्थकी प्रक्रियासे लिये गये है। शास्त्रार्थ करते समय पूर्वपक्षी जो कुछ कहता है वह वाद है। सम्भवत. उसमे सत्यका अंश है परन्तु पूर्ण सत्य नही है। उत्तरपक्षी उसके उत्तरमे जो कहता है वह प्रतिवाद है। सम्भवत इसमे भी सत्यका अंश है। अब यदि कोई निर्णायक होगा तो वह वाद और प्रतिवाद दोनोका समन्वय करेगा। इस प्रकार सत्यका जो रूप स्थिर होगा वह युक्तवाद होगा और यथार्थ नही तो उसके समीपतर अवश्य होगा।

यूरोपमे पहले पहल हीगेलने इस सिद्धान्तका प्रवर्तन किया था कि जगत्का विकास इस वाद-प्रतिवाद-युक्तवाद या मूल अवस्था-विपरिणाम-विपरिणामका विपरिणाम-क्रमसे होता है। विवर्तनके इस प्रकारको द्वन्द्वात्मक[] कहते है, क्योकि प्रत्येक वाद अपने द्वन्द्वस्वरूप प्रतिवादको अपने गर्भसे उत्पन्न करता है। यह हो ही नही सकता कि वाद हो और प्रतिवाद न हो। प्रतिवादकी अभिव्यक्ति देरमे हो पर वह बीजरूपसे अवश्य रहता है, कमसे कम वह आभ्यन्तर क्षोभ जो आगे चलकर विपरिणामके रूपमे व्यक्त होता है साम्यावस्थाके स्थापित होनेके साथ ही आरम्भ हो जाता है। हाँ, यदि विपरीत धर्मोका ही किसी प्रकार अभाव हो जाय तो वादके पीछे प्रतिवाद नही आ सकता। यह बात तो व्यावहारिक नही है परन्तु विकास-की किसी विशेष लडीको नि सन्देह तोडा जा सकता है। बीज वाद है पृथ्वीमे पडकर उससे जब अंकुरादिका प्ररोहण हुआ तो उसका विपरिणाम

★ Thesis. † Anti-thesis. § Synthesis.

[] Dialetical,

या प्रतिवाद हुआ। जब फिर नये बीज बने तो यह नये बीज युक्तवाद अर्थात् मूल बीजके विपरिणामके विपरिणाम है। यह विकासका क्रम है। पर यदि कोई बीज विशेष दग्ध कर दिया जाय तो उनके विकासकी शृंखला समाप्त हो जायगी।

यद्यपि शारीरक भाष्यमे शङ्करने 'प्रधानमल्ल निवर्हणन्यायेन' साख्यके मतका खण्डन किया है पर बहुतसे अद्वैतवादी साख्यके विकास-क्रमको मानते है। उनके अनुसार साख्य और वेदान्तका जो समन्वय होता है उसमे द्वन्द्वात्मक पद्धतिकी झलक मिलती है।

जगत्का मूल स्वरूप ब्रह्म है। ब्रह्म अखण्ड, अद्वय, सत्, चिन्मात्र है। उसका कोई वर्णन नही हो सकता अत वह नेति-नेति वाच्य है। ब्रह्म वाद है। वह अपने प्रतिवादस्वरूप मायाको अभिव्यक्त करता है। माया ब्रह्मसे भिन्न पर अभिन्न है। वह ब्रह्मका स्वभाव है, अचित् है। ब्रह्म और मायाका युक्तवाद परमात्मा है। 'परमात्मा अपने प्रतिवाद स्वरूप आद्या, अविद्या, को अभिव्यक्त करता है। ईश्वर और अविद्याका युक्तवाद पुरुष है। पुरुष अपने प्रतिवाद स्वरूप मूल प्रकृतिको व्यक्त करता है। इन दोनोका युक्तवाद महत् है। इसी प्रकार क्रमशः स्थूल भूतोतक विकास होता जाता है। मेरे कहनेका यह तात्पर्य नही है कि किसीने द्वन्द्वात्मक या एतत्सम किसी दूसरे शब्दका प्रयोग किया है पर जो विकासक्रम दिखलाया गया है उसकी इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है।

हीगेलके अनुसार जगत्का मूल पदार्थ सत् होनेके साथ-साथ चेतन भी है। यह ध्यान रखना चाहिए कि वह वेदान्तके ब्रह्मके समान चिन्मात्र—शुद्धचित्, केवल चेतना, ज्ञानमात्रकी सम्भावना नही है वरन् परमात्माके समान चेतन, ज्ञाता है। ज्ञाताके लिए ज्ञेय, ज्ञानकी सामग्री चाहिए। उस परमावस्थामे कोई दूसरा ज्ञेय नही था, अतः अपने आपका अपनी सत्ताका, ज्ञान था। इस अवस्थाका रूप हुआ—मै हूँ।

यदि सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश हो तो उजालेकी अनुभूति नही हो सकती। यदि जगत्मे केवल जल ही होता और कुछ न होता तो यह जल है ऐसा अनुभव न होता। प्रकाशकी प्रतीति अन्धकारकी, अँधेरा उँजालेका, गर्मी ठंढककी अपेक्षा करती है। कोई अनुभूति हो, वह अपनेसे भिन्न किसी अनुभूतिकी भूमिकामे ही व्यक्त हो सकती है। इस आदिम अनुभूतिके लिए भी यही न्याय लागू था। मै—अहम्—की प्रतीति तभी स्पष्ट हो सकती थी जब उसकी पृष्ठभूमिमे न-मै—अनहम्—की सत्ता हो। मूल अनुभूति-का प्रवाह, निरन्तर मै हूँ, मै हूँ, चेतनका अपने आपसे तादात्म्य दृढ कर रहा था। इस अनुभूतिका स्पष्ट रूप यह हुआ —

मै नमै (मैसे भिन्न) नही हूँ।

इस रूपके गर्भमे यह बात है कि नमै भी है, आत्मतत्त्वसे भिन्न किसी अनात्मतत्त्व, अहम्से भिन्न किसी अनहम्की, सत्ता भी है।

अत यह बात निकलती है कि नमै है।

वस्तुत· जगत्के मूलमे मै और नमै दो विजातीय पदार्थ नही थे। चेतन—'मै' शब्द द्वारा वाच्य—ही था। पर अपनी आत्मानुभूतिके स्पष्टी-करणके लिए भूमिका स्वरूप उसने नमैको व्यक्त किया। अपनेमेसे ही नमैका निक्षेप करके उसने इस नमैकी पृष्ठभूमिमे अपने स्वरूपका स्पष्ट अनुभव किया।

मै वाद और नमै प्रतिवाद था। मै चेतन और नमै अचेतन था यह चेतनसे भिन्न नही है परन्तु भिन्न-सा प्रतीत होता है। मै और नमैके योगसे युक्तवाद-स्वरूप जगत्का सूत्रपात हुआ। वह क्रम अब तक जारी है। ज्यो-ज्यो नमैका विकास होता जाता है त्यो-त्यो चेतनका भी विकास होता है। यो कह सकते हैं कि ज्यो ज्यों दर्पणका संस्कार होता है त्यों-त्यो चेतन उसमे अपने स्वरूपको और स्पष्ट देखता है।

वेदान्तके साथ इस मतकी तुलना करना रोचक विषय होगा परन्तु इस जगह विस्तारसे ऐसा नही किया जा सकता। हीगेल भी अद्वैतवादी है परन्तु उनका लोगॉस (मूल पदार्थका यही नाम है। दूसरा नाम आइडिया है) ब्रह्म नही वरन् परमात्मासे मिलता-जुलता है। हीगेलके मतसे जगत्मे जो उच्चतम बौद्धिक ज्ञान हो सकता हो वह आत्मज्ञान है। वेदान्त कहता है कि अपनेको जगत्से खीचकर बुद्धिके भी ऊपर उठनेसे आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

ऊपर मैने हीगेलके मतको जिस रूपसे दिखलाया है उससे स्यात् यह अर्थ निकाला जाय कि आरम्भमे कोई चेतन व्यक्ति था जिसके चित्तमे 'मै हूँ' ऐसी अनुभूति हो रही थी। ऐसा सोचना भ्रामक होगा। ऐसे भी दार्शनिक है जो यह मानते है कि आरम्भमे हिरण्यगर्भ—विश्व अन्तःकरण, परमात्माके चित्त—मे क्षोभ हुआ। यह क्षोभ सङ्कल्प, विचार, आइडिया, जगत्का बीज था। परन्तु हीगेल उन विचारकोमे है जो मूल सङ्कल्प, विचार, आइडिया,के लिए किसी परमात्मा, विचारक रूपी आधारकी आवश्यकता नही समझते। बूँदोसे भिन्न नदी नही होती, इसी प्रकार विचारोसे भिन्न कोई विचारक नही होता। मूल विचार स्वयं चेतन था, वही ज्ञाता और ज्ञान, अनुभवकर्ता और अनुभूति था। इच्छाओ, सङ्कल्पो और ज्ञानो, दूसरे शब्दोमे अनुभूतियोसे भिन्न चित्तकी सत्ता नही होती। अत उस मूल विचार, मूल अनुभूति,को टिकनेके लिए परमात्माका चित्त या किसी ऐसे ही दूसरे सहारेकी आवश्यकता नही थी। ईश्वर भले ही हो परन्तु इस प्रसङ्गमे उसकी अपेक्षा नही है। यह स्मरण रखना चाहिए कि बौद्धदर्शन भी विज्ञानोसे भिन्न किसी आत्माकी सत्ता स्वीकार नही करता।

मार्क्स और एंगेल्सने हीगेलसे इस विकासक्रमको तो ले लिया है पर जगत्का मूल उनके अनुसार कोई चेतन अहम् पदार्थ नही वरन् अचेतन अनात्म तत्त्व था। इसीलिए इनका सिद्धान्त अनात्मवाद कहलाता है।

ऊपर बतलाये हुए कारणसे इस नामके साथ 'द्वन्द्वात्मक' विशेषण लगा हुआ है ।★

जब जगत्का मूल अचेतन था तो फिर किसी नित्य आत्माके लिए स्थान ही नही रह जाता । 'द्वन्द्वात्मक' जोडे रहना अच्छा है, अन्यथा बौद्ध जैसे अनात्मवादी दर्शनोसे भ्रान्ति होनेका डर है । क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन पुनर्जन्मको मानता है पर अबतक मार्क्स और एंगेल्सके अनुयायी ऐसा नही मानते ।

नित्य आत्मा हो या न हो पर जगत्मे चेतनाका अनुभव तो होता ही है । चेतनाके लक्षण है, ज्ञान, इच्छा और क्रिया—स्वयं प्रभावित होना और प्रभावित करना । जहाँ चेतना है वहाँ किसी न किसी प्रकारका अन्त -करण है । किसी न किसी प्रकार मन, अहङ्कार और बुद्धिका क्षेत्र है । अन्त.करणकी विकसित अवस्थामे उसके गुण, राग, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर, काम, क्रोध, औदार्य्य, दया, त्याग, प्रेम इत्यादि भी न्यूनाधिक पाये जाते है । जडवादी इनमेसे किसी भी सत्ताको अस्वीकार नही करता । वह केवल दो बाते कहता है । पहिली तो यह कि इनमेसे कोई भी किसी नित्य आत्माका गुण नही है । दूसरी यह कि जैसे प्रधानके विकास द्वारा अनेक पदार्थो, जैसे सोना, ताँबा, कोयलाकी उत्पत्ति हुई है वैसे ही अन्त करण और उसके गुणोकी भी उत्पत्ति हुई है । पृथ्वी करोडो वर्षोतक प्रज्वलित वाष्पोका पिण्ड थी । उसके भी करोडो वर्ष पीछे वह इस योग्य हुई कि उसपर कोई प्राणी रह सके । जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई तब प्रधानसे अन्त करणकी भी अभिव्यक्ति हुई । ज्यो-ज्यो परिस्थिति अनुकूल होती गयी त्यो-त्यो

★ इसके दो एक प्रचलित नामोंकी ओर हम पिछले अध्यायमें संकेत कर चुके हैं । एक और नाम 'भौतिक विवर्तनवाद' है पर मुझे ऊपर दिये हुए कारणोंसे यह नाम ठीक नहीं जँचते ।

अन्त करणकी अभिवृद्धि होती गयी। किसी भी देशका शिक्षित व्यक्ति करोड़ो वर्षोंकी उन्नतिका दायाद है।

जड प्रकृतिमे चेतनाकी अभिव्यक्ति कैसे हुई यह भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान और मनोविज्ञानका विषय है। इस सम्बन्धमे मार्क्सवादीका अपना कोई आग्रह नही है। आजकल ऐसा माना जाता है कि जब पृथ्वीपर अनुकूल तापमान हुआ तो समुद्रके जलमे वह रासायनिक द्रव्य उत्पन्न हुआ जिसे सत्त्वमूल-प्रोटोप्लाजम कहते है। यह कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन और गन्धकके परमाणुओका मिश्रण है। मिश्रद्रव्य तो लाखो है। हमारे नित्यके व्यवहारकी वस्तुओमे नमक, पानी, शक्कर, घी, तेल सभी रासायनिक मिश्र है, सभीके अपने-अपने गन्ध-रसादि विशेष गुण है परन्तु सत्त्वमूलमे एक निराला गुण—चेतना—पाया जाता है। जहाँ सत्त्वमूल होगा वहाँ चेतना होगी। जहाँ चेतना है वहाँ सत्त्वमूल है। ऐसे भी छोटे प्राणी है जो यन्त्रोसे भी नही देख पडते। उनके शरीर सत्त्वमूलके बहुत छोटे विन्दुमात्र है परन्तु उनमे भी सूक्ष्मरूपसे चेतना होती है। ज्यो-ज्यो सत्त्वमूलके छोटे-बडे टुकडोका सङ्घटन होकर उन्नत शरीर बने त्यो-त्यो चेतनाका विकास हुआ। मनुष्यके शरीरमे चेतनाका अबतकका सर्वोत्कृष्ट विकास पाया जाता है।

जब प्रधानका कोई चेतन नियामक नही है तो यह मानना होगा कि सत्त्वमूलकी उत्पत्ति आकस्मिक थी। जिस प्रकार अन्य बहुतसे मिश्र अनुकूल तापमान, वायुचाप आदि परिस्थितियोमे वन गये वैसे ही सत्त्वमूल भी बन गया पर उसके बननेके साथ ही जगत्के इतिहासका नया अध्याय आरम्भ हो गया। अब जगत् दूसरे प्रकारका जगत् हो गया। अव तक जडत्व अन्धा था अब उसे आँख मिली। उसने अपनेको जाना, पहिचाना, ज्यो-ज्यो चेतनाका, बुद्धिका, विकाम होता है त्यो-त्यो अनात्मके आत्मज्ञानकी मात्रा बढती जाती है। अब तक उसका विकास आकस्मिक, अनियन्त्रित, निरुद्देश्य था, अव वह नियन्त्रणमे लाया जा सका और सोद्देश्य बनाया जा

सका। प्रधानके स्वभावका, उसके प्रधानत्वका, उसके स्वभावसे उद्भूत नियमोका, उल्लङ्घन नही किया जा सकता परन्तु इन नियमोसे काम लिया जा सकता है और चेतनायुक्त सत्त्वमूल, चेतन प्राणी, के रूपमे अचेतन अपने विकासकी गतिका और कुछ हद तक उसकी दिशाका, सयमन कर सकता है और करता है।

परिस्थितिके अनुसार ही अन्त करणके गुणोका अभिव्यञ्जन होता है। जैसे परिस्थितिके अनुसार प्रधानसे कही हिमालय पहाड निकला है, कही प्रशान्त महासागर, कही आकाशगङ्गा और कही ऋण विद्युत्कण, उसी प्रकार परिस्थितिके अनुसार कही क्रूरता व्यक्त होती है, कही उदारता, कही क्षमा और कही क्रोध। मनुष्य ऐसा समझता है कि मै स्वतन्त्र हूँ, अपने सङ्कल्पके अनुसार काम करता हूँ। यदि मेरी इच्छा होती है तो खडा होता हूँ, नही तो बैठा रहता हूँ। यहाँ तक तो ठीक हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि सङ्कल्प करनेका स्वातन्त्र्य कहाँ तक है? मेरा ऐसा सङ्कल्प हुआ इसलिए मै खडा हुआ पर क्या मै दूसरे प्रकारका सङ्कल्प कर सकता था? क्या मेरे अन्त करणमे सिवाय खडे होनेके कोई दूसरा सङ्कल्प उठ भी सकता था? जो लोग नित्य आत्मा मानते है उनके लिए ऐसा मानना सम्भव है, यद्यपि उनमेसे भी बहुतसे सङ्कल्प-स्वातन्त्र्यको भगवदिच्छा या अदृष्ट या किस्मतसे बँधा मानते है। अनात्मवादी कहता है कि प्रधानकी समस्त सन्तति एक ही सूत्रमे बँधी है। जो द्वन्द्वात्मक विकास-क्रम परमाणुओ और पहाडोकी गति-विधिका नियन्त्रण करता है वही कीटसे लेकर मनुष्य तकके अन्त करणका नियमन करता है। किसी समय-विशेषकी अवस्था जिन तत्त्वोकी साम्यावस्था है उनमे मनुष्योके अन्त करण भी है। परिस्थितिके अनुसार इस साम्यावस्थामे क्षोभ होगा अर्थात् इसके भौतिक और मानस दोनो प्रकारके अवयव क्षुब्ध होगे। अन्तमे जो विपरिणाम उत्पन्न होगा, उसमे भौतिक और मानस दोनो प्रकारके तत्त्वोकी नयी अवस्था होगी। पानीका विपरिणाम भाप और बर्फ दोनो हो सकता है।

यह बाहरकी परिस्थितिपर निर्भर है कि किस काल और स्थान-विशेषमे पानी किसमे परिणत होगा। ठीक इसी प्रकार परिस्थिति इसका निश्चय करती है कि अन्त करण कालान्तरमे कौन-सा रूप धारण करेगा अर्थात् किम धर्म्मविशेषसे आच्छादित देख पडेगा। यदि स्वतन्त्र आत्माकी सत्ता होती तो उसके अपने स्वतन्त्र नियम होते परन्तु प्रधानके लिए तो एक ही नियम है।

जो नियम व्यष्टिके लिए है वही समष्टिके लिए लागू है। जो द्वन्द्वमान विकृतिप्रणाली भौतिक और व्यक्तियोके मानस जगत्को परिचालित करती है, उसीके अनुसार व्यक्तियोके समूहोमे भी परिवर्तन होता है। आर्थिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, सभी अवस्थाएँ इसी प्रणालीके अनुसार बदलती रहती है। लोग समझते है कि इतिहासका प्रागण थोडेसे बडे आदमियोकी मनोवृत्तियोका क्रीडाक्षेत्र है। ऋषि-मुनि, धर्म्म-प्रवर्तक, राजा, बादशाह, विद्वान्, नेता, बस इनके मनमे तरगे उठती है और लाखो मनुष्योके सुख-दु खका वारा-न्यारा हो जाता है। इसलिए इतिहासकी पोथियोमे इन्ही लोगोके जीवन-चरितो और कृत्योका विस्तृत वर्णन रहता है, साधारण लोगोका ज़िक्र यो ही गौण रूपसे आ जाता है।

अनात्मवादी ऐसा नही मानता। वह कहता है कि बडे आदमी और आदमियोके समूह द्वन्द्वमान प्रणालीके बाहर नही जा सकते। परिस्थितिके अनुसार उनमे भी परिवर्तन होता है। पर हाँ, जो पदार्थ जितना ही उन्नत होगा, उसके विकासको समझना भी उतना ही कठिन होता है।

मानव-समुदायोके इतिहासपर किस परिस्थितिका प्रभाव पडता है? ऋतु, देशकी भौगोलिक बनावट, समीपस्थ वृक्ष और पशु-पक्षी, इन सबका प्रभाव पडता है पर यह न्यूनाधिक स्थायी है। इनमे परिवर्तन होता भी है तो देरमे, अत इनके प्रभावसे समूहका ऐतिहासिक और सास्कृतिक परिवर्तन प्राय नही होता। मार्क्स और एङ्गेल्सका कहना है कि समुदायका सास्कृतिक जीवन आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर है और यह आर्थिक व्यवस्था

उत्पादन विधिपर निर्भर है। यह इतिहास-सिद्धान्त इन लोगोका विशेष आविष्कार है। उदाहरणके द्वारा इसको समझनेमे सुगमता होगी।

आजसे सौ डेढ सौ वर्ष पहिले पृथ्वीभरमे भूमि ही सम्पत्तिका मुख्य रूप थी। भारतमे यह अवस्था आज भी देखी जा सकती है। उत्पादनका मुख्य साधन कृषि थी। थोडी बहुत कारीगरी थी पर देशकी आर्थिक व्यवस्थाके अनुकूल यहाँकी सारी सस्कृति थी। यह आवश्यक था कि लोग यथासम्भव गाँवमे और घरपर रहे। इसलिए ग्राम-सङ्घटन सुदृढ था और सम्मिलित परिवार होते थे। मजदूरोकी विशेष आवश्यकता न थी पर जितने मजदूर चाहिए थे वह गाँव नही छोडने पाते थे। मजदूरी रुपयेमे नही, अन्नादि कृषिसे पैदा हुई चीजोमे दी जाती थी। शरीरसे काम करनेवालोको विशेष शिक्षाकी आवश्यकता न थी। शासन या अधिकार नरेशो या बडे जागीरदारोके हाथमे था। मजहब और कानून इस व्यवस्थाकी रक्षा करते थे। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियोकी साम्यावस्था थी। क्रमश. उत्पादनकी शैलीमे परिवर्तन हुआ। इसका भी कारण है पर उसे हम यहाँ छोडते है। अब उत्पादन खेतोके स्थानमे मिलोमे होने लगा। इसके लिए इस बातकी आवश्यकता हुई कि बहुतसे मजदूर एक जगह एकत्र हो। जहाँ-जहाँ मजदूर एकत्र होगे वहाँ-वहाँ उनके लिए बाजार, अस्पताल, निवास-स्थान बनेगे अर्थात् नगर बसेंगे। इसके साथ ही ग्रामोसे खिचकर मज़दूर नगरोमे आवेगे अर्थात् गाँव उजडेगे। सम्मिलित परिवार टूट जायँगे, लोग जीविकाकी तलाशमे दूर-दूर जायेंगे और बसेंगे। जिन कानूनी और गैर-कानूनी बन्धनोसे गाँवके निवासी, विशेषत· मजदूर, बाँधकर गाँवमे रखे जाते थे वह शिथिल होगे। मजदूरी नगरमे तो रुपयेमे मिलेगी ही, ग्रामोमे भी मजदूर रुपया ही चाहेगे क्योकि जहाँ पहले उनकी सब आवश्यकताएँ गाँवमे पूरी हो जाती थी वहाँ उन्हे अब पैसा देकर बहुत-सी वस्तुएँ मोल लेनी पडती है। राजनीतिक अधिकार भी सामन्त-सरदारोके हाथसे निकलकर नगरोके रहनेवाले वकीलो, व्यापारियो, महाजनोके हाथमे आ जायगा

और लोकतन्त्रपर जोर दिया जायगा। मजहबका वह रूप जिसमे राजाको भगवान्का स्वरूप मानना और लोक-परलोकके मध्यस्थ पुरोहितो व पुजारियोकी सेवा-पूजा करना मुख्य कर्तव्य होता था, अब रोचक नही प्रतीत होगा। जो हजारो आदमी एक साथ रहेगे उनमे शिक्षा भी होगी, उनके मनमे भाँति-भाँतिके प्रश्न उठेगे। कृषक प्रकृतिका दास रहता है। हवा, पानी, आँधी, बिजलीके आगे वह हार जाता है अत उसकी मनोवृत्ति दीन, शक्तिसे दबनेवाली, होती है। उसकी बुद्धिमे नयी बातें जल्दी प्रवेश नही करतीं। पर विज्ञान तो प्रकृतिपर विजय पाता है और उसमे नित्य नयी उन्नति होती रहती है। अतः मशीनोसे काम लेनेवाला साहसी, निर्भय और नवीनताके लिए उत्सुक रहता है। तात्पर्य्य यह है कि उत्पादन-विधिमे परिवर्तन हो जानेसे वह साम्यावस्था जिसपर पुरानी अवस्था टिकी हुई थी नष्ट हो जाती है और प्रसुप्त शक्तियाँ जागरित हो उठती है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी व्यवस्था उलट-पुलट हो जाती है। मज़हबका कलेवर बदल जाता है। लोगोकी मनोवृत्ति दूसरे प्रकारकी हो जाती है। इस सास्कृतिक परिवर्तनके साथ-साथ शासन-व्यवस्था भी बदलती है। पुरानी अवस्थाका विपरिणाम नयी अवस्था स्थापित होती है। नयी साम्यावस्था पुन. घटित होती है। इस सारी परिवर्तनमालाका नाम इतिहास है। यह जीता-जागता इतिहास हम अपनी आँखो भारतमे देख रहे है। जो अवस्था आजकल है उसको पूँजीवादी अवस्था कहते है। पर इसमे भी क्षोभ उत्पन्न हो गया है। विपरिणामका विपरिणाम उदीयमान है। कहनेका साराश यह है कि आर्थिक व्यवस्था, जो उत्पादनके स्वरूपपर निर्भर है, ऐतिहासिक अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक, साम्प्रदायिक परिवर्तनोकी प्रेरक होती है।

अनात्मवादी यह नही कहता कि लोग प्रतिक्षण आर्थिक बातोको सोचकर उनके अनुसार काम करते है। देश या मजहब या इज्जतके लिए मर मिटनेवाले, पीड़ितोंकी सहायताके लिए अपने सर्वस्वकी आहुति देने-

वाले, रुपयोके लिए यह सब नही करते। प्रत्यक्षतया तो यह ऊँचे नैतिक भावोसे ही प्रेरित होते है और अनात्मवादी ऐसे भावोका समादर करता है। वह चाहता है कि लोगोमे ऐसे भाव रहे। पर वह यह जानता है कि इन भावोका उदय होना विशेष परिस्थितियोपर ही निर्भर है। आज भारतमे जैसे भाव फैल रहे है वह कुछ समय पहिले नही फैल सकते थे। जो लोग इन भावोसे प्रभावित हो रहे है उनके सामने तो ऊँचे उद्देश्य और आदर्श है पर उद्देश्यो और आदर्शोको विशेष आर्थिक परिस्थितियोने ही सम्भव बनाया है। अन्त करणपर इन परिस्थितियोका जो प्रभाव पड रहा है वही प्रशस्त भावोको जगा रहा है। यह प्रभाव ज्ञात नही पर सत्य है।

ऊपर जो कुछ समासेन कहा गया है उसे इतिहासकी आर्थिक व्याख्या★ कहते है। इसमे इतिहासको बदलनेका श्रेय किसी अलौकिक व्यक्तिकी इच्छाको नही दिया गया है। यह भी नही कहा गया है कि विशेष निर्दिष्ट दिशामे विकास होगा। केवल यह कहा गया है कि ऐतिहासिक परिवर्त्तनोकी प्रेरणा आर्थिक हेतुओसे मिलती है।

यहॉपर एक प्रश्न यह उठता है कि जब ऐतिहासिक परिवर्तन इस प्रकार होते है तो क्या हमको पहलेसे उनका ज्ञान हो सकता है? इसका उत्तर हॉ भी है और नही भी। किसी समय-विशेषमे जो अवस्था होती है उसके अङ्गभूत भौतिक पदार्थ—धातु, लकडी, परमाणु—या भौतिक शक्तियाँ—ताप, विद्युत्, प्रकाश—इत्यादि भी होते है और अन्तःकरण भी। भौतिक पदार्थो और शक्तियोमे सजातीय समता होती है। एक टुकडे सोनेका व्यवहार दूसरेसे भिन्न नही होता। प्रकाशके नियम सर्वत्र एकसे ही होते है। अत· किसी एक अवस्थाके पीछे इनकी क्या अवस्था होगी, यह कहा जा सकता है। परन्तु अन्त करणोमे· विषमता होती है।

★ Economic or Materialist Interpretation of History.

दावेके साथ यह नही कहा जा सकता कि अमुक विशेष अन्तःकरण ठीक अमुक प्रकारसे व्यवहार करेगा। अन्तःकरण बाहरी परिस्थितिसे प्रभावित होता है पर उसको देखकर प्रतिवादके विषयमे यथार्थ भविष्यद्वाणी नही की जा सकती।

इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ब्योरेवार भविष्यद्वाणी चाहे न की जा सके पर जो द्वन्द्वमान विकासक्रमको समझता है वह किसी अवस्था-विशेषका विश्लेषण करके यह समझ सकता है कि इसकी साम्यावस्था किस दिशामे भग्न होनेवाली है। वह उसके भीतरकी शक्तियोकी गतिविधि और परिस्थितिसे यह अनुमान कर सकता है कि अब इनमेसे कौन-सी शक्तियाँ जागरित और उग्र होने जा रही है। इसका तात्पर्य यह है कि वह प्रतिवादके स्वरूपका चित्र खीच सकता है।

इस सिद्धान्तकी यही सबसे बडी विशेषता है। अन्य सिद्धान्तोके सत्या-सत्यका निर्णय तर्कसे ही हो सकता है। वेदान्त तर्कको तो नही मानता, 'तर्काप्रतिष्ठानात्', पर अपनी सत्यताकी कसौटी स्वसंवेद्य अनुभवको ठहराता है। परन्तु यह वाद अपनी सत्यताकी परीक्षा व्यवहारसे करता है। इसमे 'सिद्धान्त और व्यवहारकी एकता'* पर विशेष प्रकारमे जोर दिया जाता है। अपनी बुद्धिसे केवल तर्कके आधारपर सिद्धान्तका आविष्कार करनेके बदले जगत्‌के व्यवहारका वैज्ञानिक अनुशीलन करके सिद्धान्त स्थिर करना चाहिए और फिर इस सिद्धान्तसे जगद्व्यापार चलाना चाहिए। साधारण सुधारक उचित-अनुचित, न्याय-अन्यायकी कसौटीपर कसकर जो बात ठीक जँचती है, उसे कार्य्यमे परिणत करना चाहता है। अनात्मवादी ऐसा नही करता। वह वैज्ञानिक शैलीसे चलता है जिस प्रकार विज्ञानवेत्ता प्राकृतिक नियमोको समझकर उनके अनुसार काम करता है और लाभ उठाता है, उसी प्रकार द्वन्द्वमान अनात्मवादका विद्यार्थी परिस्थितिका अध्ययन करके

---

* Unity of Theory and Practice,

देखता है कि परिस्थिति स्वयं किधर झुकनेवाली है। उसी दिशामे प्रयत्न करता है। जो शक्तियाँ दबनेवाली है उनको दबाकर जो प्रदीप्त होनेवाली है उनके जागरणमे सहायता करना है। अत जो प्रतिवाद प्रकृत्या देरमे आता उसे जल्द ही स्थापित करा देता है। यही उद्योगकी उपयुक्तता सिद्ध होती है, अन्यथा द्वन्द्वमान विकास तो स्वत· होता ही रहेगा।

इस प्रणालीमे महापुरुषोके लिए स्थान है या नही? अवश्य है। पहले तो जिसकी प्रतिभा जितनी ही तीव्र होगी, वह द्वन्द्वात्मक विकास-गतिको समझकर भावी परिवर्तनके रूपको पहिचानेगा और तदनुकूल उद्योग करेगा और करायेगा। उसका उद्योग तथा उद्योग-फल भी उसकी प्रतिभा-के अनुरूप होगा। पुन., महापुरुष अपने युगका प्रतीक और समसामयिक शक्तियोका नाभिविन्दु होता है। पानीमे नमक या शक्कर या फिटकिरी घोल देनेसे कुछ कालके बाद रवा जमने लगता है पर यदि एक कण उस घोलमे पड जाय तो बडी जल्दी रवा जम जाता है। महापुरुष ऐसे कणका काम करता है। जो प्राकृतिक नियम स्वत. देरमे काम करते वह उसके चारो ओर केन्द्रीभूत हो जाते है। वह परिस्थितसे स्वतन्त्र नही है पर परिस्थितिको औरोकी अपेक्षा अधिक प्रभावित कर सकता है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति हजारो साधारण व्यक्तियोकी अपेक्षा अधिक मूल्य रखता है। पर हम महापुरुष उत्पन्न नही कर सकते। जिन प्राकृतिक शक्तियोने महाद्रि और महासूर्य्योकी रचनाकी है, वह कभी ऐसे महापुरुषोको भी जन्म दे देती है। हम उन शक्तियोको थोडा-बहुत पहिचानते है पर उनका पूर्ण नियन्त्रण हमारे हाथमे नही है। जगत्का साधारण काम साधारण व्यक्तियोके ही भरोसे चलता है।

इसपर बहुत जोर दिया जाता है कि समझदार राजनीतिज्ञ या राज-नीतिक दलको 'दृश्यगत' परिस्थितिके अनुसार काम करना चाहिए। इस पदका अर्थ ठीक-ठीक समझ लेना अच्छा है। वेदान्तके अनुसार प्रत्येक वस्तुकी सत्ता तीन प्रकारकी हो सकती है। एक तो उसकी वास्तविक

सत्ता है, इसको पारमार्थिक सत्ता कहते है। जैसे रस्सीकी पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म हैं। दूसरी वह सत्ता है जो साधारणत· लोगोको प्रतीत होती है, जिसके अनुसार जगत्‌का व्यापार होता है, इसको व्यावहारिक सत्ता कहते है—रस्सीकी व्यावहारिक सत्ता रस्सी है। पर कभी-कभी किसी विशेष कारणसे वस्तु अपने व्यावहारिक रूपमे नही प्रत्युत किसी अन्य रूपमे प्रतीत होती है। इस तीसरी सत्ताको प्रातिभासिक सत्ता कहते है जैसे यदि कभी रस्सीको देखकर सर्पकी भ्रान्ति हो तो उस समय रस्सीके इस टुकडेकी प्रतिभासिक सत्ता सर्प होगी।

पाश्चात्य दर्शनमे दो प्रकारकी ही सत्ता मानी जाती है। एक तो वह जो वास्तविक हो, दूसरी वह जो प्रतीत होती हो। 'जो वास्तविक हो' के अन्तर्गत पारमार्थिक सत्ता भी है, यद्यपि वह लोग प्रायश. व्यावहारिक सत्ताको ही महत्त्व देते है। जो प्रतीत होती हो उसके अन्तर्गत व्यावहारिक सत्ता भी हो सकती है और प्रातिभासिक सत्ता तो है ही, परन्तु सत्ताके अन्तर्गत बाहरी रूपके सिवाय और भी कुछ है। जैसे, चाँदीकी एक चेन पडी है। चाँदीकी चेन, यह तो उसकी अपनी वास्तविक सत्ता हुई। अब वह यदि मुझे सर्पके रूपमे देख पड़ती है तो यह दूसरी सत्ता हुई। पर जब वह मुझे सर्पवत् देख पडेगी उस समय मेरे अन्त करणमे केवल सर्पकी आकृति ही न होगी, उसके साथ-साथ सम्भवत भय भी होगा या क्रोध होगा। सम्भवतः किसी पिछले अवसरकी, जब सर्प निकला होगा, स्मृतिकी झलक भी होगी। यदि चेन मुझे सर्पके स्थानमे चेनके रूपमे ही प्रतीत होती तब भी उसकी आकृतिके साथ लोभ या परिग्रहकी इच्छा और किसी प्रकारकी स्मृति लगी होती। पाश्चात्य दार्शनिक द्वितीय सत्तामे, जो साक्षीके अन्तःकरणमे होती है, यह सब मानस विकार अन्तर्भूत मानते है।

अतः इन दोनो प्रकारकी सत्ताओके लिए दो स्वतन्त्र शब्द होने चाहिए। पहिलीको, जो उस वस्तुविशेषकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, जो किसी साक्षीपर निर्भर नही है, जो साधारणतः सभी निर्दोष इन्द्रियवालोको

प्रतीत होती है, दृश्यगत* सत्ता कहते है। दूसरी, जो प्रत्येक द्रष्टाके लिए कुछ-न-कुछ भिन्न है, क्योकि वही वस्तु किसीको प्यारी, किसीको बुरी लगती है, किसीमे कोई स्मृति जगाती है, किसीमे कोई भाव उठाती है, उस वस्तुकी द्रष्टृ★ सत्ता है।

किसी समय-विशेषमे जो परिस्थिति होगी उसके भी दो अंश हो सकते है। कोई केवल व्यक्तियोके भाव और आवेश, उनके राग, द्वेष, क्रोध, महत्त्वाकाक्षा आदिपर अर्थात् द्रष्टृ जगत्पर ध्यान दे सकता है। कोई केवल राजनीतिक और आर्थिक सस्थाओ, तोपो, बन्दूको, सेनाओ, मिलो-पर दृष्टि डालता है। परिस्थितिमे यह दोनो ही है और दोनो ही उसको प्रभावित करते है। अनात्मवादी उन लोगोमे नही है जो समझते है कि भौतिक तत्त्व ही सब कुछ है, अन्त करण कोई महत्त्व नही रखते। वह जानता है कि व्यक्तियोके अन्त करण भी किसी काल-विशेषकी परिस्थितिके बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश है। जो कोई परिस्थितिका अध्ययन करना चाहता है उसे भौतिक पदार्थ भी देखने पडेगे और अन्त करण भी। सच तो यह है कि अन्त करणके द्वारा ही भौतिक जगत् प्रभावित और परिवर्तित किया जा सकता है। जो ऐसा ठीक-ठीक समझता है वही दृश्यगत परिस्थितिको ठीक-ठीक समझ सकता है और उससे लाभ उठा सकता है।

अनात्मवादी यह भले ही मानता हो कि प्राचीन कालमे कुछ लोगोने ऊँचे भावोको जगाकर उनसे हीन उद्देश्य सिद्ध कराये है पर वह स्वय ही शौर्य्य, धैर्य्य, तप, त्याग, अपरिग्रह आदि सद्भावोको जगाना चाहता है। वह भी यही चाहता है कि लोग निष्काम भावसे काम करे।

---

* Objective ★ Subjective.

इन पिछली पंक्तियोको विशेष रूपसे लिखनेकी आवश्यकता यह पडी कि किन्ही कारणोसे यह भ्रान्ति फैल गयी है कि समाजवादमे बुद्धिके सात्त्विक धर्म्मोके लिए कोई स्थान नही है। यह भ्रम है। द्वन्द्वात्मक अनात्मवाद चार्वाक और तत्सम अनात्मवादोसे सर्वथा भिन्न है।*

---

* 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत.' मानता हुआ भी अनात्मवादी यह नहीं कह सकता—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'।

मेरा निजी विश्वास तो यह है कि चार्वाक कोई गम्भीर विचारक रहे होंगे अब उनकी रचनाएँ लुप्त हो गयी हैं और हम जिन अनाचारवर्द्धक बातोंको लेकर उनको दोष देते हैं वह उनके सिर उनके विरोधियोने मढ़ दी है।

सातवाँ अध्याय

उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्व

(१)—भूमि

समाजवादी—मै अभी इस शब्दकी कोई व्याख्या नही करूँगा—जब इस जगत्‌की नाडीपर हाथ रखता है तो उसे इसके समस्त रोगोकी तहमे दो तीन मूल रोग मिलते है। उपरोग और उपलक्षण तो बहुत है। अन्य लोग उनमेसे हो एकाधको पकड बैठते है और उन्हीका उपचार करने लग जाते है पर गम्भीर विश्लेषण करनेपर समाजवादी इसी परिणामपर पहुँचा है कि दो तीन बातें मुख्य है। इनपर ही ध्यान देनेकी आवश्यकता है। यदि इनकी सुव्यवस्था हो जाय तो शेष बातें आप ही सुधर जायँगी, अन्यथा यही दुरवस्था बनी रहेगी।

इनमे सबसे पहिली बुराई है उत्पादनके साधनोपर निजी स्वत्व। उत्पादनके साधनोमे भूमि, पूँजी इत्यादि है। है तो मनुष्य भी एक साधन ही, पर उसे हम यही छोडते है। 'इत्यादि' को भी छोडते है।

भूमि उत्पादनका बहुत बड़ा साधन है। भूमिसे ही खेती होती है जिससे सबका पेट पलता है। भूमिपर ही वह गाय, भेड, बकरी पलती है जिनका दूध पिया जाता है और मास खाया जाता है। भूमिपर ही वह पशु चरते है जिनके रोएँ और बाल काममे आते हे। भूमिपर ही कपास, सन, पटुआ इत्यादि उत्पन्न होते है जिनसे कपडे, बोरे तथा अन्य वस्तुएँ बनती है। भूमिसे ही लोहा, कोयला, सोना, मिट्टीका तेल आदि निकलते है जिनपर सारी सभ्यता निर्भर है।

पृथ्वीके कुछ थोडेसे भागोको छोडकर अधिकाश भूमि काममे आ रही है। इसमे हम सुविधाके लिए उसका भी विचार छोडे देते है जिसमेसे खनिज निकलते है या जिसपर मकान बने है या जंगल खडे है। शेष भूमिपर खेती होती है। खेती करनेवाला कृषक है। कृपकको कुछ न कुछ तो देना ही पड़ता है पर जो देना पडता है उसके तीन मुख्य रूप है। एक तो यह है कि वह अपनी भूमिका एक मात्र स्वामी है। सरकारको जो देता है वह आमदनीके टैक्सके रूपमे देता है। यह प्रथा बहुत कम जगह है। दूसरी प्रथा यह है कि भूमि राजकी है। कृषक उसपर खेती करता है और सरकारको लगान देता है। इसे रैयतवारी प्रथा कहते है। तीसरी प्रथामे कृषिकी जमीन कृषक और राजके बीचमे एक तीसरे व्यक्तिकी मानी जाती है जिसे जमीनदार कहते है। जमीनदारके मालगुजार, तअल्लुकेदार आदि कई पर्य्याय है। कृषक जमीनदारको लगान देता है। इसके बाद जमीनदार राजको कुछ मालगुजारी देता है। अभी दुनियाके कई भागोमे यही प्रथा चालू है। ज़मीन किसी-न-किसी जमीनदारकी सम्पत्ति मानी जाती है। भिन्न-भिन्न देशोमे नियम पृथक्-पृथक् है पर किसी-न-किसी अवस्थामे जमीनदार कृपकको निकाल सकता है और जमीन दूसरेको दे सकता है।

चूँकि भूमि जमीनदारकी है इसलिए लगान और टैक्सम एक बडा अन्तर होता है। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपनी आमदनी-को अपने पास रखनेका पूरा अधिकार है। पर राजका काम भी रुपयेके बिना चल नही सकता। अत प्रत्येक व्यक्ति आयका कुछ भाग राजको दे देता है। यही आयकर या टैक्स है। लगानके लिए यह बात नही है। ज़मीन जिसक़ी है उसको पूरा अधिकार है कि उसका उपभोग करे। वह ऐसा न करके दूसरेको, अपने असामी या रैयतको, देता है। यह केवल इसलिए कि असामी अपना पेट पाल सके। इसके ऊपर जो बचता है वह भूमिके स्वामीका है। अतः जहाँ टैक्सके रूपमे बहुत कम वसूल किया जा

सकता है, लगानमे सिद्धान्तत कृषकको पेट भरने भर रखकर और सब कुछ दे देना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि जमीनदारको भूमिका स्वाम्य कैसे प्राप्त हुआ ? प्राचीन ग्रन्थोके देखनेसे प्रतीत होता है कि भारतमे आर्य्य शासन-कालमे जमीनदार नही थे। राज और कृषकके मध्यमे कोई बिचवैया न था। पठान और मुगलकालमे भी जमीनदार न थे। मराठोने भी अपने राज्यमे जमीनदारी प्रथा स्थापित नही की। इस देशमे यह चीज अँग्रेज लाये। कही-कही तो छोटे-छोटे नरेशोके राज्य नष्ट करके उन्हे जमीनदार बनाया पर विशेषत यह काम विधिसे उत्तर भारतमे किया गया। उस समयके दुर्बल नवाबोने कृषकोकी मालगुजारी उठानेके ठेके दे रखे थे। नवाबोकी दुर्बलतासे लाभ उठाकर कुछ ठेकेदार, जैसे महाराजा बनारस, स्वतन्त्र नरेश बन गये। शेष नरेश तो नही हो पाये पर इतने बलवान् अवश्य हो गये थे कि उनसे ठेका छीनना नवाबोके लिए असम्भव था। इनमेसे कुछकी स्थिति जमीनदारो जैसी हो चली थी। यह ठेकेकी भूमिके मालिकसे बन गये थे। ठेका पुश्तैनी-सा हो गया था, जब बहुत दबाव पडा तब रुपया दे दिया, नही न दिया। अग्रेजोको ऐसे भारतीयोकी आवश्यकता थी जो पुराने नवाबोके भक्त न हो, बलवान् और प्रभावशाली हो, प्रजाको दबा सकें। उन्होने इन ठेकेदारोको अपने-अपने टुकडेका स्वामी मान लिया। अंग्रेजोके देशमे बडे-बडे जमीनदार होते थे, उसीकी नकल उन्होने यहाँ भी चलायी। भारतमे जमीनदारी प्रथाका यही संक्षिप्त इतिहास है। कही-कही नया देश जीतनेपर विजेता नरेशोने उसके बडे-बडे टुकडे अपने सेनापतियोमे बाँट दिये है और यह लोग पुश्तैनी जमीनदार हो गये है। कभी-कभी देश-की बहुत बडी सेवा करनेके लिए जागीर मिलती थी। इसके विपरीत अपने देशवासियोसे लडने और विदेशियोकी सहायता करनेके लिए भी कभी-कभी पुरस्कारमे ज़मीनदारियाँ मिली है। अग्रेजोने भारतमे ऐसी बहुत-सी जमीन-दारियाँ बाँटी थी।

पर चाहे इनमेसे किसी भी प्रकारसे जमीनदारी चली, हमारा प्रश्न अभी रह गया—जमीनदारको भूमिपर स्वाम्य कहाँसे मिला ?

इसका एक सीधा उत्तर तो यह है कि यह स्वाम्य आरम्भमे अपने बाहुबलसे मिला । ताकत थी, जितनी दूर तक कृषकोको दबा सके दबाया, उनके जमीनदार बन गये । यह उत्तर है तो सीधा पर दुधारी तलवार है । जो वस्तु बाहुबलसे आयी है वह उसी मार्गसे जा भी सकती है । कृषक जबर्दस्ती निकालनेका भी अधिकारी है । इसलिए यह उत्तर स्पष्टरूपसे कम ही पेश किया जाता है । बलसे प्राप्त किया गया स्वाम्य ठीक-ठीक स्वाम्य है नही, कमसे कम लोग कोई और सभ्य उत्तर देना चाहते है ।

यदि यह कहा जाय कि राजने दिया तो कई प्रश्न खडे होगे । पहिले तो यह कि राजको देनेका अधिकार था भी या नही अर्थात् भूमि राजकी थी भी ? विजित राजकी भूमिका बँटवारा तो कदापि उचित नही हो सकता । यदि जापान अपने सेनापतियोको विजित चीनमे ज़मीनदारियाँ बाँट देता तो क्या इस दानसे जो जमीनदारियाँ बनती वह न्याय्य होती ? जापानको चीनपर हक ही क्या था ? या जो भूमि ठेकेदारोको दी गयी उसके देनेका क्या अधिकार था ? भारतमे तो जमीनदारियाँ प्राय ऐसे ही बनी है । वह ज़मीन कम्पनी या अंग्रेज सरकारकी थी ही नही, ठेकेदार स्वामी होता ही नही, फिर इन ज़मीनदारियोका न्याय्य आधार क्या था ?

जो भूमि राजकी रही हो उसके लिए भी यह देखना होगा कि वह किस कामके लिए दी गयी । जो भूमि देशके प्रत्यक्ष हितके लिए नही दी गयी, उसका दान तो माना जा सकता ही नही । जो भूमि वास्तविक देशहितके लिए कभी दी गयी थी उसके विषयमे भी सोचना होगा कि क्या वह लोक-सेवा इतनी थी कि उसका पुरस्कार उस व्यक्तिके वंशज भी भोगते जायँ ? कालिदासने 'शकुन्तला' लिखकर जगत्का बडा उपकार किया । इसके लिए कहा जाता है कि राजा भोजने उन्हे लाखो रुपया दिया । आज कोई व्यक्ति आकर कहे कि मै कालिदासका वंशज हूँ, मुझे

उतने ही रुपये मिलने चाहिए, तो उसकी माँगपर कौन ध्यान देगा ? जागीरदार इससे भिन्न क्या कहता है ?

बहुतसे ज़मीनदारोकी ओरसे कहा जायगा कि जमींनदारी प्रथाकी जड भले ही खराब हो पर हमने न तो किसीको लूटा है, न किसीसे दान पाया है। सीधे रुपया देकर ज़मीनदारी ख़रीदी है। सरकारके यहाँ रजिष्ट्री करायी है। हमारा स्वाम्य तो वैसा ही पक्का है जैसा कि किसी औरका हो सकता है।

यह उत्तर औरोकी अपेक्षा कुछ निर्दोप है और जो लोग सचाईसे यह उत्तर देते है, उनके साथ हमको थोडी-सी सहानुभूति भी हो सकती है पर यह उत्तर स्वतः पर्य्याप्त नहीं है। इसमे बहुत कुछ विचारणीय है। कोई वस्तु दाम देकर ली गयी केवल इतनेसे ही वह लेनेवालेकी सम्पत्ति नही हो सकती। मै यदि रुपया लेकर दूसरेका घर किसीके हाथ बेच दूँ तो वह बिक्री कही मानी थोडे जायगी। यदि मै चोरीका माल किसीके हाथ बेचूँ तो माल लेनेवाला भी दण्डच हो सकता है। इसलिए केवल रुपया देना पर्य्याप्त नही है। यह भी देखना होगा कि बेचनेवालोको उस वस्तुपर सचमुच न्याय्य स्वाम्य था या नही। जिमका ज़मीनदारी स्वत्व स्वत विवादमान है उसको रुपया देनेवालेका स्वत्व निर्विवाद नही माना जा सकता। फिर राजकी अनुमतिसे बिक्री होना भी न्याय्य माने जानेके लिए पर्य्याप्त नही है। कई देशोमे गुलाम—जीते-जागते स्त्री-पुरुष—बिकते थे। केवल इतनेसे मनुष्यका क्रय-विक्रय न्याय्य नही हो सकता। माण्टेकार्लोमे सरकारी देख-रेखमे जुआ होता है पर यह देख-रेख जुएको उचित कर्मोकी तालिकामे सम्मिलित नही करा सकती। जहाँकी सरकार जिस समय जिस बातको होने देती है, वह बात वहाँ उस समय वैध हो जाती है पर वैध होनेसे वह बात उचित नही हो जाती। रुपया देकर सरकारके यहाँ रजिष्ट्री करा लेने मात्रसे जमीनदारीका स्वत्व न्याय्य नही हो सकता।

अत. हमारा प्रश्न ज्योका-त्यो रहा। इसपर लगानके सिद्धान्तसे भी

प्रकाश पड सकता है । आखिर कृषक लगान क्यो देता है ? जो उत्पादक है वह स्वामी कैसे नही है ? किसी भूमिका लगान अधिक, किसीका बहुत कम क्यो होता है ? इसके कई उत्तर है पर रिकाडोका सिद्धान्त ही सबसे समीचीन जँचता है ।

वह कहते है कि आजसे कई हजार वर्ष पीछेका जमाना ले लिया जाय । कोई भी देश हो, भूमि बहुत थी और आबादी कम । जिस व्यक्तिने जङ्गल साफ करके जितनी भूमिपर कब्जा कर लिया उतनी उसकी हो गयी । कोई टोकनेवाला न था क्योंकि सबके लिए पर्याप्त भूमि थी । इस प्रकार कुछ कालमे सभी भूमि घिर गयी होगी । भूमि घिरनेपर भी जो सबसे उपजाऊ भूमि होती होगी उसमे ही खेती होती होगी और उतनेसे काम चल जाता होगा । उसमे भी बहुत-सी परती पडी रहती होगी । अभीतक यह लोग भूमिके स्वामी होते हुए भी जमीनदार नही थे । पर जब जनसख्यामे वृद्धि होगी तो कृषिजन्य पदार्थोकी भी माँग बढेगी और भूमिके खोजियोमे भी वृद्धि होगी । पर भूमि मिले कहाँसे, वह तो पहिले-से घिर चुकी है । अत विवश होकर इन्हे उन भूस्वामियोके पास जाना पडता है और अपने भरण-पोषणके लिए भूमि माँगनी पडती है । इनकी यही शर्त रहती होगी कि भरण-पोषणसे ऊपर जो बचेगा वह आपको दे देगे । उन दिनो भरण-पोषणके अतिरिक्त और आवश्यकताएँ भी थोडी ही होती थी । भूस्वामी भी सोचता होगा, मै अकेला इस सारी भूमिका उपयोग तो कर नही सकता, जहाँ बेकार पडी थी वहाँ अब कुछ दे तो चली । बस वह भी राज़ी हो जायगा । यहीसे ज़मीनदारी और लगानका श्रीगणेश होता है ।

पहिले-पहिल सबसे बढिया भूमि इस प्रकार काममे लायी गयी होगी पर इसके बाद क्रमशः उससे निकृष्ट और निकृष्टतर भूमिका उपयोग किया गया होगा और लगानमे उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी होगी । यह बात एक काल्पनिक उदाहरणसे समझमे आ सकती है । मान लीजिए प्रथम श्रेणीकी

भूमिके ५ बीघेसे १०० मन अन्न उत्पन्न करनेमे १००) व्यय होता है। इसमे बीज, खुदाई, सिचाई इत्यादि सब शामिल है। यह भी मान लीजिए कि कृषकके भरण-पोषणमे १२०) लगता है, तो उसका व्यय २२०) पड़ा। वह अपने अन्नको इससे कममे बेच नही सकता। यदि उसने उसे २५०) मे बेचा, तो ३०) जमीनदारको लगानमे मिले। अब यदि माँग दूनो हो गयी अर्थात् जनसंख्या दूनी बढ गयी तो उससे घटिया प्रकारकी भूमि काममे लायी जायगी। मान लीजिए इस भूमिमे उतना ही अन्न पैदा करनेमे ड्योढा खर्च पड़ता है तो उत्पादन व्यय १००) का १५०) हो गया। कृषकका भरण-पोषण व्यय उतना ही रहा तो उसका कुल खर्च २७०) हो गया। वह अपने अन्नको २७०) से कममे नही बेच सकता। पर जो दाम उसको मिलेगा वही पहिली जमीनवाले कृषकको भी मिलेगा। यदि माल बहुत अधिक होता और ग्राहक कम, तब तो भाव गिरता, पर अभी तो आवश्यकताके अनुसार माल है अत जब दूने अन्नकी माँग है तो सभी अन्न खप जायगा। अत: जो मूल्य एक कृषकको मिलेगा वही दूसरेको भी मिलेगा। यदि पहिला अर्थात् निकृष्ट भूमिवाला अपने अन्नको ३००) मे बेचता है, तो वह अपने जमीनदारको ३०) लगान देता है। पर उसी अन्न-का दूसरे कृषकको भी, जिसका कुल खर्च २२०) पडा है, ३००) मिलता है। अत: उसके पास ८०) बचता है जो जमीनदारके पास चला जायगा। पहली भूमिके लगानमे वृद्धि हो गयी। ज्यो-ज्यो माँग बढती जायगी और निकृष्ट कोटिकी भूमि काममे आती जायगी त्यो-त्यो ऊपरकी कोटिकी भूमिका लगान बिना परिश्रम बढता जायगा। जब कोई पूछनेवाला न था उस समय कुछ लोगोके कब्जेमे कुछ भूखण्ड आ गये थे। अब उनके वशजो या उनसे पैसा देकर मोल लेनेवालेको बिना प्रयास ही वर्द्धमान रकमे मिलती जाती है। इसीलिए लगानको अर्नाजित वृद्धि ★—बिना कमायी हुई बढती—कहते है।

★ Unearned increment.

यह उदाहरण सरल है, व्यवहारमे कुछ पेचीदगियाँ आयेंगी, पर इससे आदिमे जमीनदारी प्रथाकी उत्पत्ति और लगानकी उत्पत्ति तथा उसकी वृद्धि समझनेमे पूरी सहायता मिलती है। रिकार्डोका यह सिद्धान्त हमारे मूल प्रश्नपर प्रकाश डालता है। पर उसकी विवेचना करनेके पहिले जमीनदारी और लगानके दो-एक अन्य पहलुओपर भी गौर कर लेना आवश्यक है।

निकृष्ट भूमिके काममे आनेसे तो उत्तम भूमिका लगान बढता है। उसके बढनेके और भी ऐसे ही निष्प्रयास तरीके है। भूमिमेसे या उसके पाससे सडक निकल जाने या उसके पास रेलवे स्टेशन खुल जानेसे लगान बढ जाता है। कोई लडाई छिड जाय और कृषिसे पैदा हुई वस्तुकी माँग बढ जाय, लगान बढ जायगा। भूमिके इच्छुक बहुत हो, लगान बढेगा। इन सब दशाओमे लगानमे जो वृद्धि होगी वह अनर्जित वृद्धि है; उसके लिए जमीनदारको कोई प्रयास नही करना पडता।

इसी प्रकार वह लगान जो मकान बनानेवाली जमीनका लिया जाता है बढता जाता है। शहरोमे मकान बनाने लायक जमीनका लगान, जिसको प्राय परजवट कहते है, यो ही बे-प्रयास बढता है। यदि उसपर मकान बना दिया गया तो लगानका नाम किराया हो जाता है और किराया बडी तेजीसे बढने लगता है।

यदि किसी जमीनदारने किसीको बीघे दो बीघे जमीन २), ४) पर उठा रखी है और उसके नीचे कोयला या तेल या सोना या अन्य खनिज निकल आया तो यद्यपि उस जमीनदारको भूमि देते समय उसका पता भी नही था पर वह उसके लिए विशेष लगान या 'रायल्टी'का अधिकारी हो जायगा।

इन सब उदाहरणोमे हम यह देख रहे है कि जो व्यक्ति भूमिका स्वामी माना जाता है उसके बिना परिश्रम किये लगानमे वृद्धि होती जाती है। सरकार तो ऐसा कर भी देती है कि इतनेसे कम आयपर

टैक्स न लिया जाय पर जमीनदार एक बित्ता भूमिपर भी लगान नही छोडता ।

अब यह विचार करना है कि क्या सचमुच जमीनदार लगान लेनेका अधिकारी है । यह स्पष्ट है कि आरम्भमे भूमिपर इसी प्रकार अधिकार हुआ होगा । कोई टोकनेवाला था नही, जो जितनी भूमि दबा सका वह उतनीका स्वामी बन बैठा । आज अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमे यही हो रहा है । जो राष्ट्र अफ्रीका या अमेरिका या आस्ट्रेलियाकी जितनी भूमि दबा सका दबा बैठा, शर्त यही थी कि वहाँ कोई दूसरा राष्ट्र हकदार न बन बैठा हो । यो ही बडे-बडे औपनिवेशिक साम्राज्य बन गये पर आज वह उपनिवेश झगडेके घर हो रहे है । दूसरे राष्ट्र भी उपनिवेश चाहने लगे । इसका जो परिणाम हुआ वह हमारे सामने है ।

यह सिद्धान्त ही गलत है । जिसने जगल काटकर साफ किया उसका हक तो हो सकता है पर उसके वशजोका हक कैसा ? उन्होने कौन-सा परिश्रम किया जिसका पुरस्कार उनको मिले ? जो लोग उनको रुपया देते है उन्हे भूमिपर अधिकार कैसा ? फिर जितनी दूरतक कोई व्यक्ति भूमि घेर ले उतनी उसकी क्यो हो ? केवल आजसे हजार दो हजार वर्ष पहिले पैदा होनेसे अधिकार क्यो मिल जाता है ? पहिले जन्म लेनेसे ही अधिकार मिले तो बापकी सम्पत्ति केवल बडे लडकेको मिलनी चाहिए । वस्तुतः तो भूमि किसी व्यक्ति-विशेषकी न होकर व्यक्ति-समुदायकी होनी चाहिए । एक व्यक्ति नही सारा समुदाय जमीनदार होना चाहिए ।

फिर यदि जमीनदारका जमीनपर स्वाम्य मान भी लिया जाय तो यह तो समझमे आता है कि भूमिसे काम लेनेके लिए वह कुछ रुपया अर्थात् लगान ले पर बिना परिश्रम किये निकृष्ट भूमिके काममे आ जानेसे लगान क्यो बढे ? सडक तो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड या सरकार निकलवाती है, उसका लाभ जमीनदारको क्यो हो ? लडाई जमीनदार तो छिड़वाता नही, फिर युद्धकालमे वह लगान क्यो बढाये ? साराश यह कि अनर्जित वृद्धि-

के लिए कोई कारण नही देख पडता। जिस जमीनदारको इस बातका पता तक नही था कि उसकी भूमिके नीचे कोई खान है, वह उससे वर्द्धमान लगान, रायल्टी, क्यो पाये ?

इन सब तर्कोसे वर्तमान जमीनदारी प्रथाकी उत्पत्ति तथा लगानका स्वरूप और रहस्य समझमे आ जाता है और यह इस प्रथाकी बुराई समझानेके लिए पर्याप्त है। परन्तु इस प्रश्नपर दो दृष्टियोसे और विचार कर लेना चाहिए।

पहिला दृक्कोण यह है कि क्या जमीनदारी प्रथासे कोई विशेष लाभ होता है ? यदि सब जमीनदार एकाएक हटा दिये जायँ तो क्या हानि हो ? इन दोनो प्रश्नोका एक ही उत्तर है—कुछ भी नही। आजसे पहले कभी जमीनदारोसे थोडा-बहुत लाभ भी होता रहा होगा। आज वह बिलकुल बेकार है। सरकार अपने मजिस्ट्रेटो और पुलिससे काम लेती है, रक्षा अपनी सेनासे कराती है, यह भी नही है कि कृषकोसे मालगुजारी उतारनेमे कोई सुविधा होती है। कुछ साल पहिले उत्तर प्रदेशमे सरकारी कागजोके अनुसार कृषकोसे लगानमे लगभग, साढे सोलह करोड रुपया वसूल किया जाता था। जिसमेसे लगभग सात करोड सरकारी कोषमे मालगुजारीके रूपमे जाता था। शेष साढे नौ करोड जमीनदारोके पास रह जाता था। १) वसूल करनेके लिए १।) वसूल करनेवालोको देना तो बुद्धिमानी नही है। यदि जमीनदार न हो तो सरकार अपने तहसीलदार इत्यादिसे सस्तेमे वसूली करा सकती है। जो रुपया बीचवालोकी जेबोमे जाता है सरकार या कृषकोके पास रह जाता, उभयत जनताको लाभ ही पहुँचता। जमीनदारी उन्मूलनके बाद अब उत्तरप्रदेश सरकारको जमीनसे लगभग १९ करोड मिलता है।

दूसरा दृक्कोण यह है कि इस प्रथासे हानियाँ क्या-क्या है ? हानियाँ प्रत्यक्ष है। कुछ तो हम भारतमे नित्य देखते थे। इस साढे नौ करोडको ही लीजिए। यदि जमीनदार न होते तो या तो यह समूची रकम

कृषककी जेबमे रहती अर्थात् उसके लगानमे ५८% की कमी हो जाती या सरकारके पास रहती जिससे स्वास्थ्य और शिक्षा आदिका काम चलता या दोनोमे बँट जाती। हर हालतमे प्रजाको लाभ होता।

जो लोग मकानोके जमीनदार है अर्थात् मकान किरायेपर चलाते है, वह सम्भवतः इतने अधिक व्यक्तियोको हानि न पहुँचा सकते हों पर नगरोमे रहनेवाले गरीबोको इनके हाथो बहुत दु:ख उठाना पड़ता है। गन्दे मकान बनाये जाते है, उनकी मरम्मत नही की जाती, पर मनमाना किराया वसूल किया जाता है। किरायेदार वेबस होता है। यदि वह इन मकानोमे नही रहता तो सिवाय पटरियोपर लेट रहनेके उसके लिए कोई और उपाय नही है।

मैने ऊपर उन भूमियोका उल्लेख किया था जिनमे खनिज पदार्थ निकलते है। उनके लिए भी यही तर्क लागू है। जमीनदार इन भूमियोके लिए जो बढती लगान लेता है उसका बोझ उस खनिजके मोल लेनेवालोको उठाना पडता है।

जमीनदारी प्रथाके सम्बन्धमे और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है पर मै समझता हूँ इतने दिग्दर्शनसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकारका अर्थात् भूमिपर निजी स्वत्वका अस्तित्व उन्नतिके लिए बाधक है और सर्वथा अनुचित है। इससे ग्रामो, नगरो और व्यापारकी प्रगतिका अवरोध होता है अतः इसका अन्त होना चाहिए।

कुछ लोगोका यह कहना है कि सरकारी कानूनोने ज़मीनदारो और कृषकोके पारस्परिक भाव बिगाड दिये। पहिले ज़मीनदार और कृषकका पिता-पुत्रवत् भाव था। अंशत. यह सत्य है कि कानूनोने मनोमालिन्य बढ़ा दिया है, पर यह कानून आवश्यक थे। यदि ज़मीनदारोका बल न टूटता और पुराना ग्रामसंघटन न बिगड़ता तो व्यवसायोकी वृद्धि भी न होती। पिता-पुत्र भावका अर्थ यही है कि ज़मीनदार जो कुछ कहता था कृषक उसे मान लेता था। यह भाव कृषकके बौद्धिक विकासके लिए घातक था। किसीसे

सदैव डरते रहना, उसे माँ-बाप मानते रहना मनुष्यको शोभा नही देता। मैंने इस भावके प्रदर्शन देखे है। मै जानता हूँ कि जमीनदारका पितृत्व और कृषकका पुत्रत्व दोनो घृणास्पद है।

अब इतना प्रश्न और रह जाता है कि यदि भूमिका स्वत्व व्यक्तियोके हाथमे न रहे तो किसके हाथमे रहे। इसका एक ही उत्तर हो सकता है—यह स्वत्व समाजके हाथमे होना चाहिए। भूमिका स्वामी सारा समुदाय है। यदि सड़क निकालता है तो समुदाय, रेल निकालता है या निकालने देता है तो समुदाय, युद्ध करता है तो समुदाय, रक्षादिका प्रबन्ध करता है तो समुदाय। इसलिए समुदायको, समाजको, ही लगान लेनेका अधिकार है। उसके लिए न तो अनर्जन, न कमानेका प्रश्न उठ सकता है न इस बातकी आशङ्का हो सकती है कि वह अपने अधिकारोका दुरुपयोग करके असामियोको क्षति पहुँचायेगा। मै इस जगह विदेशियोके शासनमे पडे देशो-की बात नही कर रहा हूँ वरन् स्वतन्त्र देशोकी, जिनमे सरकारपर समाजका नियन्त्रण रहता है और वह लोकमतके अनुसार चलनेके लिए बाध्य की जा सकती है।

कुछ लोगोकी यह सम्मति है कि प्रत्येक कृषक अपनी भूमिका स्वामी मान लिया जाय और सरकारको सीधे मालगुजारी दिया करे। इसमे दो-तीन आपत्तियाँ है। एक आपत्ति तो यह है कि इससे ज़मीनदारी* प्रथाके

*** ज़मीनदार शब्द बहुत ही भ्रामक है, क्योंकि इसके कई अर्थ हैं। उत्तरप्रदेशमें ही ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत बड़ी थी, जो सीधे सरकारको मालगुजारी देते हैं, परन्तु दस-पाँच बीघेके ही स्वामी है, परन्तु ऐसे-ऐसे काश्तकार हैं जिनके पास सैकड़ों बीघा भूमि है पर वह उसके लिए किसी दूसरेको लगान देते है। यह लोग स्वयं अपनी भूमिके टुकड़े दूसरोंको देकर उनसे पैसे लेते हैं। ऐसी दशामें सरकारी काग़ज़ोंमें चाहे कुछ भी लिखा हो, जो व्यक्ति दस-पाँच बीघेकी आप खेती करता है**

पुनः स्थापित हो जानेका द्वार खुल जायगा। किसी-न-किसी बहानेसे कृषक दूसरोसे लगान लेकर भूमि देने लगेगा। फिर प्रश्न यह होगा कि रेहन रखने और बेचनेका अधिकार हो या न हो। जब कृषक भूमि बेच सकेगा तो धीरे-धीरे रुपयेवालोके हाथमे बडी टुकड़ियाँ आ जायँगी। इसमे भी जमीनदारीके पुनः स्थापित होनेका डर है। आर्थिक विषमता और बेकारी भी बढेगी। यदि अधिकार न दिया जाय तो ऐसे कृषकोकी भूमि जो किसी कारणसे ठीक-ठीक प्रबन्ध नही कर सकते, नष्ट होगी। वह स्वतः स्वामी है अतः सरकारको लौटा नही सकते। अत. सब बातोको देखते हुए यही ठीक जँचता है कि भूमिका स्वत्व व्यक्तियोको न देकर समाजको दिया जाय।

वह कृषक है और जो भूमि दूसरोंको देकर पैसा लेता है वह जमीनदार है। जमीनदारी प्रथाके अभावका अर्थ यह है कि कृषक अर्थात् स्वयं खेती करनेवाले और सरकारके बीचमें कोई बिचवैया न हो और भूमिका स्वत्व समाजके हाथमें हो।

आठवाँ अध्याय

उत्पादनके साधनोंपर निजी स्वत्व

(२)—पूँजी और श्रम

भूमि—सभी प्रकारके उत्पादनका एक प्रधान साधन है, क्योंकि अन्न तो उससे प्रत्यक्ष उत्पन्न होता ही है दूसरी वस्तुएँ जो व्यवहारमे आती है वह भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षतया किसी-न-किसी रूपमे भूमिसे ही निकलती है ।

भूमिके अतिरिक्त दो मुख्य साधन और यह माने जाते है, पूँजी और श्रम । समाजवादियोकी दृष्टिमे आजकल इन दोनो साधनोका भी भूमिकी भाँति ही दुष्प्रयोग हो रहा है और दुष्प्रयोग कई कारणोसे भूमिके दुष्प्रयोगसे भी अधिक भीषण परिणाम उत्पन्न कर रहा है ।

पूँजीपर किस प्रकार निजी स्वत्व है और इस स्वत्वके क्या परिणाम है इसपर विचार करनेके पहले पूँजीके स्वरूपपर थोड़ा-सा विचार करना लाभदायक होगा । किसी व्यक्तिके पास जितनी सम्पत्ति होती है वह सब पूँजी नही है । अन्नसे कोठार भरे पडे हो, वस्त्र, आभूषण, चित्र, कुर्सी, मेज़, क़ालीन आदिसे महल सुसज्जित हो, तिजोरीमे सोना-चाँदी या सिक्कोका ढेर हो, पर जब तक यह सामग्री केवल जमा है या उपभुक्त हो रही है तबतक इसको पूँजी नही कहते । धन स्वत. पूँजी नही है । पर यदि इस राशिका कोई अंश अपनेको बढानेमे लगाया जाय तो वह पूँजी हो जायगा । जो धन धनको उत्पन्न करनेके काममे लगता है उसे पूँजी कहते है । ऐसा धन साधारण उपभोग्य धन नही वरन् प्रजनक धन*—

* Functional wealth.

धनको जन्म देनेवाला धन—होता है। धनसे धन कैसे उत्पन्न होता है, इसका सबसे सरल उदाहरण महाजनी है। किसीको एक सौ रुपये दिये गये और छ: रुपये ब्याजके जोडकर एक सौ छ रुपये उससे लिये गये। यहाँ यह सौ रुपया छ. रुपयेको उत्पन्न करनेमे लगाया गया। यह पडा रहनेके स्थानमे धनका प्रजनक हुआ। अत यह पूँजी है। इसलिए यह सम्भव है कि किसी मनुष्यके पास धन बहुत हो पर यदि वह उसे प्रजनक नही बनाता तो पूँजी कुछ भी न हो। दूसरे व्यक्तिके पास धन कम रहते हुए भी पूँजी अधिक हो सकती है। साधारणत: लोगोको पूँजी शब्दसे रुपये-पैसेका ही बोध होता है पर पूँजीका अर्थ इससे व्यापक है। किसी कारखानेको ले लिया जाय; उसकी इमारत, रुपया, मशीने सभी पूँजी है।

पूँजी किसी-न-किसी प्रकार व्यापारसे उत्पन्न होती है, इतना तो सभी समझते है पर इसको किञ्चित् विस्तारसे समझ लेना अच्छा है। इसलिए व्यापारका स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है।

एक समय था जब प्राय सभी लोग अपनी आवश्यकताओकी पूर्ति अपने और अपने घरवालोके श्रमसे कर लेते थे। यह सभ्यताका आदिम काल था। पुरुष शिकार कर लाये या खेती करके अन्न लाये, स्त्रियोने भोजन-वस्त्र तय्यार कर लिया। उस समय आवश्यकताएँ थोडी और सीधी थी। जन-संख्या कम होमेसे आज जैसी घनी बस्तियाँ भी न थी। परन्तु क्रमश: जन-सख्या, बस्तियोकी सघनता, आवश्यकताओकी सख्या और उनके प्रकार, थोडे शब्दोमे सभ्यतामे, वृद्धि हो चली और एक-एक कुटुम्बके लिए स्वत. पर्य्याप्त होना असम्भव हो गया। कोई अपनी आवश्यकताओकी पूर्ति अपने यहाँ नही कर सकता था। इसलिए एक प्रकारका बँटवारा-सा हो गया। कोई अन्न पैदा करे, कोई वस्त्र बनाये, कोई जूता, कोई शस्त्रास्त्र।

यहीसे व्यापारका सूत्रपात हुआ। अन्नवालेको यदि जूतोकी आवश्यकता पड़े तो वह जूता बनानेवालेके पास जाय और उसको अन्न देकर

उससे जूता ले। यही बात सभी वस्तुओके लिए थी। व्यापारका यह ढङ्ग अब प्राय. उठ गया है पर आज-कल कही-कही फिर चल पडा है। युद्ध-कालमे इस प्रथासे अन्तर्देशीय व्यापारमे बहुत काम लिया गया।

जो वस्तुएँ इस प्रकार व्यापारक्षेत्रमे आती है उनको पण्य★ कहते है। पण्यमे तीन वस्तुओका होना आवश्यक है—(१) वह मनुष्यकी किसी आवश्यकताको पूरा करता हो। आवश्यकता प्राकृतिक हो या कृत्रिम, परन्तु जो मनुष्य किसी समय उसका अनुभव कर रहा हो उसके लिए वह आवश्यकता ही है। इस दृष्टिसे, हवा, पानी, अन्न, वस्त्र, इत्र, मोटर, शराब इत्यादि सभी मनुष्यकी किसी न-किसी-आवश्यकताको पूरा करती है। (२) वह मनुष्यके श्रमसे पूर्णतः या अंशत. तय्यार हुआ हो। उसको व्यवहारयोग्य बनानेके लिए उसपर श्रमका व्यय होना आवश्यक है। वस्त्रादि सभी श्रमसे तय्यार होते है। सामान्यत पानी बिना परिश्रमके मिल जाता है पर बहुत स्थलोमे उसको निकालने, साफ करने और किसी प्रकारकी सवारीपर लादकर व्यवहार करनेवालेके पासतक ले जानेमे श्रमका व्यय होता है। हवा प्राय. सर्वत्र ही बिना श्रमके पहुँच जाती है परन्तु विशेष अवस्थाओमे उसकी भी पानी जैसी सूरत हो सकती है। (३) वह अपने व्यवहारमे न लाया जा रहा हो वरन् आवश्यकता पूर्त्तिके लिए दूसरी वस्तुओके परिवर्तनमे दिया जा रहा हो। किसी जुलाहेने दस गज वस्त्र तय्यार किया हो पर यदि वह उसको अपने काममे लाता है तो वह पण्य नही है पर यदि वह इसमेसे चार गज देकर गेहूँ लेता है तो यह चार गज व्यापारक्षेत्रमे आ गया और पण्य हो गया।

प्रत्येक पण्यकी एक विशेषता, एक अपनी विशेष महत्ता, होती है। इसको अर्घ† कहते है। कोई पण्य महार्घ❀ होता है, लोगोकी दृष्टिमे ऊँचा स्थान रखता है, कोई अल्पार्घ❀ होता है, उसका स्थान नीचा होता है।

★ Commodity.　† Value.　❀ **मँहगा, सस्ता।**

यह अर्घ दो प्रकारका होता है। एक तो आवश्यकताकी पूर्त्ति करनेकी योग्यतापर निर्भर है। यदि गायका दूध बकरीके दूधकी अपेक्षा हमारी किसी आवश्यकताको अधिक पूरा करता है तो इस दृष्टिसे वह अधिक अर्घ-वाला है। इस प्रकारके अर्घको भोग्यार्घ§ कहते है। यह वस्तुका सहज, स्वाभाविक और स्थिर गुण है। दूसरे प्रकारका अर्घ इस बातपर निर्भर है कि इस पण्यका कितना परिमाण दूसरे पण्योके कितने परिमाणोके बदलेमे दिया जाता है। जैसे, उदाहरणके लिए किसी समय-विशेषमे ऐसा हो सकता है कि १० सेर गेहूँ = ६ सेर चावल = १० छटाँक घी = २० आम = १ तोला चाँदी। इन सब पण्योका यह अर्घ स्थिर नही है। यह कई कारणोसे बदलता रहता है। इसको विनिमयार्घ† कहते है। साधारणत लोग इसीको अर्घ कहते है।

जिस समय व्यापारका रूप इतना ही रहता है कि एक पण्यके स्थानमे दूसरा पण्य लिया जाय, उस समयकी अवस्था इस प्रकारकी होती है—

$$प^{1} \longrightarrow प^{2}$$

[$प^{1}$ और $प^{2}$ दोनो ओरके पण्य है।]

परन्तु कुछ कालमे इससे काम नही चलता, अडचने पडने लगती है। अन्नवालेको यदि कपडेकी आवश्यकता है पर जुलाहेको उस समय अन्नकी आवश्यकता नही है तो परिवर्तन न हो सकेगा और कृषकको कपड़ा न मिल सकेगा। इसीलिए धीरे-धीरे सभी सभ्य देशोमे विनिमयके साधनस्वरूप किसी-न-किसी प्रकारकी मुद्राके प्रयोगकी प्रथा चल पडी। मुद्रा किसी भी द्रव्यकी हो सकती थी पर अनेक प्रकारकी सुविधाओके कारण सभी जगह प्रधान मुद्रा धातुओकी ही हुई, यो छोटे-छोटे कामोके लिए कौडी आदिसे भी काम लिया जाता रहा है। मुद्रासे यह सुविधा हुई कि एक पण्यका

§ Utility value † Exchange value.

स्वामी उसको देकर किसीसे मुद्रा पा जाता है और फिर उस मुद्राको देकर दूसरा पण्य ले सकता है। ऐसे लोग बीचमे आ जाते है जो रुपया देकर पण्य मोल ले लेते है इसलिए नही कि उन्हे स्वयं उस समय उसकी आवश्यकता है वरन् इसलिए कि वह जानते है कि एक-न-एक दिन कोई-न-कोई आकर रुपया देकर उसे मोल ले जायगा। हमारे पहिले उदाहरणवाले कृषक और जुलाहेका काम तो सरल हो गया। कृषकको अन्नका रुपया मिला, उस रुपयेको उसने जुलाहेको देकर वस्त्र पाया, जुलाहेको जब आवश्यकता होगी तब वह उस रुपयेसे अन्न मोल ले लेगा। इस दृष्टिसे तो अब व्यापारका स्वरूप इस प्रकारका हो गया—

$$प^{1} \longrightarrow मु \longrightarrow प^{2}$$

[यहाँ बीचमे मु मुद्राके लिए आया है]

देखनेमे आजतक व्यापारका यही स्वरूप है। साधारण माल बनाने और बेचनेवाली साधारण जनताकी दृष्टिमे व्यापार यो ही हो रहा है। पर लोग उस बीचवाले व्यक्तिको भूल जाते है जो $प^{1}$ और $प^{2}$ के स्वामियोके बीचमे मु-के स्वामीके रूपमे बैठा हुआ है। वह नि स्वार्थ लोकसेवाके भावसे न तो मुद्रा देकर $प^{1}$ मोल लेता है, न इस उदार भावसे प्रेरित होकर मुद्रा लेकर उस मालको फिरसे बेचता है। उसका उद्देश्य न तो कृषककी आवश्यकताकी पूर्त्ति करना है न जुलाहेकी, वरन् स्वयं लाभ उठाना है। उसकी दृष्टिसे व्यापारका स्वरूप यह है .—

$$मु^{1} \longrightarrow प \longrightarrow मु^{2}$$

[$मु^{1}$ वह रुपया है जो उसने पण्य मोल लेनेमे लगाया था और $मु^{2}$ वह रुपया है जो उसे पण्य बेचनेपर मिला]

$मु^{1}$ पूँजी है। यदि अन्तमे पण्य बेचनेपर उतना ही मिले जितना उसको मोल लेनेमे लगा था अर्थात् यदि $मु^{2}$ और $मु^{1}$ बराबर हो तो इस व्यक्तिका बीचमे पड़ना व्यर्थ हुआ। उसका एकमात्र लक्ष्य यह है कि $मु^{1}$ से $मु^{2}$ अधिक हो क्योकि $मु^{2} — मु^{1} =$ ला (लाभ)

अब वह चाहे तो इस लाभकी रकमको फिर उसी प्रकार व्यापारमे लगाये। चूँकि उसकी पूँजी अब बढकर मु^{१} + ला हो गयी है, इसलिए उसका लाभ भी पहलेसे अधिक होना चाहिए। इस प्रकार उसकी पूँजी बढती चली जायगी।

प्रश्न यह है कि मु^{१} किस प्रकार मु^{२} मे बदल गया ? पण्यका परिमाण तो बढा नही फिर उसके लिए अधिक रुपया कहाँसे मिल गया ? इसके भी पहले यह सवाल उठता है कि मु^{१} यानी पहली पूँजी कहाँसे आयी ? यह प्रश्न यो उठता है कि मु^{१} और मु^{२} मे भेद हो सकता है। यह सम्भव है कि कोई मितव्ययी व्यक्ति अपना पेट काट-काटकर थोडा-थोडा बचावे और उसे पूँजीके रूपमे लगावे। यह पूँजी बहुत अशोमे उसके निजी परिश्रमका परिणाम मानी जा सकती है पर यह बात आगे चलकर जो और बढते हुए लाभ होते जायँगे उनके लिए नही कही जा सकती। इन रकमोको तो उसने बिना परिश्रम किये, बिना अपना पेट काटे, बिना मितव्ययिता किये, प्राप्त किया है। लाखो करोडोकी बात छोडकर एक साधारण उदाहरण लिया जाय। कोई मितव्ययी व्यक्ति एक-एक दो-दो रुपया करके कुछ रुपया, मान लीजिए ५०), जमा करता है। यहाँ तक तो उसका परिश्रम था। वह इस रुपयेसे किसी अच्छी कम्पनीका एक शेयर मोल ले लेता है। अब हर साल घर बैठे उसको कुछ मिलता रहता है यहाँ तक कि कुछ वर्षो-मे उसका लगाया हुआ सारा रुपया भी वसूल हो जाता है और मुनाफा बराबर आता रहता है। उधर कम्पनीका व्यवसाय बढता जाता है अर्थात् उसकी पूँजी भी जो अशतः इस व्यक्तिकी पूँजी है, बढती जाती है। इसका रहस्य क्या है ? रुपया रुपयेको कैसे जन्म दे सकता है ?

ऐसे बहुतसे लोग है जिनको इस प्रश्नपर स्यात् आश्चर्य होगा। वह कह बैठेगे कि इसमे कौन-सी विचित्र बात है, माल जितनी लागतमे बना उससे अधिक मूल्य★ मिला, बस यही जो अधिक मिला वह मुनाफा है।

★ Price.

इसपर भी हमारा वही प्रश्न रह जाता है, अधिक क्यो मिला ? जब पण्य उतनेका उतना ही रहा, कम-से-कम बढा नही, तो उसका मूल्य अधिक क्यो मिला ? यह प्रश्न और उत्तर हमको इस बातपर विवश करते है कि सक्षेपमे हम मूल्यकी बात समझ ले ।

हम जब कहते है कि बीस सेर गेहूँका मूल्य २) है तो हमारा यह अर्थ तो है ही कि बीस सेर गेहूँ देकर २) मिल सकते है और २) देकर बीस सेर गेहूँ मिल सकता है, पर इस अर्थके नीचे भी यह भाव दबा है कि बीस सेर गेहूँ उतनी चाँदीके बराबर है जितनी कि २) मे है । यदि एक रुपया नामवाले सिक्केमे एक तोला चाँदी मान ली जाय तो हमारा तात्पर्य्य यह है कि बीस सेर गेहूँ = दो तोला चाँदी, अर्थात् इन दोनोका विनिमयार्घ बराबर है । इसी प्रकार दो तोला चाँदीका विनिमयार्घ यदि अठारह छटाँक घीके बराबर हो तो फिर—

बीस सेर गेहूँ = दो तोला चाँदी = अठारह छटाँक घी = ...
ऐसी लडी बन जायगी । मूल्य कई कारणोसे घटता-बढता रहता है । कभी किसी रोगके प्रकोप या युद्धके छिड जाने या ऐसे ही किसी कारणसे माँग एकाएक बढ जाय तो मूल्य बढ जायगा, यदि माँग घट जाय तो मूल्य गिर जायगा । इसी प्रकार एकाएक फसल मारी जाय, माल ढोनेवाला जहाज़ डूब जाय या कोई आकस्मिक कारण आ पडे और मालकी कमी पड जाय तो मूल्य बढ जायगा । दूसरा माल अधिक हो जानेसे मूल्य घट सकता है । यह भी हो सकता है कि कुछ व्यक्तियोके हाथमे एक प्रकारसे एकाधिकार आ जाय । वह माल जमा कर लें और मूल्य बहुत बढाकर बेचे । ऐसी बातें हो सकती है और होती रहती है पर विशेष अवस्थाओको छोडकर मूल्य पण्यके विनिमयार्घसे बहुत दूर नही जा सकता । साधारण मनुष्यको अपनी आवश्यकताको पूरा करनेवाले पण्योमे दिलचस्पी है । वह जब बीस सेर गेहूँ देकर २) अर्थात् दो तोला चाँदी लेता है तो यह समझकर कि कल जब मुझे घीका काम पडेगा तो इस दो तोले चाँदीको देकर मै अठारह

छटाँक घी ले सकूँगा। यदि यह विश्वास न हो तो मुद्राका चलन उठ जाय और सीधे पण्योका परिवर्त्तन फिरसे होने लग जाय। अत मूल्यकी तहमे पण्योका परिवर्त्तन है और मूल्य पण्योके विनिमयार्घके आस-पास ही टिक सकता है।

अब हमको देखना यह है कि पण्योका विनिमयार्घ किसपर निर्भर है। हम जब दो वस्तुओको बराबर कहते है तो उनमे कोई-न-कोई समान गुण देखकर ही ऐसा कहते है। यह दो लकडियाँ बराबर है, क्यो ? इसलिए कि इनकी लम्बाई बराबर है। रुईका यह ढेर लोहेके इस टुकडेके बराबर है, क्यो ? इसलिए कि दोनोका गुरुत्व अर्थात् पृथ्वीके साथ आकर्षण बराबर है। इसी प्रकार जब हम यह कहते है कि—

बीस सेर गेहूँ = आठ गज कपडा = दो तोला चाँदी।

तो इन तीनो मदोमे बराबरीवाला कौन-सा अंश है ? ऐसा व्यवहार तो सहस्रो वर्षोसे होता आ रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि लोगोकी सहज बुद्धिने इस तत्त्वको समझ लिया है पर अब उसी तत्त्वको स्पष्ट शब्दोमे व्यक्त करना है।

इन सबमे ही भोग्यार्घ है पर वह तो बराबर हो नही सकता। जिस आवश्यकताकी पूर्ति गेहूँ करता है वह उस आवश्यकतासे भिन्न है जिसकी पूर्ति कपडा करता है और जिसकी पूर्ति चाँदीसे होती है वह इन दोनोसे नितान्त भिन्न है। मात्रा चाहे जितनी बढायी जाय, एकका स्थान दूसरा नही ले सकता। अत बराबरीका आधार भोग्यार्घमे नही है।

विचार करनेसे प्रतीत होता है कि यह आधार श्रम है। जिस वस्तुको तय्यार करनेमे जितना ही अधिक श्रम लगता है, वह उतना ही महार्घ होती है, उसका विनिमयार्घ उतना ही अधिक होता है। यदि दो पण्योको तय्यार करनेमे बराबर-बराबर श्रम लगता है तो उनके विनिमयार्घ बराबर होगे अत. जब हम यह कहते है कि इतना गेहूँ इतने कपडेके बराबर है तो हमारा भाव और विश्वास यही है कि इतने गज कपडेको तय्यार करनेमे

जितना श्रम लगा है उतने ही श्रममे इतना सेर गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि श्रमकी नाप-तौल कैसे हो? इसका कोई साधारण और सरल वैज्ञानिक उपाय नही है। यदि हो भी तो सबके व्यवहारमे लाने योग्य नही है। अतः श्रमकी नाप घण्टोसे होती है। किसी वस्तुको तय्यार करनेमे जितना समय लगता है उससे इस बातका अनुमान किया जा सकता है कि उसपर कितना श्रम खर्च हुआ है। यह आक्षेप किया जा सकता है और ठीक भी है कि किसी नियत कालमे सब लोग बराबर-बराबर श्रम नही करते पर एक औसत या सर्दल अवश्य होता है; कोई कुछ अधिक कर ले जायगा कोई कुछ पीछे रह जायगा, परन्तु प्राय सबका ही श्रम उस औसतके आसपास होगा। वस्तुके इस निर्माणकालको अर्थात् उस कालको जितनेमे एक औसत श्रमिक उस वस्तुको तय्यार कर सकता है, श्रमकाल★ कहते है। केवल श्रमकाल शब्दसे व्यक्ति व्यक्तिके पृथक्-पृथक् श्रमकालकी भ्रान्ति न हो इसलिए यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि उस समयमे जैसे औजार प्रायश व्यवहारमे आते है उनसे ही काम लेकर एक औसत श्रमिक जितने कालमे उस वस्तुको तय्यार कर सकता है उसी कालसे श्रम और श्रमके द्वारा विनिमयार्घका अनुमान होता है। इस कालको समाज दृष्ट्या आवश्यक श्रमकाल† कहते है।

किसीको यह भ्रम न हो कि हमने कच्चे मालका लिहाज नही किया है। जब हम बाइसिकिलके विनिमयार्घको निकालने बैठते है तो पुर्जोके श्रमकालमे उतने लोहेके श्रमकालको भी जोड लेते है।

अब यदि हम अपने पुराने प्रश्नपर आ जायँ तो यह स्पष्ट है कि किसी पण्यका मूल्य मुख्यतः उसपर खर्च किये गये श्रमपर निर्भर है। इसको

★ Labour time.

† Socially necessary labour-time.

ध्यानमे रखते हुए उस व्यापारीको लीजिए जिसने पहले रुपया लगाकर कपडा या अन्न मोल लिया और फिर उसको बेचता है। उस कपडे या अन्नके विनिमयार्घको सामने रखकर उसने मूल्य दिया होगा। उसके घर पडे रहनेसे इस विनिमयार्घमे साधारणत. कोई वृद्धि-विशेष नही होती। इसलिए बेचनेपर भी उसे सामान्यत उतना ही मिलना चाहिए। यदि अधिक मिलता है तो इसलिए कि उसने कभी सस्तीके समय माल खरीद लिया होगा और अब मँहगीमे बेचता है या थोक लेकर फुटकर बेचता है, इत्यादि। इन सब बातोके होते हुए भी उसको बहुत लाभ नही हो सकता अर्थात् वह बहुत पूंजी नही बटोर सकता। उससे अधिक वह कमा सकता है जो पण्यको लेकर उसे पण्यान्तरमे परिणत करता है। जो रुई मोल लेकर उसका कपडा बनवाकर बेचता है, उसे अधिक पैसे मिलेगे, क्योकि रुईको कपडेमे बदलनेमे जो श्रमकाल लगेगा उसने कपडेके मूल्यको रुईके मूल्यसे बढा दिया। मालको एकसे लेकर दूसरेके हाथ बेच देनेके व्यवसायकी अपेक्षा कच्चे मालको लेकर उससे पक्का माल तय्यार करके बेचनेमे सदैव अधिक मुनाफा होगा और जितना ही अधिक मुनाफा होगा उतनी ही अधिक पूँजी बढेगी।

पर यह बात इतनी सरल नही है कि इतनेमे ही खत्म हो जाय। कपडेका मूल्य तो रुईसे अधिक होता है पर मुनाफा किसकी जेबमे जायगा ? उदाहरणसे देखिए। प्राचीनकालमे कारीगर स्वतन्त्र होते थे। आज भी जुलाहे या कोरी, लुहार, मिस्त्री स्वतन्त्र होते है अर्थात् अपने औजारके आप स्वामी होते है और जो पण्य तय्यार करते हैं उसका मुनाफा आप लेते है। जुलाहेके पास करघा होता है, वह सूत मोल लेकर कपडा बनाता है और बेचता है। यदि किसी महाजनसे कुछ ऋण भी लेता है तो वह महाजन अपना रुपया और ब्याज ले सकता है। करघे, करघेके बने माल और उस मालके मूल्यपर अधिकार उस जुलाहेका ही रहता है। कपडा बिननेका कोई बडे-से-बड़ा कारखाना हो, वह है उसी

प्रकारकी जगह जैसी जुलाहेके मकानकी बिननेवाली दालान। उसकी बडी मशीने करघोके ही विस्तृत रूप है और काम करनेवाले जुलाहे है। अब यदि ऊपरवाला न्याय यहाँ भी लागू माना जाय—और न माननेका कोई कारण नही है—तो यह कारीगर ही मशीन और मशीनसे बने कपडेके स्वामी है और सारा मुनाफा इनमे ही बँटना चाहिए। जिसका रुपया लगा है वह अधिकसे अधिक अपना मूल और उचित ब्याज ले ले। पर इससे तो उसका परितोष नही हो सकता। इतनी बडी मशीन रखनेका तात्पर्य यही है कि श्रम कम लगे। जिस मशीनपर सौ मजदूर लगे होगे वह सौ स्वतन्त्र कारीगरोसे अधिक काम करेगी। इकट्ठा मोल लेनेसे कच्चा माल भी सस्ता मिलेगा। साख अधिक होगी, इसलिए यदि कभी काम पड गया तो ऋण सुभीतेसे मिल सकेगा। पर इन सब सुविधाओका उपयोग ही क्या हुआ, यदि रुपया लगानेवाले मजदूरोकी सम्पत्ति मान ली गयी? यदि उसने इसलिए रुपया लगाया होता कि पण्य खूब तैयार हो और लोगोकी आवश्यकताएँ सुगमतासे पूरी हो तो वह इस बातको मान लेता। पर वह भूखोको अन्न और नङ्गोको वस्त्रकी कमी न हो इस उद्देश्यसे व्यवसाय करने नही आया था, वह तो अपने रुपयोकी सन्ततिकी वृद्धि चाहता है।

एक काम रुपया लगानेवाले कर सकते है। मशीनोके युगके पहिले यही किया जाता था। बनारस जैसे नगरोमे जहाँ बहुतसे कारीगर रेशमी माल तैयार करते है, अब भी ऐसा होता है। रुपये वाले कारीगरोको ऋण देकर उनसे यह शर्त करा लेते है कि तैयार होनेपर माल पहले हमको दिखला लेना। हम न ले तब दूसरेके हाथ बेचना। दबाव होनेसे दाम भी कुछ हल्का ही देते है। इससे कारीगरकी स्वतन्त्रता बहुत कुछ नष्ट हो जाती है और पूँजीकी वृद्धि होती है। पर यह भी पर्याप्त नही है। यही कारीगर यदि एक जगह काम करे तो खर्च कम पडे, फिर भी जब तक स्वतन्त्र यन्त्र चलते है तबतक अडचन रहती है। खर्च तो वस्तुतः तब कम होता है जब स्वतन्त्र यन्त्रोकी जगह एक महायन्त्र हो।

महायन्त्रो यानी मशीनोने रुपयेवालोका पक्ष प्रबल कर दिया है। साधारण कारीगरकी यह सामर्थ्य नही है कि वह इन्हे मोल ले सके । यदि बहुत-से कारीगर मिल जायँ तो भी उनके लिए मशीन खरीदना कठिन होगा । रुपयेवाले अपने रुपये और साखके द्वारा मशीन ले सकते है । इस प्रकार वह यन्त्रके स्वामी बन जाते है । अब रही श्रमकी बात । उनको स्वतन्त्र कारीगर तो चाहिएँ नही, केवल मजदूर चाहिएँ अर्थात् ऐसे लोग चाहिएँ जो पैसा लेकर श्रम करनेको तैयार हो और अपनी मजदूरी मात्रसे मतलब रखे, अपनेको यन्त्रादिका स्वामी समझकर मालिक बननेका स्वप्न न देखे । ऐसे लोग पर्याप्त संख्यामे मिल जाते है । यह कहाँसे आते है इसका विचार 'पूँजीवाद' वाले अध्यायमे होगा पर लड़ी टूटती नही, आदमी बराबर मिल जाते है । मिलनेकी ही बात नही है, ऐसे लोगोकी संख्या बराबर बढती जाती है जिनके पास खेती-बारी, घर आदि कोई सम्पत्ति नही है । उनके पास अपने शरीर मात्र है । मनुष्यका शरीर तो कोई लेकर क्या करेगा, उसका तो यही उपयोग है कि उससे काम लिया जाय यानी काम कराया जाय, उसमे श्रम करनेकी जो शक्ति है उससे काम लिया जाय । यह काम गुलामी प्रथा द्वारा भी हो सकता है पर यह प्रथा एक तो कहने-सुननेमे भी दूषित है, दूसरे महँगी भी है । गुलामकी देख-रेखमे बडा पैसा लगता है । वह काम भी कम करता है । यह मनुष्यकी मनोवृत्ति है कि वह जितने ही बन्धनोमे रखा जाता है उतना ही असन्तुष्ट रहता है और काम कम करता है । यही कारण है कि यह प्रथा उठ गयी । इसको उठानेका श्रेय यूरोपवालोकी धर्म्मबुद्धि नही वरन् व्यवसायबुद्धिको है । दूसरा उपाय वही है जो बरता जा रहा है । यह लोग अपने शरीरके स्वामी बने रहते है पर अपनी श्रमशक्तिको समय-विशेषके लिए रुपयेवालेके हवाले कर देते है । ऐसे लोगोके लिए कुछ दिनोसे 'सर्वहारा'* नाम चल पड़ा है ।

---

* Proletarian.

अकिचन कहना भी बुरा न होगा। तात्पर्य यह है कि इनके पास कुछ नही है। वही सच्चा मजदूर हो सकता है जो पूर्णतया अकिञ्चन हो। उसको लोग दान, दया या आदरके भावसे प्रेरित होकर भले ही भोजन दे दें, पर वह स्वयं अपने जीवन निर्वाहके लिए कुछ कर नही सकता। यदि उसके पास रुपया हो तो अपने कामके पण्य मोल ले ले या कोई पण्य हो तो उसे बेचकर दूसरे पण्य ले। हमारे सर्वहाराके पास कुछ न होते हुए भी एक वस्तु है। वह है उसकी श्रमशक्ति★ श्रम करनेकी शक्ति। बस वह रुपयेवालेके हाथ इसीको बेचता है। यही उसका एकमात्र पण्य है। इसका विनिमयार्घ-के हिसाबसे उसको मूल्य मिलता है। इसी मूल्यको पारिश्रमिक या मजदूरी† कहते हैं।

मजदूरीके सम्बन्धमे थोडा और विचार कर लेना अच्छा होगा। रुपये-वाले बाजारको देखकर ही मजदूरी देते हैं। एक ओर रुपयेवाला है जो घाटा सहकर भी कुछ दिन चल सकता है, दूसरी ओर मजदूर है जिसको अपने भूखे और नंगे बच्चोके लिए आज सायकालके लिए कुछ प्रबन्ध करना है, नही तो वह दम तोडने लगेगे। कानून जिसको रुपयेवालोने ही बनाया है, भले ही दोनोको बराबर कहे पर वस्तुत बराबरीका कही नाम भी नही है। मजदूरको अगत्या रुपयेवालेकी शर्तें माननी पडेगी। इतना हो है कि बाजारका रुख देखकर शर्ते कभी कुछ कडी, कभी कुछ ढीली हो जायँगी। शर्तोका निचोड यही है कि मजदूर कम-से-कम मजदूरीमे अधिक काम करे।

प्रत्येक रुपयेवाला जो मजदूर रखता है अर्थशास्त्रका या दर्शनका पण्डित नही होता पर मजदूरीका तत्त्व न समझते हुए भी व्यवहार बुद्धिसे दो-तीन बातोका लिहाज मजदूरीमे रखता है। पहिली बात तो यह है कि इतना तो देना ही चाहिए कि मजदूर जीता ही नही वरन् स्वस्थ रहे। यदि

★ Labour Power. † Wages.

यह न हुआ तो उसकी श्रमशक्ति ही नष्ट हो जायगी । इसके साथ ही उसको जो मजदूरी दी जाती है उसमे इस बातकी रियायत भी रहती है कि वह अपने स्त्री-बच्चोका भी कुछ भरण-पोषण कर सके । यह इसलिए नही रहती कि किसीको मजदूर या उसके कुटुम्बियोसे प्रेम है । बात यह है कि यदि साधारण बालिग पुरुषके पत्नी न हो तो वह प्राय अर्धविक्षिप्त-सा रहता है । ऐसी दशामे वह ठीक-ठीक काम नही कर सकता । यदि मजदूरकी श्रमशक्तिसे लाभ उठाना है तो इसके लिए इसका भी प्रबन्ध करना होगा कि वह कुटुम्बका येनकेन प्रकारेण पालन-पोषण कर सके । इसकी तहमे एक और बात छिपी हुई है । मजदूरकी श्रमशक्ति तो हमारे रुपयेवालेके लिए वही हैसियत रखती है जो उसके एञ्जिनकी श्रमशक्ति । उसके लिए दोनो ही उत्पादनके साधन है । वह नये एञ्जिनको खरीदनेके समय यह जानता है कि कुछ वर्षोमे यह बेकार हो जायगा और फिर नया एञ्जिन मोल लेना होगा । इसलिए वह प्रतिवर्ष कुछ रुपया निकालकर रखता जाता है । इसी रुपयेसे वह समयपर नया यन्त्र क्रय करता है । मजदूर भी कभी वृद्ध होता है और मरता है । फिर कहीसे नया मज़दूर लाना होगा । मजदूर किसी कारखानेमे तो ढलते नही; मनुष्यसे ही तो मनुष्य पैदा होता है । इसलिए, जैसे नये एञ्जिनको मोल लेनेके लिए थोडा-थोडा रुपया पहिलेसे जमा किया जाता है, उसी प्रकार थोडा-सा रुपया मजदूरको इसलिए भी दिया जाता है कि वह विवाह करके बच्चे पैदा करे और उनको पाले-पोसे ताकि जब वह बेकार हो जाय तो नया मजदूर तैयार रहे । मजदूरीका यही रहस्य है । मजदूरी मजदूरकी श्रमशक्तिका मूल्य है और मूल्य लगाते समय इस बातका भी लिहाज रहता है कि शक्तिका मन्दिर अर्थात् मजदूर देहेन और मनसा यथासम्भव अस्वस्थ न रहे और अपने बेकार होनेके पहले अपने जैसे कुछ दूसरे शरीर पैदा कर जाय ।

इस प्रकारके मजदूर और कारीगरमे बड़ा अन्तर है । कारीगर गरीब हो तो भी उसको यह सन्तोष और यह गर्व होता है कि अमुक वस्तु मेरे

हाथोकी कारीगरी है । मजदूर किसी महायन्त्रके एक छोटेसे पुर्जेसे सम्बन्ध रखता है । कारखानेमे कपडा या जूता या मोटर, कुछ भी बनता हो पर मजदूर यह नही कह सकता कि इस पण्यको या इसके अमुक अशको मैंने बनाया है । उसको कानून चाहे ऐसा न कहे पर वस्तुत वह दास है और नियत कालके लिए रुपयेवालेको उसी प्रकार उसपर स्वत्व है जैसे कि भूमि या अन्य साधनोपर । कमसे कम रुपया लगानेवालेकी यही धारणा होती है ।

यह सब हो पर यदि मजदूरको मज़दूरीके रूपमे अपने श्रमका पूरा मूल्य मिल जाता है तो फिर रुपया लगानेवालेको कोई विशेष मुनाफा नही हो सकता । सूतसे कपडा बनता है । सूतका विनिमयार्घ तो पहले ही देकर सूत लिया गया था । अब श्रमिक जितने घण्टे श्रम करता है उसका पूरा मूल्य उसको दे दिया जाय यानी उसकी मजदूरी इस मूल्यके बराबर हो तो कपड़ा बेचनेपर वही सूतका मूल्य बच रहेगा पर इससे तो व्यापार पनप नही सकता ।

पर रुपया लगानेवालेके सौभाग्यसे ऐसा होता नही । इसके भीतर एक बहुत बड़ा रहस्य है और वही मुनाफेकी कुञ्जी है । जब रुईसे सूत बनता है तो उसके विनिमयार्घमे कोई भेद नही पडता पर उसका भोग्यार्घ बदल जाता है । मान लीजिए कि रूईका विनिमयार्घ जो उसके श्रमकाल-पर निर्भर है वि' है और जो मूल्य मिला वह मू है तो मू-मे दो अंश विद्यमान है । एक तो वि^{1} ज्योका-त्यो है, दूसरा वह विनिमयार्घ है जो श्रमके द्वारा उसमे आया है । यदि इसे वि^{2} कहे तो

त्रि^{1} + वि^{2} = मू

वह वि^{2} विचारणीय है । श्रमशक्ति एक विलक्षण वस्तु है । वह अपने व्ययकालमे अपने पुनर्जन्मका प्रबन्ध कर लेती है और साथ ही अपनी सन्तति भी उत्पन्न कर लेती है । मान लीजिए कि कुछ सूत है । उसका विनिमयार्घ ३) है । एक मज़दूर आठ घण्टेके लिए १) रोजकी मजदूरीपर रखा जाता

है । अब यदि मजदूर आठ घण्टे काम करके १) रोजका विनिमयार्घ पैदा करे यानी उस सूतपर जो परिश्रम करे उससे मालका मूल्य ४) मात्र हो जाय तो मुनाफेकी कोई जगह नही रही । पर वस्तुत होता यह है कि वह पाँच-छ घण्टेके श्रमसे ही उसका विनिमयार्घ १) बढा देता है । पॉच-छ. घण्टेमे वह मजदूरीके बराबर श्रम कर चुकता है । इतनी देरमे वह अपने श्रमका विनिमयार्घ तो कच्चे मालमे जोड चुकता है । पर उसे कई घण्टे अधिक काम करना पडता है । इस श्रमकालका उसे कुछ नही मिलता पर विनिमयार्घ तो बढता हो जाता है । यदि पॉच घण्टेके बाद माल ४) का था तो आठ घण्टेके बाद वह कमसे कम ५) का होगा । अपने विनिमयार्घके ऊपर जितना विनिमयार्घ मजदूर पैदा करता है (या यो कहिए कि मजदूरको विवश होकर पैदा करना पडता है) उसे अतिरिक्तार्घ★ कहते है ।

यह अतिरिक्तार्घ ही मुनाफेका स्रोत है । जो कच्चा माल मोल लिया गया था उसका तो विनिमयार्घ दिया ही गया था। मज़दूरको भी उसके श्रम-का विनिमयार्घ मजदूरीके रूपमे दिया जाता है । परन्तु अधिक श्रम करके जो अतिरिक्तार्घ वह पैदा करता है उसके लिए उसे कुछ नही मिलता । पर यह अतिरिक्तार्घ तैयार मालके मूल्यके भीतर विद्यमान है । जो हमने उदाहरण लिया था उसमे श्रमके द्वारा उत्पन्न किये गये विनिमयार्घ वि[२] के दो भाग करने होगे एक तो मजदूरके श्रमका विनिमयार्घ और दूसरा मज़दूर द्वारा उत्पन्न किया गया विनिमयार्घ । यदि इनको श्र और अ कहे तो हमको

※ Surplus Value. **(सरप्लस वैलू) कुछ लोग इसके लिए अतिरिक्त मूल्य शब्दका प्रयोग करते है परन्तु** Value **और** Price **भिन्न-भिन्न अर्थोंके वाचक हैं । अर्थ और मूल्य दो पृथक् शब्दोंके होते हुए एक हीका प्रयोग करना अनावश्यक और भ्रामक है ।**

($वि^{1}$ + $वि^{2}$ = मू को इस रूपमे लिखना होगा—

$वि^{1}$ + (श्र + अ) = मू

इसमे जो अ वाला अश है वही रुपया लगानेवालेका मुनाफा है ।

जो प्रश्न अध्यायके आरम्भमे उठाया गया था, उसका यही उत्तर है । रुपये लगानेवालेका यही प्रयत्न होता है कि वह मज़दूरोसे अधिकसे-अधिक काम ले अर्थात् उनकी श्रम शक्तिका विनिमयार्घ चुकाकर उनसे अधिकसे अधिक अतिरिक्तार्घ उत्पन्न करावे । यह अतिरिक्तार्घ उसके हाथ मुफ्त लगता है और यही उसका मुनाफा है। जितना ही मुनाफा अधिक होगा उतनी ही उसकी पूँजीमे वृद्धि होगी । इस प्रकार उसकी प्राथमिक पूँजी अपनेको बढा सकती है अर्थात् रुपया रुपयेको पैदा करता है ।

इस प्रकार जो पूँजी पैदा होती है उसपर व्यक्तियो या व्यतिसमूहो अर्थात् कम्पनियोका पूरा-पूरा स्वत्व होता है । जनता या राजका उसपर कोई नियन्त्रण नही होता । इसका क्या परिणाम होता है इसपर 'पूँजीवाद' वाले अध्यायमे विचार होगा ।

नवाँ अध्याय

विनिमय और वितरणके साधनोंपर निजी स्वत्व

उत्पादनके साधनोके साथ-साथ विनिमय और वितरणके साधनोपर भी संक्षेपसे विचार करना अच्छा होगा। इस कोटिमे बङ्क, रेल, जहाज, दूकान शामिल है। इस सबपर व्यक्तियो या थोडे-थोडे व्यक्तियोके समूह यानी कम्पनियोका★ अधिकार है।

यह बात नयी नही है। रेल, वायुयान या स्टीमर न रहे हो पर नाव, बजडा, बैलगाडी, छकडे तो थे ही। यह व्यक्तियोके ही हाथमे थे। समय-समयपर लोगोको ऋणकी आवश्यकता पडती थी। उसे महाजन पूरा करते थे। आज भी महाजन है पर उनके स्थानमे अब बङ्क बढते जाते है। कच्चा और बना सब तरहका माल दूकानोपर बिकता था और अब भी बिकता है। इन सव व्यवसायोसे जो लाभ होता था और है वह इनके थोडेसे मालिकोके हाथमे जाता है। पर आजकल एक विशेषता हो गयी है। जो लोग महाजनी करते है वह देखते है कि बडे-बडे कल-कारखानोको ऋण देना अधिक लाभदायक होता है। इन कारखानोको खासा मुनाफा होता है, इसलिए ब्याज और मूल अच्छी तरह दे सकते है। ऋण देते-देते महाजन अर्थात् बङ्क मिलोमे हिस्से मोल ले लेते है। इसी प्रकार जिन लोगोको कल-कारखानोसे मुनाफा होता है, वह अपनी पूँजी बङ्कोमे लगाते

★कम्पनियोंकी गणना भी पिछले और इस अध्यायमें व्यक्तियोंमें ही की गयी है क्योंकि क़ानूनकी दृष्टिसे भी वह व्यक्ति है और उनका सारा व्यापार कुछ थोड़ेसे व्यक्तियोंके हितमें ही होता है।

है और महाजनी करते है। यही लोग जहाज और रेलकी कम्पनियोके हिस्से मोल ले लेते है या नयी कम्पनियाँ खोलते है। इससे इनको यह सुविधा होती है कि अपना माल सस्तेमे जहाँ चाहते है भेज सकते है। एक ही, या एक ही गुटके हाथमे माल, रुपया और यातायातके साधन, उत्पादन, विनिमय और वितरणके साधन, होनेसे व्ययमे किफायत और आयमे वृद्धि की जा सकती है। अपने प्रतियोगियोको दबाया जा सकता है और अपना मुनाफा अर्थात् आगेके लिए पूँजी बढायी जा सकती है। इन्ही सब कारणोसे कई विदेशोका माल भारतीय मालसे सस्ता पडता है। इसका क्या परिणाम होता है यह पूँजीवादवाले अध्यायमे दिखलाया जायगा। वस्तुतः विनिमय और वितरणके साधनोकी एक ही दशा है। विदेशोमे बेल्जियम और जर्मनी इसके उदाहरण है। भारत खुद इसका अच्छा उदाहरण है।

दसवाँ अध्याय

वर्गसंघर्ष

वर्गयुद्ध, वर्गसंघर्ष या श्रेणीयुद्ध शब्द भी हमारे देशमे खूब चल पडे है। किसी-न-किसी प्रकार यह समझा जाने लगा है कि समाजवादियोकी परिभाषासे इन शब्दोका विशेष सम्बन्ध है और समाजवादी ही वर्गयुद्ध फैलानेके दायी है। बडे-बडे नेता जिनसे यह आशा की जाती है कि औरोसे अधिक समझदार होगे और भाषा भी अधिक नाप-तौलकर बोलते होगे ऐसी बाते कह जाते है जिनका यही तात्पर्य्य हो सकता है कि वर्गयुद्ध फैलानेकी जिम्मेदारी समाजवादियोपर है। यदि वह न होते तो वर्गयुद्ध न होता।

वर्गयुद्धका स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है क्योकि समाजवादियोकी दृष्टिमे जितनी हानि उत्पादनके साधनोपर निजी स्वत्वसे होती है उतनी ही हानि वर्गयुद्धसे होती है। बिना वर्गयुद्धको समझे हुए पूँजीवाद भी समझमे नही आ सकता।

पहले तो वर्ग शब्दका अर्थ जानना जरूरी है। साधारणत लोग वर्ग-का प्रयोग यो ही कर दिया करते है पर उसका एक विशेष पारिभाषिक अर्थ है। पहले अध्यायमे हमने जान-बूझकर 'समुदाय' का प्रयोग किया है। आजकल जो अशान्ति फैल रही है उसका कारण समुदायोका लोभ, समुदायोकी तृष्णा, समुदायोकी प्रतियोगिता, बतलायी गयी है। मनुष्योका समूह किसी भी प्रकारसे एकत्र हो सकता है। मेले-तमाशेके लिए, मजहबी कृत्योके लिए भी, मनुष्योके समूह एकत्र होते है, परन्तु 'वर्ग'* शब्द

---

* Class.

समाजवादी परिभाषामे एक विशेष अर्थमे आता है। इसी अर्थमे किसी-किसी प्रान्तीय भाषामे 'श्रेणी' शब्द आता है।

जिस समूहके व्यक्तियोके आर्थिक हित एकसे होते है, उसको वर्ग कहते है। जैसे, जमीनदारोका एक वर्ग है, मजदूरोका दूसरा वर्ग है, मिल-मालिकोका तीसरा वर्ग है। यह भी कोई ठीक परिभाषा नही है, पर इससे वर्ग शब्दका भाव समझमे आ जाता है। वर्गोके हित स्थायी है और उनके लोभ और प्रतिस्पर्धाके कारण ही व्यक्तियो और मनुष्य-समूहोके जीवन बनते-बिगडते रहते है। इस प्रतिस्पर्धाका नाम ही वर्गयुद्ध या वर्ग-संघर्ष है।

वर्गयुद्ध अनादि कालसे तो नही चला आता, पर है बहुत पुरानी चीज। कमसे-कम जबसे सभ्य समाजका जन्म हुआ यानी ऐसे समाजका उदय हुआ, जिसमे कुछ लोगोके हाथमे भूमि और पूँजीपर अधिकार हो और दूसरे लोगोको उनके आश्रित रहना पडे तबसे यह वर्ग सघर्ष शुरू हुआ। एक ओर वह वर्ग था जिसके सदस्य दूसरोके श्रमसे लाभ उठाते थे चाहे वह लाभ पिछले अध्यायमे समझाये हुए अतिरिक्त अर्घसे पैदा हुए मुनाफेके रूपमे हो, चाहे वह अर्नजित वृद्धि अर्थात् लगानके रूपमे हो। दूसरी ओर वह वर्ग था जिसको अपने श्रमका फल पहले वर्गको सौप देना पडता था। बिना स्वय परिश्रम किये दूसरोके श्रमसे लाभ उठानेको शोषण* कहते है। इस दृष्टिसे पहला वर्ग शोषक वर्ग और दूसरा वर्ग शोषित वर्ग कहला सकता है। यह बात नही है कि शुरूसे आज तक शोषको और शोषितोका स्वरूप एक-सा ही चला आया हो। शोषणके कई ढङ्ग अब मिट गये है; उदाहरण-के लिए गुलामी प्रथाका अब प्राय. अभाव हो गया है। इसके साथ ही शोषणके और कई ढङ्गोका हालमे आविष्कार हुआ है। इनका प्रयोग बडे-बडे साम्राज्यवादी देश उपनिवेशोमे करते है। अभी भारतका इतिहास तो

---

* Exploitation.

वर्गसङ्घर्षकी दृष्टिसे बिलकुल नही लिखा गया है पर यूरोपका इतिहास कुछ हद तक इस दृष्टिसे लिखा गया है। विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि भारतमे भी वही शक्तियाँ काम करती रही होगी जिनका खेल यूरोपमे देख पडता है।

वर्गसंघर्षको बहुत थोडेमे यो समझाया जा सकता है। प्रत्येक युगमे अर्थके उपार्जनका कोई-न-कोई प्रमुख साधन होता है और उस साधनपर एक वर्गका आधिपत्य होता है। यह हो सकता है कि वह वर्ग पैतृक हो पर यह भी सम्भव है कि पैतृक न हो। फिर भी वर्गके सदस्योका सघटन पैतृक वर्गवालोसे किसी दृष्टिमे कम नही होता। जमीनदारोका वर्ग पैतृक है पर पूँजीपतियोका नही है। पर पूँजीपतियोका वर्ग जमीनदारोसे कही अधिक संघटित और बलवान् है। अस्तु, तो जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, जिस वर्गके हाथमे अर्थोपार्जनके प्रमुख साधनोपर आधिपत्य होगा वह समाजमे सबसे बलशाली होगा। उसीके हाथमे राजनीतिक शक्ति होगी। और दूसरे वर्ग उसके अधीन होगे। जैसे प्राचीन कालमे वह वर्ग जिसका भूमिपर अधिकार था सबसे प्रबल था क्योकि उस समय अर्थोपार्जनका प्रधान साधन भूमि थी। वाणिज्य-व्यापार था सही पर बहुत सकुचित। छोटे-छोटे राज्य थे जिनमे आपसमे आये दिन लडाइयाँ हुआ करती थी, व्यापारी स्वच्छन्द रूपसे नही पनप सकते थे। इस क्षत्रिय वर्गका सबपर आधिपत्य था और स्वभावत. इसने समाजका सङ्घटन ऐसा किया था कि इसका आधिपत्य चिरस्थायी रहे। यह बात केवल भारतमे नही, प्रत्युत उस कालके सारे सभ्य जगत्मे थी। वैश्य और शूद्र क्षत्रियके वशवर्त्ती, आश्रित और कृपा-काक्षी थे। केवल एक वर्ग था जो अर्थोपार्जनके साधनोसे अलग रहकर भी क्षत्रिय वर्गका मुकाबिला कर सकता था। वह था ब्राह्मणवर्ग। ब्राह्मणने अर्थोपार्जन छोड दिया था और इस भरोसे था कि दूसरे लोग उसका भरण-पोषण करे। इसके लिए वह विद्यादान तो करता ही था, जनताके इस विश्वाससे भी लाभ उठाता था कि उसकी मध्यस्थतासे ही लोग सुगमतासे

इहलोकसे स्वर्गलोक पहुँच सकते है । इसलिए वह क्षत्रिय वर्गसे टक्कर ही नही लेता था, बल्कि अपनेको कभी-कभी उससे श्रेष्ठ भी मानता था। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि एक ही व्यक्ति राजा और पुरोहित होता था। पर जहाँ ऐसा नही हुआ वहाॅ दोनो वर्गोमे सङ्घर्ष हुआ और अन्तमे अर्थशक्तिधारियो अर्थात् क्षत्रियोकी ही विजय हुई। भारतकी बहुत ही पुरानी पौराणिक कथाओमेसे कईमे यह इतिहास विकृत रूपमे वर्णित है। पहले तो विश्वामित्रका वशिष्ठसे हारकर कठोर तपस्या करके ब्राह्मण बनना ब्राह्मणोके प्राधान्यका सूचक है फिर क्षत्रियोका प्राधान्य होता है। परशुराम इक्कीस बार पृथ्वीको नि क्षत्र करते है। पर उनकी प्रत्येक विजयके बाद क्षत्रियोका राज्य होता है। अम्बिकाके व्याहके सम्बन्धमे वह भीष्मसे युद्ध ठानते है पर इसके बाद वह भी थककर बैठ जाते है और फिर सारे भारतमे क्षत्रियोका ही राज्य होता है। इस सारी कथावलीका एकमात्र निष्कर्ष यह है कि अर्थोपार्जनके साधनपर अधिकार रखनेवाले क्षत्रियोने परलोककी कुञ्जीके रखनेवाले ब्राह्मणो तकको दबाकर आधिपत्य अपने हाथमे रखा। ब्राह्मणो और क्षत्रियोका एक प्रकारका समझौता हो गया—सिद्धान्तत क्षत्रियोने ब्राह्मणोको अपनेसे ऊँचा मान लिया, व्यवहारत वह ब्राह्मणादि सभीके ऊपर रहे।

हमने ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्दोका जो प्रयोग किया है उसको और घटनाक्रमको थोडा-सा बदल देना होगा। बाकी ठीक यही अवस्था यूरोपमे नरेशो और धर्माध्यक्षोमे सङ्घर्ष और संग्रामके बाद उत्पन्न हुई। एक दूसरी बात है कि हमारे यहाॅकी अपेक्षा उनके यहाँ यह बात कई सौ, स्यात् कई हजार, वर्ष पीछे हुई।

अस्तु, यह क्षत्रिय वर्ग तो, जिसे सरदार या सामन्त वर्ग भी कहते है—क्योकि इनका आपसका सङ्घटन प्राय. ऐसा ही होता था कि सर्वोपरि एक सम्राट् या महाराजाधिराज, उसके नीचे न्यूनाधिक स्वतन्त्र मंडलेश्वर अर्थात् एक-एक देशके नरेश और इनके अधीन न्यूनाधिक स्वतन्त्र सामन्त

सरदार अर्थात् जागीरदार होते थे—समाजमे शीर्षस्थानीय था, और वर्गोका इसके साथ निरन्तर सङ्घर्ष चलता रहता था। संघर्षका अर्थ यह नही है कि बराबर युद्ध होते थे। सङ्घर्षका स्वरूप असन्तोष और आशिक असहयोग था। यह भी स्पष्ट है कि सङ्घर्ष उसी वर्गसे होता था जो स्वय अर्थोत्पादन के काममे लगा था पर जिसके काममे क्षत्रियवर्गके अस्तित्वसे अडचन पडती थी। इस प्रकारके दो वर्ग थे, एक तो व्यापारी, दूसरे सामान्य कृषक। कृषकोकी ओरसे भारतमे प्राचीन कालसे कब-कब कैसे आन्दोलन हुए इसका ठीक पता नही, आधुनिक युगमे, पिछले सौ डेढ सौ सालमे, तो कई बार अशान्तिने छोटे-मोटे विद्रोहका रूप पकड लिया है। भारतमे प्राचीन कालसे अंग्रेजी राजकी स्थापना तक वणिक् वर्ग यह प्रयत्न करता रहा है कि छोटे-छोटे राजोके स्थानमे एक विशाल राज बना रहे। यूरोपमे कई अवसरोपर व्यापारियोने लडकर अपने लिए विशेप अधिकार प्राप्त किये थे।

असन्तोषकी ऐसी अवस्था हजारो वर्षतक चली। अर्थोपार्जनके साधनोमे कोई जबर्दस्त परिवर्तन नही हुआ और सघर्षने भी कोई उत्कट रूप धारण नही किया पर जब भारत तथा एशियाके अन्य देशोसे यूरोपवालोका सम्बन्ध स्थापित हुआ तो रुपया व्यापारियोके हाथमे बढने लगा। धीरे-धीरे अर्थोपार्जनका यह साधन प्रबल हुआ और इस साधनके स्वामी अर्थात् नगरोके रहनेवाले व्यवसायी प्रबल होने लगे। उन्होने अपने लिए भाँति-भाँतिकी रियायते चाहनी शुरू की और उन बन्धनोको हटवानेकी कोशिश की जो राजनीतिक तथा अन्य प्रकारोसे उनके व्यापारिक विकासको बाँध रहे थे। उनके असन्तोषने अनेक रूप धारण किये, कही मजहबी, कही अर्द्धराजनीतिक, कही शुद्ध राजनीतिक। पुराने अधिकारी वर्गवालोको उनका यह काम पसन्द न था, इसलिए उन लोगोने विरोध किया। फलत. यह वर्ग-संघर्ष खुला युद्ध हो गया और अधिकारका फैसला तलवारके हाथो गया। उभय पक्षने शस्त्र ग्रहण किया। व्यवसायी पक्ष भी बलवान् था और अब कोरे मूक असन्तोषसे परितुष्ट न होकर अपने आर्थिक हितोके लिए

लडनेको तैयार था। इसीके फलस्वरूप इंगलैण्डमे वह क्रान्ति हुई जिसमे पुराने सामन्त वर्गकी ओरसे प्रथम चार्ल्सने अपने सिरकी आहुति दी और द्वितीय जेम्सको स्वदेशसे पलायन करना पडा। यद्यपि विलियम और मेरीके अभिषेकसे राजतन्त्र नामको फिर स्थापित हो गया, पर यह राजतन्त्र दूसरे ही आधारोपर था। शक्तिका केन्द्र नरेश और उनके सरदारो तथा बडे-बडे जागीरदारो और भूम्यधिपतियोके हाथसे निकलकर नगरनिवासी व्यवसायी वर्गके हाथमे आ गया। अब ज्यो-ज्यो मशीनोका आविष्कार हुआ व्यवसायियोका बल बढता गया और सरदारोका बल घटता ही गया। फ्रान्समे सरदारोने अपने हाथमे शक्ति अधिक काल तक रखी क्योकि वहाँ व्यवसायकी वृद्धि भी देरमे हुई। फलत सग्राम भी बडा भीषण हुआ। फ्रान्सीसी क्रान्ति ब्रिटिश क्रान्तिसे कही बढकर भयकर थी। राजवंश तो खत्म किया ही गया, पुराने सामन्त यथासम्भव या तो निर्वीज कर दिये गये या फ्राससे चिरनिर्वासित हो गये। हजारो बेकसूर केवल सन्देहपर तलवारके घाट उतारे गये। इगलैण्डमे तो सामन्तशाहीके भग्नावशेष यत्र-तत्र रह भी गये पर फ्रासमे तो उसका नाम व निशान भी मिटा दिया गया। झण्डेपर लिखा था—स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृता*, पर युद्ध था सामन्तशाही और नये उठते हुए नागरिक वर्गमे। जीत नागरिक वर्गकी हुई। फ्रासकी क्रान्तिने तो रूसको छोडकर प्राय· समस्त यूरोपके लिए सारे प्रश्नको हल कर दिया, सामन्तशाही ख़त्म हो गयी।

खेद है कि भारतका इतिहास इस दृष्टिसे नही लिखा गया है, फिर भी कई इतिहासवेत्ताओका कहना है कि यहाँ भी व्यवसायीवर्ग और सामन्तवर्गका संघर्ष ज़ोर पकड रहा था और व्यवसायीवर्ग धीरे-धीरे हावी हो रहा था। मुगल और महाराष्ट्र दरबारोमे उसकी काफी पहुँच थी। उसकी ही शिकायतोने कि व्यापारमे बाधा पडती है कई छोटे राज्योका अस्तित्व मिटा

* Lıberty, egalıte, et fraternıte.

दिया और प्रबल साम्राज्योके बननेमे सहायता दी । ऐसा कहा जाता है कि यदि यहाँ अंग्रेजी राज्य स्थापित न हो गया होता तो यूरोपसे मिलता-जुलता किसी-न-किसी प्रकारका शहरी व्यापारियोका शासन स्थापित हो गया होता । देशकी राजनीतिमे व्यापारी क्या स्थान रखते थे, इसकी एक झलक क्लाइव और सिराजुद्दौलाकी घृणित कहानीमे सेठ अमीचन्दकी करतूतसे मिल जाती है ।

अस्तु, सामन्तयुग तो समाप्त हो गया और उसकी जगह वह युग आ गया जिसमे सारा अधिकार बडे-बडे व्यवसायियोके हाथमे चला गया । इस वर्गमे बडे व्यवसायी अर्थात् महाजन, बैङ्कर, मिल मालिक तो है ही, कुछ इनसे मिलते-जुलते लोग भी है जैसे कुछ बहुत बडे वकील । वस्तुतः देशोकी राजनीति और अर्थनीति आज इन्हीके हाथमे है । सारे कानून इसी दृष्टिसे बनाये गये है कि इनके आर्थिक हितोकी रक्षा होती रहे । इनको हिन्दीमे मध्यमवर्ग या उच्च मध्यमवर्ग★ कह सकते है । 'उच्च' विशेषण जोडनेका एक खास कारण है । इस वर्गके साथ बहुतसे लोग है जिनकी जीविका इस वर्गपर ही निर्भर है । यह स्वयं सामन्त सरदार नही है, साथ ही अपनेको मजदूर कहना नही चाहते, यद्यपि इनकी हैसियत दरअसल मज़दूरोकी-सी ही है । इन लोगोकी भर्ती दो ओरसे होती है । कुछ तो उच्च मध्यम वर्गके लोग नीचे गिरते है, कुछ देहातोसे तथा मजदूरोमे-से लोग पढ-लिखकर इनमे मिल जाते है । इस वर्गमे साधारण वकील, डाक्टर, अध्यापक, सरकारी और गैरसरकारी दफ्तरोके बाबू शामिल है । यह सफेदपोश लोग निम्न मध्यमवर्गके† है । कोई पूछता नही, आमदनी और हैसियतकी दृष्टिसे मजदूर है, आर्थिक स्थिति भी मजदूरो जैसी, पर अपनेको मजदूर कहनेमे शरमाते है और उच्च मध्यमवर्गवालोके बीचमे कभी-कभी बैठने-उठनेका मौका पा जानेसे अपनेको बडा आदमी समझते है । यह लोग

★Bourgeoisie. † The Lower Middle Class.

मध्यमवर्गके दरबारी है और सभी देशोमे पाये जाते है। इनमेसे कभी-कभी कोई ऊपर पहुँच भी जाता है, इसलिए इनकी यह भ्रान्ति बनी ही रहती है।

फ्रासीसी क्रान्तिसे लेकर रूसी क्रान्ति तक लगभग सवासौ वर्ष बीते। इस बीचमे रूसको छोडकर अन्यत्र सामत सरदारोने प्राय बिना रक्त-पातके ही हथियार डाल दिये। हाँ, भारतमे अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिए ब्रिटिश सरकारने राजो-महाराजो और जमीनदार तालुकेदारोको पाल रखा है। इस शताब्दिसे कुछ ऊपर अवधिमे मध्यमवर्गने एक नूतन सस्कृति और सभ्यताको स्थापित किया जिसका मनुष्यके इतिहासमे बडा ऊँचा स्थान है। गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, ऐसे नगर जिनमे एक-एक देशकी जनता समा जाय, प्रकृतिकी दुर्लभ शक्तियोपर प्रचण्ड विजय, बडे-बडे जंगलोको काटकर वहाँ नगर स्थापन, यह बाते शायद ही पहले किसी युगमे देखी, सुनी गयी होगी। आज मनुष्य समुद्रकी लहरोके नीचे टहलता है और आकाशमे उडता है। परमाणुके भीतर प्रवेश करता और महासूर्यसमूह नीहारिकाओको घर बैठे तौलता है। ईश्वरकी सत्ता, उसका अस्तित्व, मनुष्यकी विवेचक बुद्धिके सामने कातर भावसे काँप रहा है। यह सभ्यता सार्वदेशिक है। ऐसा कोई महाद्वीप नही बचा जिसमे इसका प्रभाव न देख पडता हो। जो असभ्य है, उसको सभ्य बनाना आजकल-के सभ्योका एक पुनीत कर्तव्य हो गया है। इसमे उस असभ्यकी इच्छा अनिच्छाका कोई लिहाज नही किया जाता।

यह सही है कि सभ्य और प्रगतिशील राष्ट्रोमे प्रतिस्पर्द्धा बहुत देख पडती है। परन्तु आजकल सभ्यताके जो लक्षण और मापदण्ड बन गये है उनमे प्रतिस्पर्द्धा भी है। यह ठीक है कि प्रतिस्पर्द्धासे कुछ अशान्ति उत्पन्न होती है पर थोडी-सी अशान्ति भी उपादेय ही है क्योकि अशान्ति ही असन्तोषकी कुन्जी है। बडे-बडे आविष्कार तथा राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक प्रयोग, जिनकी बदौलत आजकल हजारो नागरिक जी रहे है, जिनके बलपर आजकलकी सभ्यता कायम है, आजकलकी विशेष-

ताओमे है । प्राचीनकालमे लोकतन्त्रात्मक शासन कही-कही छोटे राजोमे देख पडता था आजकल उन लोगोको भी जो स्वतन्त्र नही है मताधिकार दिया जाता है और इगलैड जैसे देश भी जहाँ नरेश है, अपने लोकतंत्रात्मक शासनपर गर्व करते है ।

देश और कालके बन्धन टूट-से गये है । बरसोका काम मिनटोमे होता है । हजारो कोसकी दूरी दस-पाँच कोस-सी जँचती है । भोग और विलासकी सामग्री जो पहिले सम्राटोको भी अलभ्य थी वह अब खुले बाजारोमे बिकती है । कला और साहित्यकी भी विशेष उन्नति हुई है और प्राचीन कालोकी सौन्दर्यनिधि बहुत प्रयत्नसे सुरक्षित रखी गयी है ।

मनुष्य-मनुष्यके बहुत सन्निकट आगया है । वेष-भूषा तो एक-सी हो ही चली है, एक-दूसरेकी भाषाओका ज्ञान भी बढ गया है । कला और साहित्य भी सार्वभौम हो गये है, सास्कृतिक आदर्श भी सार्वदेशिक है । सरकारी सङ्घटन तो बहुदेशीय है ही, कई प्रकारके गैरसरकारी सङ्घटकोका जाल-सा बिछा हुआ है । ईसाई, सम्प्रदाय, थियासोफी, मुस्लिम सम्प्रदाय और इनसे बढकर मजदूर सङ्घ तथा समाजवादी भ्रातृमण्डल, जगद्व्यापी है । एक देशकी राजनीतिक घटना बातकी बातमे अन्ताराष्ट्रिय हलचल मचा देती है । एक देशपर पडी दैवी विपत्ति सभी देशोमे समवेदनाकी लहर प्रकम्पित कर देती है ।

इस सभ्यता और सस्कृतिकी एक बहुत बडी विशेषता है । इसका आधार, इसका एकमात्र मूलमंत्र, धन, रुपया है । यो तो रुपयेकी थोडी-बहुत पूजा सदैव होती रही है पर यह तो रुपयेका युग है । व्यवसायीवर्गका आधिपत्य है, अतः रुपया ही पुज रहा है । यह सारी सभ्यता, सारी सस्कृति, रुपयेपर टिकी है । किसी समयमे तपकी, कभी विद्याकी, कभी बाहुबलकी भले प्रतिष्ठा रही हो पर आज तो एकमात्र प्रतिष्ठा पैसेकी है । जो सबसे अधिक सम्पन्न है वही सबसे अधिक प्रतिष्ठित है । धनिकवर्ग स्वयं शासन करे या न करे पर वह राजनीतिज्ञो और राजनीतिक

दलोंको मोल लेकर अपनी इच्छाके अनुसार शासन करना चाहता है। बडे-बडे सम्प्रदायोके आचार्य जिनकी व्यवस्थाओपर लोगोका आमुष्मिक जीवन निर्भर रहता है, लक्ष्मीपुत्रोके मुँह ताकते रहते है। धनिकोकी ही कृपासे विश्वविद्यालयोमे पद मिलते है। अप्टन सिक्लेअरने 'मनी राइट्स' मे दिखलाया है कि किस प्रकार बडे-बडे कवि, विद्वान्, लेखक रुपयेके जोरपर खरीदे जा सकते है। उन्होने अपने देशके उदाहरण दिये है क्योकि उनको उन्हीका पता था पर वही गति सर्वत्र है। पत्रकार लोकमतके स्वतंत्र और निर्भीक द्योतक और पथप्रदर्शक समझे जाते है पर यह कौन नही जानता कि अधिकाश पत्रकार धनिकोके नौकर है और जो पत्र सचमुच स्वतंत्र जीवन बिताना चाहते है उनका जीना दूभर हो जाता है।

धनिकोके लिए विश्वविद्यालयो और विद्वत्-परिषदोसे उपाधि प्राप्त कर लेना बच्चोका खेल है। यो तो कहनेको कानूनकी दृष्टिमे सब ही बराबर है पर अदालती प्रक्रिया ऐसी है कि रुपयेवालेके सामने निर्धनका ठहरना असम्भव-सा ही है। रुपयेका महत्त्व इतना बडा है कि वही सब प्रकारकी योग्यताओका मानदण्ड है। सभ्य जगत्के प्राचीनतम व्यवस्थापक मनु जङ्गलमे कुशासनपर बैठे शिष्योको कानूनकी नि शुल्क शिक्षा दिया करते थे पर आजका वकील या व्यवस्थापक अपने एक-एक शब्दके लिए पैसे चाहता है। जो अध्यापक जितना बडा वेतन पाता है वह उतना ही बडा विद्वान् गिना जाता है। यह बात पहले कभी सत्य रही हो या न रही हो पर इस कालके लिए तो अक्षरशः सत्य है कि—

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते

इस सभ्यताका एक रूप, एक पहलू, और भी है। बिना उसके समझे इसका स्वरूप पूरा-पूरा समझमे नही आ सकता। जब यह निश्चित है कि इसका आधार रुपया है, तो यह भी निश्चित है कि जिसके पास रुपया नही है वह इसके घेरेके बाहर है। पहले भी धनी और निर्धनका भेद था

पर वह भेद आज जैसा तीव्र न था। न ऐसे धनी थे न ऐसे निर्धन। साधारणत निर्धनोकी भी आवश्यकताएँ पूरी हो जाया करती थी, पर आज वह बात नही है। उत्पादन और वितरणके साधनोमे अभूतपूर्व उन्नति हुई है पर भूखो और नङ्गोकी सख्यामे उससे कही बडे अनुपातमे वृद्धि हुई है। ऐसे लोगोंकी गणना करना कठिन है जो प्राण पाल रहे है परन्तु न भरपेट अन्न पाते है न पर्याप्त वस्त्र। उनके सोनेके लिए सडकोकी खुली पटरियाँ है, जहाँसे पुलिसका कान्स्टेबुल उन्हे कभी भी हटा सकता है। मैं यह किताबी बात नही कह रहा हूँ, आँखो देखी कथा लिख रहा हूँ। किसी पुराने कविकी उक्ति प्रसिद्ध है—

टूटी टाटी खाट बिन, अरु भाजी बिन लौन।
अपने बाल गुपाल बिच, इन्द्र बापुरो कौन॥

पर इन बेचारोके पास न टूटी-टाटी है, न खाट है, न भाजी है। और बाल गोपाल? बाल गोपाल हो तो रहे कहाँ, खायँ क्या? जिनके है उनके लिए जानकी आफत है। दूध नही है, माँका रक्त चूसते है, बिललाते है, जब तक है अपने बाप-माँके दिमागको जीता-जागता पागलखाना बनाये रखते है, आखिर दम तोडकर उन्नत समाजको आशीर्वाद देते इस पुण्यलोकसे चले जाते हैं। सचमुच यह सुख इन्द्रको कहाँ प्राप्त हो सकता है!

दूसरी ओर वह भाग्यवान् है जिनको नगरोमे किरायेके क्वार्टरोमे रहना पडता है। अपनी इच्छासे इतने सूअर भी ऐसे निवासस्थानोको पसन्द नही कर सकते।

बेकारी भी ऐसी कभी देखने-सुननेमे नही आयी। करोडो मनुष्य बेकार है। कुछको पाश्चात्य सरकारें थोडी-बहुत भृति देकर पाल-पोस रही है, शेष जैसे भारतके बेकार, एड़ियाँ रगड-रगडकर मृत्युका आह्वान कर रहे है। कही किसी पुरुषके रेलकी पटरीपर लेट रहने या किसी स्त्रीके अपने बच्चो समेत कुएँमे कूद पडनेका समाचार पढकर लोग चौक पड़ते है पर यह बातें तो होती ही रहती है। लोग सैकड़ोकी संख्यामे मर रहे है पर

कोई दीर्घ यातना न सहकर मरनेका कोई तात्कालिक ढङ्ग ढूँढ निकालता है, इसलिए क्षण-भरके लिए उसकी ओर भले आदमियोकी दृष्टि उठ जाती है। एक बार 'शिव-शिव' करके वह फिर शान्तिसे अपनी बहीके आँकड़े जोड़नेमे लग जाते है। केवल वही बेकार नही है जिनके पास कोई काम नही है, वह भी बेकारोंमे ही है जिनके पास नाममात्रके लिए कोई काम है। आज सरकारी हिसाबसे भारतके अधिकाश भागोमे प्रति व्यक्ति २।।। बीघा भूमिसे अधिक नही है। इतनी भूमिसे एक आदमी-का पेट नही भरता, न वह उसके लिए पर्याप्त श्रम है। फिर भी छोटी-छोटी टुकड़ियोपर पिता और कई लडके या कई भाई चिपटे हुए है क्योकि उनके पास कोई दूसरा काम नही है। यह लोग भी वस्तुत. बेकार है। यह एक उदाहरण मात्र है। ऐसे और अनेक उदाहरण है और सभी देशोमे पाये जाते है। यदि बेकारको चार पैसे भृतिके रूपमे दे भी दिये गये तो इतना ही होगा कि वह जीवित रहेगा और अपने जैसे बेकार पैदा कर सकेगा पर उसमे वह स्वावलम्बन, धैर्य्य, साहस, पौरुषका भाव कहाँ, जो अपने परिश्रमसे जीनेवाले मजदूरमे होता है। वृत्तिभोगी बेकार तो भिक्षा-पर जीता है। समाज समझे या न समझे पर ऐसे परजीवियोका उसके जीवनपर अन्ततोगत्वा वही प्रभाव पड़ता है जो कुत्तेके शरीरपर किलनी-का। यह परजीवी जीव अपने पोषकका सार खीच लेते है। स्वय तो अकर्मण्य होते ही है, पोषकके प्राण लेकर ही छोड़ते है। बेकारोकी वृद्धि क्यो हो रही है यह तो अगले अध्यायमे दिखलाया जायगा पर यह स्पष्ट है कि इनकी संख्यावृद्धि—और इनकी संख्यामे इनके बाल-बच्चोको भी गिनना होगा—भयावह हो रही है।

कानून भी इन बेचारोकी रक्षा नही कर सकता क्योकि वह धनिकोके हितमे बना है। यह स्वतन्त्र कहलाते है, इनमेसे बहुतोको मताधिकार भी प्राप्त है पर, व्यवहार दृष्टया, उसका उतना ही प्रभाव है जितना पांच सिंहोके सामने पाँच सौ भेड़ोको खड़ा करके उनको मताधिकार देनेका।

जैसा कि हम पहले लिख चुके है सब योग्यताओका मानदण्ड रुपया है। बडे-बडे विद्वानोको अपनी विद्वत्ताके विज्ञापनके लिए धनिकोका आश्रय लेना पड़ता है। किसी धनिकका अल्पज्ञ कृपापात्र ऊँचे पदपर विभूपित हो सकता है और बडेसे बडा विद्वान् धनिकाश्रयके अभावमे दर-दरकी धूल फाँकता फिरता है। धनिकका मूर्ख लडका कालिजमे पढ़ता है और निर्धनका प्रतिभाशील लडका प्रारम्भिक कक्षाओके ऊपर नही चढ पाता। बडे-बडे जगद्धितकारी काम इसलिए रुके पड़े है कि किसी धनिककी उधर दृष्टि नही पडती। बडे-बडे योग्य व्यक्ति जो न केवल आन्दोलनोके परिचालक वरन् पटु राजपुरुष हो सकते है केवल धनाभावसे पीछे पडे रहते है। यह अभाव इसलिए और खलता है कि यह शारीरिक शक्ति या प्रतिभाके अभावकी भाँति नैसर्गिक नही है।

जो बात धनवान्के लिए भूषण है वह दरिद्रके लिए दूषण है। पण्डे, पुरोहित, पुजारी भी उसे नही पूछते। धर्म्म ग्रन्थोमे निर्धनोके लिए निर्वाह कर तो दिया गया है पर धर्म्मोपजीवी समुदाय दरिद्रको घृणाकी दृष्टिसे देखता है। दरिद्रके ऊपर जो सरकारी और गैरसरकारी अत्याचार होते है, उनके विरुद्ध आवाज उठाना किसीका काम नही है। उससे बन पडे तो सन्तोष करके चुपचाप बैठ रहे, नही तो अपने मनस्तापको आँसुओके रूपमे बहा दे। इससे भी आगे बढना चाहता हो तो आकाशकी ओर आँखें उठाकर दीनानाथ, दीनबन्धु, करुणासागर, समदर्शी, निर्बलके बल, निर्धनके धन, भगवान्को पुकारे। इससे और तो क्या होना है, अपनेको धोखा देनेमे सहायता मिल जाती है। ठीक भी है, आखिर मजहब दरिद्रकी ओरसे क्यो माथापच्ची करे? यदि उसके कर्म्म अच्छे होते या ईश्वरकी उसपर कृपा होती तो वह दरिद्र होता ही क्यो? चुपचाप सह लेना ही तो उसका सबसे उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है।

शोर मचाकर यह दरिद्र नाहक समाजको क्षुब्ध करते पर समाजने भी इसका प्रबन्ध कर रखा है। यदि इनका उठाया कोई आन्दोलन ज़ोर

पकडता है तो सरकार इसको ठीक कर सकती है। निर्धन चाहे बेकार हो, चाहे कृषक, चाहे मज़दूर यदि वह अपनी अवस्थाको उन्नत करनेके लिए कोई सक्रिय आन्दोलन करेंगे तो अवश्य थोडे ही दिनोके भीतर उनको राजशक्तिसे टक्कर लेनी होगी, क्योकि राजशक्ति धनिकवर्गके हाथमे है।

किसी सस्कृत कविकी यह उक्ति सर्वथा सच है—

दारिद्र्यमेकं गुणराशिनाशि

दारिद्र्य मनुष्यके सभी गुणोका नाशक है। उसके भौतिक दोष—शरीरको दुर्बल, रोगी या अल्पायु बनाना—तो बुरे है ही, मानस गुण और भी बुरे है। वह मनुष्यके धैर्य्य, साहस, स्वावलम्बन, पुंसत्वको हर लेता है और उसे कायर बना देता है। पदे-पदे ठोकर खाते-खाते अपनेपरसे ही विश्वास उठ जाता है। कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ है जो मनुष्यमे स्वभावत. पायी जाती है और उसके चरित्रकी उन्नायक होती है। इनमेसे एक प्रवृत्ति 'रचना' है। मनुष्य कुछ-न-कुछ रचना, बनाना चाहता है, चाहे वह काव्यकी रचना करे, चाहे दो पौधोकी क्यारीकी, चाहे मकानकी, खिलौनेकी, चित्रकी। उसकी बुद्धि, उसकी अन्तरात्मा, उस रचनामे मूर्त्त हो जाती है इसीलिए अपनी रचनासे बड़ा प्रेम, उसपर बडा गर्व होता है। इस प्रवृत्तिसे काम लेनेका अवसर न पानेसे मनुष्य अपनेको संकुचित, छोटा, अनुभव करता है। बेचारे दरिद्रका अन्तरात्मा नित्य ही संकुचित रहता है, उसको कभी विकसित होनेका अवसर नही मिलता। वह पूरा आदमी हो ही नही पाता, उसका चरित्र दुर्बल और अविश्वसनीय रहता है। इसको ससारके धनी भी देखते है पर वह उसकी परिस्थिति बदलनेका प्रयत्न नही करते। उलटे यह कहते हैं कि 'देखो, यह कैसे दुर्बल चरित्रवाले लोग है।' उनकी यह घृणामिश्रित हँसी दरिद्रको और धनिकको तथा इसके साथ ही उस समाजको जो इस प्रकारके दो वर्गोको कायम रखता है, और भी पतित बनाती है। यह हँसी एक दिन भीषण विषादमे परिणत होनेवाली है।

जो लोग कोढियोंके बीचमे फूलोकी सेजपर सोना चाहते है वह आज सो ले पर उन्हे कल स्वयं कोढी बननेके लिए तैयार रहना होगा। यह प्रकृतिका अकाट्य नियम हैं।

इस अध्यायका उद्देश्य दारिद्र्यका वर्णन करना या इस धनाधार युगका निरूपण करना नही है, पर जो कुछ ऊपर लिखा गया है उससे यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि अपने अधिकारकालमे मध्यम वर्गने रुपयेको एकमात्र उपास्य बना लिया है। इस कालके स्वरूपका, जिसको पूँजीवादी काल भी कहते है, विवेचन अभी अगले अध्यायमे होगा पर इतना तो स्पष्ट ही है कि जो धन और सम्पत्ति आजकी सभ्यता तथा सस्कृतिका मूल है वह व्यवसायसे अर्थात् पूँजीसे उत्पन्न हुई है। और पूँजी, जैसा कि हम पिछले अध्यायमे दिखला चुके है, दूसरोके शोषणसे, अर्थात् दूसरोके अतिरिक्त अर्घसे अनुचित लाभ उठानेसे ही उत्पन्न हो सकती है। आजकल सम्पत्तिका आधिक्य है इसलिए शोषणका भी आधिक्य है। चूँकि सारी शक्ति और प्रतिष्ठाका साधन रुपया है इसलिए सब ही उसका संग्रह करनेका प्रयत्न करते है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस घुड़दौडमे जो जितना आगे बढ पाता है, वह दूसरोके शोषणमे उतना ही अधिक सफल हो सकता है। यह भी स्पष्ट ही है कि किसी समय विशेषमे शोषकोकी अपेक्षा शोषितोकी सख्या अधिक होगी। यह भी तय है कि जिन लोगोके पास किसी भी प्रकारसे कुछ धन हो जाता है उनको इतनी सुविधाएँ प्राप्त हो जाती है कि निर्धनोके लिए फिर उनका मुकाबिला करना बहुत कठिन हो जाता है। यह भी स्मरण रखना होगा कि सम्पत्तिपर पैतृक अधिकार चलता है। अर्थात् धनवान् अपने लडकेको अपना रुपया, यानी दूसरोपर अधिकार प्राप्त करनेका साधन, छोड़ जाता है और दरिद्र अपने लड़केको अपनी दरिद्रता छोड जाता है। दूसरे शब्दोमे, सम्पन्नका नालायक लडका भी बिना परिश्रमके जन्मतः शोषक बन जाता है, दरिद्रका लायक लडका भी हज़ार परिश्रम करनेपर भी मृत्यु पर्यन्त शोषित ही बना रहता है। इसका

परिणाम यह हो गया है कि आजकलका सभ्य जगत् दो दलोंमें विभक्त हो गया है। पहला दल है शोषकोका, दूसरा है शोषितोका; पहला दल है सम्पन्नोका, दूसरा दरिद्रोका; पहला दल है धनवानोंका, एक प्रचलित अग्रेजी नामावलीके अनुसार, (धन) रखनेवालोका*; दूसरा दल है धन-हीनोका, उसी नामावलीके अनुसार, (धन) न रखनेवालोका†।

यह संघर्ष नया नही है। जैसा कि हम इस अध्यायके आरम्भमे दिखला आये है, वर्गसंघर्ष तो सभ्यताका सहोदरप्राय है पर आजकलका वर्गसघर्ष पहलेसे बहुत कटु है। एक तो इसका क्षेत्र बढ गया है और इसके स्वरूपमे पहिलेसे कहीं अधिक समता आ गयी है। सभी सभ्य देशोमे विभिन्न प्रग-तियोसे परन्तु एक ही प्रकारसे औद्योगिक प्रक्रियाएँ चल रही है, एक ही प्रकारके बङ्क और कल-कारखाने है, सञ्चालनके उपाय, सिद्धान्त और उद्देश्य भी एक ही है। आपसकी प्रतियोगिताने शोषणकी प्रवृत्तिको और भी तीव्र बना दिया है। समाचारपत्र अपने हाथमे है, बडे-बडे विद्वान्, कवि, लेखक, पत्रकार और वक्ता खरीदे जा सकते है, राजपुरुषो और राजनीतिक दलोकी नकेल सदैव अपने हाथोमे रही है इसलिए राजशक्ति बराबर अपनी ओर है; यह भी अच्छी तरह विदित है कि जो इस नीतिके शिकार होते है वह भी मनुष्य है और उनमे घोर अशान्ति है। इन सब बातोका परिणाम यह है कि आज शोषक वर्ग बहुत ही सतर्क और सघटित है। आपसमे प्रतियोगिता जरूर है जिसकी वजहसे कभी-कभी युद्ध तककी नौबत आ जाती है पर समाचारपत्रोके पन्ने उलटिए या जेनोवाकी तत्का-लीन अन्ताराष्ट्रिय परिषद्‌की कार्रवाई पढिए तो यह विदित हो जायगा कि शोषितोके सामने यूरोप और अमेरिका, जापान और भारत, सभी देशोके लक्ष्मीपतियोका सुसघटित दल खडा है। दूसरी ओर इनके शिकार और बहुसंख्यक शोषित है। उनमे कृषक, शरीर और दिमागसे काम

---

* Haves. † Have-nots.

करनेवाले मजदूर और बेकार है। इनकी अवस्था सारे सभ्य जगत्मे प्राय: एक-सी ही है। अभी इनमे इतना संघटन नही है पर इतना तो यह भी खूब समझ गये है कि इनके हित एक है और इनमे भी अन्ताराष्ट्रियताका भाव प्रतिदिन बढता जा रहा है। कार्ल मार्क्सका प्रसिद्ध उपदेश ससार-भरके दलितो और शोषितोका मूलमन्त्र हो गया है—'संसारभरके मज़दूरो, एक हो जाओ; तुमको अपनी दासताकी बेडियाँ ही खोनी है और विश्वपर विजय प्राप्त करनी है'।★ ठीक भी है इन शोषितोके पास है ही क्या ? इस संघर्षमे इनके प्राण चले भी गये तो क्या ? वह तो यो ही सिसक-सिसककर निकल रहे है। इनकी एकमात्र सम्पत्ति गुलामी है, वही जा सकती है और यदि वह चली गयी तो उसके स्थानमे जगत्का शासन इनका होगा। अभी इन शोषितोका संघटन स्वभावत: दुर्बल है क्योकि इनके पास सम्पन्नो जैसे साधन नही है। परन्तु आज सभ्य जगत् इस विकट विश्वव्यापी वर्गसघर्षके कारण दो सशस्त्र सेनाओमे बँट रहा है।

ऐसे बहुत कम व्यक्ति है जो इन सेनाओके बाहर है। एक दल शोषण कर रहा है, दूसरा शोषित हो रहा है और दोनोके हित निरन्तर टकरा रहे है। यह ठीक है कि निम्न कोटिके कुछ व्यक्ति ऐसे है जो एक प्रकारसे दोनों वर्गोंमे है। यह हो सकता है कि किसी मिल या दफ्तरमे १५)-२०) मासिकपर काम करनेवाला कोई व्यक्ति, जो वस्तुत. शोषितवर्गका है किसी कम्पनीमे १०) का एक हिस्सा ख़रीद ले। इस नाते वह शोषकवर्गमे हो जायगा। पर यह बहुत छोटे और नगण्य अपवाद है। यह बात भी नही है कि तोपबन्दूककी अल्पकालिक लडाईकी भाँति हमको इसका पता चलता रहे। यह तो जीवनका अङ्ग है। सब पूँजीवाले दुष्ट नही होते और न वह हठात् मजदूरको क्षति पहुँचाना चाहते है परन्तु परिस्थिति उनसे प्रतिक्षण ऐसा

★ Workers of the world unite; you have a world to gain and only your chains to lose.

ही कराती है। इसी प्रकार सब मज़दूर भी प्रत्येक धनिकके जन्मना शत्रु नही होते परन्तु परिस्थिति उन्हे इस वर्गका विरोधी बनाकर छोड़ती है। प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य प्रतिक्षण रोगके कीटाणुओसे लडता रहता है पर साधारणतः इसका पता नही चलता। कभी-कभी जब लडाई तीव्र हो जाती है तब वह अपनेको ज्वर या फोड़ा या किसी ऐसे ही रूपमे प्रकट करती है और सभी उसे जान जाते है। इसी प्रकार यह वर्गसंघर्ष निरन्तर ज़ारी है पर जब कभी यह हड़ताल या मिलबन्दी या दङ्गा या अन्य प्रक्षोभके रूपमे व्यक्त होता है, तब इसका प्रचण्डरूप सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। पर जब-जब और जहाँ-जहाँ लगानकी वृद्धि हो रही है और मुनाफा वसूल करनेका प्रयत्न हो रहा है, बच्चे शिक्षासे वञ्चित हो रहे है तथा अन्न और औषधके अभावमे तड़प-तडपकर मर रहे है, स्त्रियोको पेटकी ज्वाला बुझानेके लिए अपना शरीर बेचना पड़ रहा है, स्वस्थ मनुष्य बेकार घूम रहे है, तब-तब और वहाँ-वहाँ निर्विराम और निर्दय भयङ्कर वर्गसघर्ष हो रहा है। यह संघर्ष मीठे शब्दोमे बयान किया जा सकता है, कुछ कालतक शब्दजालके पीछे छिपाया जा सकता है पर मीठे शब्दोसे उसके अस्तित्वको मिटाया नही जा सकता।

यह वर्गसंघर्ष जो सहस्राब्दियोसे चला आ रहा है, अब मानव-समाजके लिए घातक हो रहा है। इसका बढ़ा हुआ क्षेत्र उभय पक्षकी सतर्कता, दोनो ओरका संघटन, दोनो ओरकी जागरित वर्गचेतना★ (अर्थात् यह ज्ञान कि हम अमुक वर्गके है, हमारे वर्गके यह हित है और हमारा विरोधी अमुक वर्ग है, जिससे लड़कर हमे अपना अस्तित्व बनाये रखना है), संघर्ष-साधन—यह सब बातें इसको इतना भयावह बना रही है कि यदि शीघ्र इसका अन्त न हुआ तो सभ्यताका ही अन्त हो जायगा। समाजवादके जन्मके सहस्रो वर्ष पूर्व इसका जन्म हुआ और इसके अस्तित्वके लिए

★ Class consiousness.

समाजवादी जवाबदेह नही है। वह इसे बढ़ाना नही चाहते, इसका अन्त करना चाहते है। वह इस बातको समझते है कि जबतक पृथ्वीकी अर्थनीति पुराने ढङ्गकी रहेगी तबतक वर्गोंका अस्तित्व बना रहेगा और वर्गसघर्ष होता रहेगा। जब उत्पादनके साधनोपर कुछ थोडेसे लोगोका अधिकार होगा, तो और लोग इस अधिकारसे अगत्या वञ्चित रहेगे। जिसके हाथमे आर्थिक अधिकार होगा, वही समुदाय समाजका शीर्षस्थानीय होगा। जो वञ्चित किया जायगा, वह ऊपर उठना चाहेगा। कुछ काल पाकर उत्पादनके साधनोमे परिवर्त्तन होगा और दूसरे लोगोके हाथमे धनबल आयेगा। जब वह उठना चाहेगे, पुराना अधिकारयुक्त समुदाय इसका विरोध करेगा। इस प्रकार वर्ग और वर्गसंघर्षकी अटूट लडी कायम रहेगी। इतना ही नही अब संघर्ष और भयावह होगा।

समाजवादी यह सब देखता है। वह जानता है कि आज जो अशान्ति देख पडती है, उसकी तहमे इस वर्गसंघर्षका बहुत बडा हाथ है। पर वह यह भी जानता है कि हाथपर-हाथ रखकर बैठनेसे काम न चलेगा। वह समझता है कि वर्गोके रहते केवल दया और उदारताका उपदेश देनेसे सघर्ष बन्द नही हो सकता। इसलिए वह यह कहता है कि यदि वर्ग-संघर्ष मिटाना है तो वर्गोको ही मिटा दो। इसके लिए किसी वर्गके लोगोको मार डालनेकी आवश्यकता नही है। चाहिए यह कि उत्पादनकी सारी सामग्री समाजकी सम्पत्ति हो जाय। ऐसा होनेपर कोई व्यक्ति पूँजी पैदा कर ही न सकेगा। यदि ऐसा हो गया तो कोई व्यक्ति किसीका शोपण करेगा ही नही। न कोई शोषक होगा, न कोई शोषित। जब विरोधी वर्ग ही न होगे, तो संघर्ष किसमे होगा ? सब लोग एक वर्ग—श्रमिक, मजदूरवर्ग—के होगे।

एक बात और कहनी है। यदि किसी समाजके जीवनके किसी छोटेसे टुकड़ेको ले लिया जाय तो सम्भव है वर्गसघर्षका पता न लगे पर यदि

उसके इतिहासको व्यापक दृष्टिसे देखा जाय, उसके साम्प्रदायिक और राजनीतिक आन्दोलनो, उसके उन्नति, विराम और अवनतिकालोपर विस्तृत विचार किया जाय तो यह प्रतीत हो जायगा कि वर्गसंघर्षका सिद्धान्त ही इनमेसे बहुत-सी गुत्थियोको सुलझा सकता है।

कुछ लोगोका कहना है कि वस्तुत. सभ्यताका विकास वर्गसंघर्ष नही वर्ग-सहयोगके आधारपर हुआ है। यह कथन सच्चा भी है और झूठा भी। यदि संघर्षका अर्थ मारपीट, हत्या, विद्रोह और सशस्त्र दमन माना जाय तो संघर्ष बहुत कम हुआ है। परन्तु फिर यह भी कहना पडेगा कि साम्राज्य भी सहयोगके आधारपर खडे रहते है। भारतवासियोंने कब-कब अंग्रेजोके विरुद्ध विद्रोह किया है? १९१७ (सन् १८५७) से १९७८ (सन् १९२१) तक पूरी शान्ति देख पडती थी तो क्या हम यह मान ले कि इस बीचमे भारतका जो शोषण हुआ, भारतमे जो दरिद्रता बढी, देश-विदेशमे भारतीयोका जो अपमान हुआ, वह सब भारतीयोके सहयोगसे हुआ? यदि सहयोगका अर्थ विरोधाभाव हो, यदि बेबसीके कारण दूसरेकी इच्छाके अनुकूल आचरण करनेका नाम सहयोग है, तो बेशक सहयोग था। हिन्दू समाजकी डोम, भङ्गी, पासी आदि जातियोने अपने सहयोगसे ही अपनेको अछूत बना रखा था। यह सब कहना शब्दोका दुरुपयोग करना है। बुद्धिपूर्वक और इच्छापूर्वक मिलकर काम करना ही सहयोग कहला सकता है। दीन वर्ग—शोषित वर्ग—मे बराबर असन्तोष था, कभी-कभी वह व्यक्त हो उठता था तब खुला संघर्ष छिड जाता था। बहुधा वह दबा, अव्यक्त रहता था।

भविष्यत्‌मे उसको दबा रखना बहुत कठिन होगा। आजकलकी उत्पादन-विधिने वर्गचेतनाको जगा दिया है, धनी और निर्धनका भेद छिपाये नही छिपता। यदि इसी प्रकार वर्गोंका अस्तित्व बना रहा तो बराबर संघर्ष बना रहेगा। परन्तु यदि सम्पन्न और असम्पन्नमे आज जैसा भेद न रहे, वर्गोंकी

आमदनियाँ एक दूसरेके पास आ जायँ और साधारणतः सभीकी आवश्यकताओंकी भली-भाँति पूर्ति हो जाय अर्थात् सबसे कम और सबसे अधिक आयमे आजकी भाँति आकाश-पातालका अन्तर न हो तो संघर्ष दब सकता है और उसकी जगह सहयोग ले सकता है। पर यह तभी होगा जब पूँजी और लाभपर अङ्कुश लगाया जाय और पैतृक सम्पत्तिके उत्तराधिकारपर भी रोक लगा दी जाय।

ग्यारहवाँ अध्याय

पूँजीवाद

यह शब्द 'पूँजीवाद' हमारे देशमे बहुत प्रचलित हो गया है। जिसके पास चार पैसा होता है वही 'पूँजीपति' कहलाने लगता है और धनिकोका साथ देनेवाला भी पूँजीवादी कहलाता है। 'पूँजीवादी' और 'पूँजीपति' एक प्रकारसे लाछनवाची शब्द हो गये है। राजनीतिक कार्य्यकर्ता भी जब आपसमे नाराज होते है तो एक दूसरेको पूँजीवादी कहकर परितोष करते है।

साधारणतः लोग 'पूँजीवाद' शब्दका प्रयोग दो अर्थोमे करते है। एक तो शुद्ध सिद्धान्तके अर्थमे अर्थात् इस सिद्धान्तके लिए कि व्यवसायोके द्वारा व्यक्तियोको पूँजी जमा करने और इस पूँजीसे मुनाफ़ा करके और पूँजी इकट्ठी करने दी जाय। दूसरा प्रयोग इस सिद्धान्तके आधारपर स्थित वर्तमान पद्धतिके लिए होता है जिसमे वस्तुतः समूचे व्यवसाय थोडेसे पूँजीपतियोके हाथमे है जो पूँजीके बलपर न केवल अर्थनीति वरन् राजनीतिपर भी नियन्त्रण करते है। इस दूसरे अर्थमे महाराष्ट्र आदिमे प्रचलित 'पूँजीशाही' शब्दसे काम लेना अच्छा है। हिन्दीमे एक ही शब्दके प्रयुक्त होनेका मुख्य कारण यह है कि अंग्रेजीमे भी एक ही शब्दसे काम लिया जाता है।

यह अर्थ तो ठीक ही है पर पूँजीवाद और पूँजीशाहीके स्वरूपको थोडा अधिक विस्तारसे समझना आवश्यक है। समाजवाद और पूँजीवादका संघर्ष वर्तमान जगत्का एक कटु सत्य है। यदि पूँजीवादका विकास न हुआ होता तो समाजवादका भी उदय न हुआ होता। बिना पूँजीवादको समझे समाज-

वाद भी समझमे नही आ सकता । अत· हम इस अध्यायमे पूँजीवादके स्वरूप और उसके अवश्यम्भावी परिणामोका कुछ वर्णन करेंगे । पूँजीवादका इतिहास स्वत: बडा रोचक विषय है और सिद्धान्तपर उसके अध्ययनसे बहुत प्रकाश पडता है पर स्थानाभावसे हम यहाँ उसका कोई विशेष वर्णन नही कर सकते ।

पूँजीवादका इतिहास यूरोपका पिछले तीन सौ वर्षोका इतिहास है वरन् यह कहना उचित होगा कि ब्रिटेनका पिछले तीन सौ वर्षोका इतिहास है । जैसा कि हम पहले कह चुके है, छोटे-छोटे व्यापारी भी इधर-उधर पण्योका हेरफेर करके और साधारण गृहस्थ भी अपना पेट काटकर कुछ पूँजी जमा कर सकते है परन्तु जिस पूँजीके विकाससे वर्तमान व्यावसायिक वृद्धि हुई है उसका बहुत बडा अंश दूसरे ही साधनोसे आया है ।

ब्रिटेनमे कृषकोसे बलात् भूमि लेकर उसपर भेडे पाली गयी ताकि उनके ऊनसे ऊनका व्यवसाय किया जाय । कृषकोकी ओरसे कई बलवे हुए पर उनका दमन किया गया । थोडे-से हाथोमे बहुत-सी भूमि आ गयी और इन लोगोके हाथोमे ऊनकी बदौलत रुपया भी बहुत-सा हो गया । पीछे जब उनका यह व्यवसाय अर्थकर न रह गया तो यही लोग जमीनदार हो गये और भूमिपर पुन. कुछ किसान बसाये गये । जिन लोगोने सरकार और बडे-बडे सामन्तोकी सहायतासे इस प्रकार भूमिपर स्वत्व प्राप्त किया वह नगरोके रहनेवाले व्यापारी थे । बडे सामन्तोने भी इनका अनुकरण किया । इस प्रकार पूँजीकी वृद्धि हुई । इसके साथ ही बहुतसे कृषक खेतोसे पृथक् होकर बेकार हो गये और रोजीकी तलाशमे आवारागर्दी करने लगे ।

उधर स्पेनवालोने अमेरिका महाद्वीप ढूँढ निकाला । धड़ाधड उसके आदिम निवासियोकी लूट आरम्भ हो गयी । उनका संचित सोना लुट गया, उनके राज्य नष्ट कर दिये गये और उनका देश छीन लिया गया । स्पेन इस क्षेत्रमे पहले उतरा पर शीघ्र ही पश्चिमी यूरोपके और देश भी उसके प्रबल सपत्न हो गये । ब्रिटेन टापू है । उसके निवासी समुद्रसे

खूब परिचित है। जहाज चलाना उनके लिए जीवनका प्रधान साधन है। अतः अमेरिकाकी लूटमे पीछे पाँव रखनेपर भी वह औरोसे अच्छे निकले। स्पेनवाले अमेरिकावालोको लूटते थे, उनसे पीट-पीटकर खानोमे काम कराते थे और अंग्रेज लोग स्पेनवालोको लूटते थे। इसी समयके लगभग भारतका सामुद्रिक मार्ग भी यूरोपवालोको मिल गया। अब-तक भारतसे अप्रत्यक्ष रूपसे व्यापार होता था। यहाँका माल अरब लोग पहुँ-चाते थे। फिर उसे प्राय वेनिसवाले उनसे लेकर अन्य राष्ट्रोके हाथ बेचते थे। अब इन मध्यस्थोकी आवश्यकता न रही। पश्चिमी यूरोप-वाले सीधे यहाँसे व्यापार करने लग गये। इस क्षेत्रमे पहले पुर्तगाल-वालोने क़दम रखा, उनके पीछे डच, फ्रासीसी और अंग्रेज आये, पर अग्रेज़ यहाँ भी औरोसे बाज़ी मार ले गये।

भारतकी अवस्था अमेरिका जैसी न थी। यहाँ यूरोपवालोको बलवान् और सुगठित राजोका सामना करना पडा जिनको वह अमेरिकाकी अर्द्ध-सभ्य जातियोकी तरह लूट नही सकते थे। यहाँ उपनिवेश बसाना भी सम्भव नही था। परन्तु इन लोगोके सौभाग्यसे यह वह समय था जब कि मुगल साम्राज्य टूट रहा था और उसके स्थानमे कोई दूसरी देशव्यापी संस्था कायम नही हुई थी। यदि यूरोप वाले न आये होते तो सम्भवतः एक या अधिकसे अधिक तीन-चार प्रबल राज आप ही स्थापित हो जाते। पर ऐसा न हो पाया। यूरोपवालोके आनेसे ग्रन्थि सुलझनेके स्थानमे और भी उलझ गयी। आपसमे लडते हुए देशी नरेशोने बारी-बारीसे इन विदेशियोसे सहायता लेनी शुरू की। विदेशियोने भी अवसरसे लाभ उठाकर पहले तो अपनी रक्षाके बहाने फिर इन भारतीय राजोकी सहा-यताके नामपर सेनाएँ रखनी शुरू की। कम्पनियोको देशके शासनमे हस्त-क्षेप करनेका अवसर मिला और व्यापारियोकी कम्पनियाँ स्वतन्त्र नरेशोके साथ बराबरीकी शर्तोंपर सन्धिविग्रह करने लगी। जिन-जिन प्रदेशोमे उनके क़दम जमे उनका सारा व्यापार भारतीयोके हाथसे निकल गया

और जो व्यवसाय और उद्योग-धन्धे उन देशोसे प्रतियोगिता कर सकते थे वह नष्ट कर दिये गये। कम्पनियोके विदेशी अहलकार अपने वेतन और भत्तेके ऊपर बहुत बडी रकमे रिश्वतमे पाते थे। लौटकर घर जाने-पर यह लोग 'नवाब' कहलाते थे। इन नवाबोके द्वारा तथा कम्पनीके हिस्सोसे मुनाफेके रूपमे असंख्य धन भारतसे ब्रिटेन पहुँचाया गया। फ्रास और हालैण्डने भी कमाया पर ब्रिटेनकी अपेक्षा इनके हाथ कम रुपया लगा। यह मुफ्तकी रकम भी ब्रिटिश व्यापारियो और व्यवसायियों-के लिए पूँजी हो गयी। न इसके लिए अपना पेट काटना पडा, न खर्चमे कमी करनी पडी, एक ऐसी कामधेनु हाथ लग गयी जिसको दूहकर पूँजी पैदा की जा सकती थी।

जिस अपार धनराशिकी इस प्रकार अनायास वर्षा हुई थी उसको कही-न-कही पूँजी रूपमे लगना ही था। इसी समय सौभाग्यसे भापसे चलनेवाले एञ्जिन और सूत कातनेकी मशीनका आविष्कार हुआ। फिर क्रमशः और मशीने बनती गयी। यह बात नही है कि इसके पहले कोई ऐसा विद्वान् नही पैदा हुआ था जो ऐसी मशीने बना सकता। विद्वान् एकसे एक बढकर हुए थे और उन्होने समय-समयपर मशीनें बनायी भी थी। पर वह मशीने चली नही क्योकि परिस्थिति अनुकूल न थी। मशीनोका चलना तभी सम्भव है जब लोगोके पास पर्य्याप्त परिणाममे फालतू पैसा हो जो पूँजीके रूपमे लगाया जा सके। फिर ऐसे बेकार आदमी भी चाहिए जो नौकर बनकर मशीनोको चलाये। तीसरी चीज बाजार है। ऐसा बाजार चाहिए जिसमे कच्चा माल सस्तेमे मिल सके और बना माल बिना रुकावटके बिक सके। पहले इनमेसे कोई भी सुयोग न था, अत· जो मशीने बनी वह या तो खिलौनेके रूपमे रह गयी या अहितकर समझ-कर तोड डाली गयी। अब सभी सुविधाएँ थी। बाजार थे, बेकार आदमी थे जो मजदूर बननेको तैयार थे और इतना धन पडा था जो एक प्रकारसे इस बातकी प्रतीक्षा कर रहा था कि उसका पूँजीके रूपमे उपयोग किया

जाय । बस फिर क्या था ! पहले ब्रिटेनमे, तत्पश्चात् यूरोपके अन्य देशों तथा अमेरिकामे, कल-कारखानोकी बाढ आ गयी । ज्यो-ज्यो इस प्रकार व्यवसायोकी वृद्धि हुई त्यो-त्यों देशकी सूरत बदलती गयी । गांव और भी उजडते गये और बडे नगरोंकी आबादी बढती गयी । ब्रिटेन छोटा-सा देश है, कुछ ही दिनोमे उसकी दशा ऐसी हो गयी कि वह सारी दुनियाको मिलोके बने सामान भेजने लगा पर अपने अन्नके लिए दूसरे देशोका वशवर्ती हो गया । उधर भारत जैसे कुछ देशोका यही काम रह गया कि अन्न पैदा करें और जो अपने कामसे बचे, वरन् चाहे अपने लिए पर्याप्त न भी हो, उसे विदेश, मुख्यत: ब्रिटेन भेजे और हर प्रकारका कच्चा माल अपने यहाँ पैदा करके उसे बाहर भेजे और अधिक रुपया देकर उसी कच्चे मालसे बने पक्के माल, जैसे रूईसे तैयार कपडेको, मोल ले । इस प्रकारके व्यवसायसे प्रधान देशोकी सम्पत्ति और फलत. पूँजी और भी बढती गयी ।

इस पूँजीवृद्धिके साधन मजदूरोंकी दशाको भी थोडा-सा जान लेना आवश्यक है । इनमे कुछ तो शहरोके बेकार थे । आरम्भमे कुछ ऐसे भी थे जो मजदूरीकी लालचसे देहातसे आते थे पर बीच-बीचमे घर भी चले जाते थे । परन्तु धीरे-धीरे इन लोगोका ग्रामोसे सम्बन्ध छूट गया । आना-जाना बन्द हो गया । खेतीबारी रह नही गयी । शहरोमे ही रहते थे और मजदूरी करना ही एकमात्र जीवनोपाय था । इनके पास सिवाय अपने शरीरके और कोई सम्पत्ति नही थी । यह लोग शुद्ध 'सर्वहारा' थे । इनकी सन्तान ही आजकल कारखानोको चला रही है और बेकारोकी संख्या बढा रही है ।

शुरू-शुरूमे तो इनकी दशा बहुत ही बुरी थी । पुरुषोकी तो बात ही दूर है, स्त्रियो और नौ दस वर्षके बच्चो तकसे बडी बेदर्दीसे काम लिया जाता था । खानोमे जमीनके नीचे लगातार बारह-तेरह घण्टे तक काम करना पडता था । मजदूरी बहुत कम होती थी और न कोई रहनेका प्रबन्ध था, न औषधोपचारका । सारा प्रयत्न इस बातका था कि इनसे

जितना अधिक काम लिया जा सके लिया जाय और फिर चुसे हुए आमको भाँति फेक दिया जाय। न बुढ़ापेके लिए बीमा या पेंशन थी, न चोट लगनेपर हर्जाना। कुछ भलेमानसोंने इसके विरुद्ध आवाज भी उठायी पर उनकी किसीने सुनी नही। उस समय एक विशेष सिद्धान्त मान्य हो रहा था जिसको 'करने दो' या स्वच्छन्दता'★ 'सिद्धान्त कह सकते है। सिद्धान्तके मान्य होनेका एकमात्र कारण यह था कि इसको माननेमे पूँजीपतियोका फायदा था। इसका निष्कर्ष यह है कि मजदूरके साथ कोई जबर्दस्ती तो की नही जाती। उसे कोई पकडकर कारखानेमे भर्ती नही करता। वह जानता है कि यहाँ काम करनेकी यही शर्ते है। फिर भी जब वह काम करने आता है तो अपनी इच्छासे आता है। उसको इस अवस्थामे काम करना न पसन्द हो, अपने घर चला जाय। जब मालिक और नौकर दोनो स्वच्छन्द है और अपने शौकसे एक विशेष रूपसे काम कर रहे है तो फिर कोई दूसरा, सरकार या अन्य व्यक्ति, बीचमे कैसे बोल सकता है ?

इस सिद्धान्तके भीतर जो दम्भ भरा हुआ है वह स्पष्ट है। यह कहना शरारत है कि मिल मालिक और मजदूर—धनिक और भूखा—दोनो बराबर है। जब भागनेका कोई मार्ग नही रहता चूहा भी शौकसे बिल्लीके मुँहमे जाता है। मज़दूरके साथ जबर्दस्ती भले ही न होती रही हो पर वह करता क्या ? किस घर चला जाता ? वह तो विवश था। जब तक किसी प्रकार पेटकी ज्वाला बुझानेको कुछ मिल जाता था तब-तक सब प्रकारकी शर्तोको माननेके लिए बाध्य था। यह कहना कि वह किसी भी दृश्यसे स्वच्छन्द था उपहास करना था।

मज़दूरकी अवस्थामे अब भी कोई मौलिक परिवर्तन नही हुआ है। वह अब भी गुलाम है। अब भी उसके मालिकोका लक्ष्य यही है कि

★ Laissez-faire.

अधिकसे अधिक काम लिया जाय और कमसे कम मज़दूरी दी जाय। जैसा कि किसीने कहा है, मजदूरके सारे जीवनका निचोड इन शब्दोमे व्यक्त किया जा सकता है, "हम काम करने जाते है ताकि रुपया मिले ताकि हम भोजन मोल ले ताकि शरीरमे बल आये ताकि हम काम करने जायँ ताकि रुपया मिले ताकि हम भोजन मोल ले....इत्यादि" मजदूर इसलिए काम नही करता कि वह उसे अपना काम समझता है या उसे उसमे रस आता है वरन् इसलिए कि उसका वह एकमात्र जीवनोपाय है।

फिर भी पहलेसे दशा अच्छी है। कामके घण्टे कम हुए है, स्त्रियो और बच्चोसे वैसा और उतना काम नही लिया जाता, मजदूरी भी अधिक मिलती है, काम करते-करते चोट लग जानेपर हर्जाना मिलता है, अधिक-तर सभ्य देशोंमे बुढापे और मृत्युके लिए बीमेका भी प्रबन्ध है। अब 'स्वच्छन्दता' नीति खुलकर नही बरती जाती। ऐसा मान लिया गया है कि समाजका यह कर्तव्य है कि इस विषयमे आवश्यक हस्तक्षेप करे। इसी-लिए यद्यपि कानून बनानेवाली संस्थाओ और सरकारोपर पूँजीपतियोका अब भी प्रबल प्रभाव है फिर भी धीरे-धीरे कई ऐसे कानून बन गये है जिनसे मजदूरोकी परिस्थिति सुधरी है। पूँजीपतियोने कुछ लोकमतसे दब-कर इन कानूनोको बनने दिया है, कुछ आपसकी प्रतियोगिताके कारण। एक पूँजीपति यह नही चाहता कि दूसरा अपने मजदूरोसे अधिक काम लेकर या उनको कम मज़दूरी देकर मुझसे अधिक मुनाफा करे अत यह लोग चाहते है कि यथासम्भव सबके लिए एकसे नियम बन जायँ।

पर जिस लोकमतके जागनेसे यह सम्भव हुआ है उसके पीछे मज़दूर वर्गकी तपस्या है। पहिले प्रत्येक मजदूर अलग था, धीरे-धीरे मजदूरोने मिलकर काम करना, मजदूर-सभा या श्रमिक-संघ बनाना सीखा। मालिकोको यह बात नापन्द थी, अब भी नापसन्द है। वह जानते है कि संघसे शक्ति बढती है। पदे-पदे इन संघोका विरोध किया गया। बहुधा मालिकोने सघोंके अस्तित्वको स्वीकार करनेसे ही इनकार किया। न संघके

पदाधिकारियोसे बातचीत की जाती थी न उनके किसी पत्रका उत्तर दिया जाता था। कानूनके द्वारा भाँति-भाँतिकी रुकावटे डाली गयी। यदि सघ बनें भी तो वह क्या-क्या काम करें, उसके लिए कडे बन्धन बनाये गये। जर्मनीकी हिटलरशाही सरकारने तो मजदूर-संघ तोड़कर उनके लाखो रुपये जब्त कर लिये। इटलीमे भी मजदूर-संघ तोड़ दिये गये। हडताल और कामबन्दी, मिल-मालिको और पुलिसके डण्डो तथा गोलियोका निरन्तर सामना करते हुए भी मजदूर आज पहिलेसे मजबूत है और उनकी संस्थाएँ एकदेशीय नही वरन् अन्ताराष्ट्रिय है। मजदूरोकी संघटित शक्ति क्या कर सकती है इसका उदाहरण रूस है और उससे प्रत्येक देशका श्रमिक समुदाय प्रोत्साहन प्राप्त करता है।

अस्तु, जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, यूरोपके व्यवसायियोके हाथ एक प्रकारसे अनायास ही बहुत-सा रुपया लगा जिसको पूँजी बनाकर इन्होने अपने व्यवसायको खूब बढाया। कोयला और लोहा यूरोपके कई प्रदेशोमे होता है, ब्रिटेनमे तो खूब ही होता है। इससे मशीनो द्वारा व्यवसायको बढानेमे कोई कठिनाई नही हुई।

परन्तु इस पूँजीशाही प्रगतिके मार्गमे कई अडचने है। यह अड़चनें ऐसी है कि इनको दूर करनेका कोई उपाय नही देख पडता। यह पूँजीशाहीके साथ छायाके समान लगी हुई है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका अन्त करके ही छोडेंगी। इसीलिए इनको पूँजीवादके स्वगत उच्छेदक* कहते है। यह पूँजीवाद और पूँजीशाहीका उच्छेद करते है परन्तु मेहँदीकी लालीकी भाँति पूँजीवादसे पृथक् नही किये जा सकते। हम यहाँ सक्षेपमे इनमेसे कुछकी आलोचना करेगे।

प्रत्येक पूँजीपति यही चाहता है कि मै वस्तुओको तैयार करता जाऊँ और दूसरे लोग मुझसे मोल लेते जायँ। मशीनसे थोड़ा माल तैयार करनेसे

---

* Inner Contradctions.

कोई लाभ नही होता। मशीन तो थोक तैयार करनेके लिए है। परन्तु एक ही पूँजीपति तो है नही, न एक ही कारखानेदार है। ऐसे कई व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय अर्थात् कम्पनियाँ होती है। पहले-पहले तो बाजार बडा होता है, मालकी माँग अधिक होनी है और सबको पर्याप्त मुनाफा होता है। पर मशीनें तो सबके पास है और सभी अधिकसे अधिक माल तैयार कर रहे है, नही तो मशीन बेकार रहे और घाटा पडे। परिणाम यह होता है कि माल बहुत तैयार हो जाता है। इस अवस्थामे दो ही बाते सम्भव है। यदि मालकी मात्रा कम की जाय तब उतना मुनाफा हो सकता है, नही तो मूल्य कम मिलेगा। पूँजीपति परोपकार बुद्धिसे तो व्यवसाय करता नही। उसका उद्देश्य रुपया कमाना है, लोगोकी आवश्यकताओकी पूर्ति करना नही। अत अपने मुनाफेके लिए वह तैयार मालको नष्ट कर देता है। कई बार कहवा और सेव समुद्रमे फेक दिये गये, गेहूँ भट्ठोमे डालकर जलाया गया। यह इसलिए नही कि पृथ्वीपर कोई भूखा न था वरन् इसलिए कि माल कम होगा तो उसका दाम अधिक मिलेगा। अमेरिकामे रुईके खेत जला दिये गये या बे-बोये छोड दिये गये। इसका यह कारण नही था कि अब नंगे नही रहे और रुईकी आवश्यकता नही है वरन् इसलिए कि रुई कम पैदा होगी तो सूतका भाव चढेगा और पूँजीवालोको कपडेका अधिक मूल्य मिलेगा।

परन्तु इन युक्तियोसे काम नही चलता। मालको नष्ट करके जो मुनाफा होता है वह तो सबके लिए एक-सा होता है। अतः आपसकी प्रतिस्पर्द्धाके कारण इस बातकी चिन्ता होती है कि कोई ऐसी युक्ति निकाली जाय जिससे खर्च हमारा कम पडे और मूल्य हम दूसरोके बराबर लें। ऐसा होनेसे मुनाफा अधिक होगा। प्रत्येक पूँजोपति दूसरे पूँजीपतियोको जो उसी व्यवसायको करते है इस प्रकार गिराना चाहता है। इसका एक उपाय तो यह,है कि कच्चा माल सस्ते बाजारमे खरीदा जाय। विभिन्न देशके व्यवसायी इसके लिए जो प्रयत्न करते है उसका उल्लेख

अगले अध्यायमे होगा। परन्तु एक ही देशके दो व्यवसायी इस प्रकार एक दूसरेको नही दबा सकते। यह हो सकता है कि कपडेका जापानी कारखानेदार अँग्रेज़ी कारख़ानेदारसे सस्ते भावमे रुई पा जाय पर जहाँसे एक जापानी कारखानेदार मोल लेगा वहाँसे दूसरा भी ले सकता है। अत: एक देशके भीतर इस उपायसे काम नही निकल सकता। दूसरा उपाय यह है कि श्रमिकोसे काम अधिक लिया जाय पर यह भी एक देशके भीतर नही चल सकता। यह हो सकता है कि एक देश मे मजदूरोसे दिनमे आठ घण्टे काम लेनेका दस्तूर हो और दूसरे देशमे दस घण्टे काम लेनेका, पर किसी भी देशविशेषमे सभी व्यवसायियोके लिए एक ही नियम लागू होगा, अत तीसरे उपायका अवलम्बन करना पडता है। इसका लक्ष्य यह है कि काम उतना ही हो पर मजदूर कम लगे। यही उपाय आजकल चल रहा है। इसको संयमन★ कहते है। यह दो प्रकारसे किया जाता है। कुछ तो छान-बीन करके फालतू आदमी चाहे वह दफ्तरमे हो चाहे मशीनोपर, पृथक् कर दिये जाते है। पर यह बहुत छोटी-सी बात है। मूल प्रयत्न यह होता है कि अपने पास ऐसी मशीन हो जिसमे मनुष्य कम लगें। लाखो रुपये ख़र्च करके मशीनोमे ऐसा उलट-फेर, ऐसी उन्नति, की जाती है कि जहाँ दस मजदूर लगते थे वहाॅ पाॅच ही लगें। बराबर संयमन जारी है और एक व्यवसायीको नकल दूसरा करता है; क्योकि जो इस मैदानमे पीछे रह जायगा उसका माल महँगा पडेगा और उसका मुनाफ़ा कम हो जायगा। सभी देशो, सभी व्यवसायोमे इसकी धूम है।

परन्तु अब एक तमाशा होता है। सयमनके फलस्वरूप लाखों मनुष्य बेकार हो जाते है। यह लोग या तो हाथपर हाथ धरकर भूखो मरें या भीख मागे या सरकार प्रजापर टैक्स लगाकर इनका पेट भरे, जैसा कि, उदाहरणके लिए, ब्रिटेनमे होता है। पर इन तीनोमेसे कोई भी बात हो,

---

★ Rationalization.

इन लाखों आदमियोकी क्रयशक्ति—माल खरीदनेकी शक्ति—तो नष्ट हो ही जाती है, सारे समाजकी क्रयशक्ति कम हो जाती है, क्योंकि एक बडी रकम किसी-न-किसी रूपमे इन लोगोके भरण-पोषणमे खर्च होती है। यह समस्या पूँजीपतियोके सामने आये दिन खडी रहती है। एक ओर तो माल इतना तैयार हो जाता है कि माँग होते हुए भी कम मुनाफेके भयसे उसे सबका सब बेचा नही जा सकता, दूसरी ओर लाखो मनुष्योको बेकार करना पडता है और जो लोग ग्राहक हो सकते है उनको क्रयशक्ति कम करनी पडती है, यहाँ तक कि माल पड़ा रहता है पर आवश्यकता होनेपर भी वह उसे नही मोल ले सकते। यह पूँजीवादका एक भीषण स्वगत उच्छेदक है। पूँजीशाहीका इतिहास ऐसे संकटोके★ वर्णनसे भरा पडा है। किसी प्रकार लीपापोती करके या किसी युद्धकी सहायतासे पूँजीपति एक सङ्कटको पार नही कर पाते कि दूसरा सङ्कट आ उपस्थित होता है। यह समझमे नही आता कि पूँजीपतियोकी पारस्परिक होड़के रहते सङ्कटोकी शृङ्खला कैसे टूट सकती है। यह भी समझमे नही आता कि पूँजीशाही पद्धतिके रहते पूँजीपतियोकी आपसकी होड कैसे बन्द हो जायगी। यह प्रतिस्पर्द्धा तो स्वाभाविक ही है। जब मुनाफेके लिए व्यवसाय किया जायगा तो अधिक मुनाफेकी इच्छा रखना बुरा नही कहा जा सकता। पर इस सारी कथामे खराबीकी बात यह है कि यह सङ्कट केवल थोडे-से पूँजी-पतियोपर नही पडते। जब लाखो श्रमिक बेकार होते है तो उनके कुटुम्बियोको मिलाकर जनताके एक बडे अंशको भाँति-भाँतिकी विपत्ति सहनी पड़ती है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे समूचे देशको कई प्रकारकी क्षति उठानी पड़ती है। आर्थिक कष्ट तो होता ही है, स्वास्थ्य गिर जाता है, चारित्र्य-पतन होता है, सस्कृतिकी मर्यादा पीछे हट जाती है। अतः यह पूँजीपतियोका घरेलू प्रश्न नहीं सारे जनसमुदायके हिताहितका प्रश्न है।

★ Crisis.

एक और अडचन है। पूँजीवादका व्यष्टिवाद★ और राष्ट्रवादसे† गहरा सम्बन्ध है। व्यष्टिवादसे तो इसलिए सम्बन्ध है कि पूँजीवाद व्यक्तिकी स्वच्छन्दता और स्वार्थ बुद्धिके सहारे टिका हुआ है। प्रत्येक देशमे प्रत्येक पूँजीपति चाहता है कि मै देशके सारे व्यावसायिक जीवनका एकमात्र अधिष्ठाता बन जाऊँ। इसका परिणाम यह होता है कि बड़े पूँजीपति छोटे पूँजीपतियोको खा जाते है। बड़ोका मुकाबला छोटे नही कर सकते। धीरे-धीरे थोडेसे हाथोमे देशका सारा व्यवसाय आ जाता है। थोडेसे लोगोका स्वार्थ बहुतोके स्वार्थको कुचल देता है। यह बात एक उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगी। भारतका औद्योगिक जीवन अभी चार दिनका है पर अभीसे थोडेसे लोगोने इसपर कब्जा कर लिया है। कल-कारखाने सैकड़ो है पर उनपर किसी-न-किसी प्रकारका नियन्त्रण प्राय. थोडेसे बडे पूँजीपतियोका है। टाटा, बिड़ला, जयपुरिया, सिघानियाँ, जैसे कुछ उद्योगपति सारे देशमे फैले हुए है। इसके पहिले ब्रिटिश इण्डियन कार्पोरेशन, ऐण्डयू यूल ऐण्ड कम्पनी, मार्टिन कम्पनी, जिलैण्डर्स आर्बटनॉट, मैक्ल्यूड ऐण्ड कम्पनी, जैसे अग्रेजी व्यवसायियोके हाथमे भारतके व्यवसायका बहुत बडा भाग था परन्तु अब धीरे-धीरे भारतीय व्यवसायियोने उनके कारखानोको मोल ले लिया है।

यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे महापूँजीधरोके सामने छोटे व्यवसायी नही ठहर सकते। पर इनको इतनेसे परितोष नही है। जो यो ही बलवान् है वह बलवत्तर बन रहे है। बडी-बड़ी कम्पनियाँ एकमे मिल रही है। ऐसे सम्मिलनसे जो संस्थाएँ उत्पन्न होती है उन्हे 'ट्रस्ट' या 'कम्बाइन' कहते है। इसका परिणाम यह है कि सभी देशोमे थोडे-से व्यक्तियो अर्थात् इन बड़े ट्रस्टोके संचालकोके हाथमे देशके सारे औद्योगिक और व्यावसायिक जीवनकी बागडोर चली जाती है। कपड़ा, बिजली, शक्कर,

★ Individualism. † Nationalism.

जहाज़, रेल, कोयला, महाजनी—ऐसा कोई व्यवसाय नही है जो इनके हाथमे न हो। पूँजीशाही प्रत्येक राष्ट्रको व्यावसायिक एकाधिकारकी ओर ले जा रही है।

यह बात यही समाप्त नही होती। आरम्भमे पूँजीवाद और राष्ट्रवाद-का भी सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक राष्ट्रके पूंजीपति अपना भला चाहते है फलत. उनसे दूसरे राष्ट्रोके पूंजीपतियोसे होड रहती है। इसका जो परिणाम होता है उसपर अगले अध्यायमे विचार होगा। यह प्रतिद्वन्द्विता अब भी जारी है पर इसके साथ-साथ एक दूसरी प्रवृत्ति भी देख पड रही है। पूंजीशाही अब राष्ट्रीयताको छोडकर अन्ताराष्ट्रियताकी ओर झुक रही है। प्रत्येक देशमे तो बडी कम्पनियाँ और बडे ट्रस्ट है ही, अब एक देशके ट्रस्ट दूसरे देशके ट्रस्टोसे मिल रहे है। आज भारतमे कई बडे उद्योगपति जापानी, अमरीकन और कनेडियन व्यवसायियोके साझे-मे व्यवसाय स्थापित कर रहे है। स्वदेश-विदेशका विचार छोड़कर बडे-बडे ट्रस्ट मिल रहे हैं, और अन्ताराष्ट्रिय ट्रस्टोकी सृष्टि कर रहे है। एक ही उदाहरण पर्याप्त है। आज रूस और दो एक अन्य देशोको छोडकर सारी पृथ्वी-भरमे मिट्टीके तेलका व्यवसाय स्टैण्डर्ड आयल कम्पनी और रायल डच कम्पनीके हाथमे है। यह दोनो ही अन्ताराष्ट्रिय ट्रस्ट है और छोटी-बडी कई सौ, स्यात् कई हजार कम्पनियोका नियन्त्रण करते है। अभी तो इनमे आपसमे प्रतिस्पर्द्धा है इसलिए कुछ रक्षा हो रही है पर यदि यह दोनो मिल जायँ तो बेचारे ग्राहकको कौन बचायेगा? गरीब या अमीर जिसके घर एक पैसेका भी मिट्टीका तेल जलता होगा वह इनकी मुट्ठीमे रहेगा। मुँह माँगा दाम लेगे। प्राचीन कालमे कभी-कभी कोई राजा किसी व्यापारीको अपने राज्यमे किसी वस्तुके बेचनेका एकाधिकार दे दिया करता था पर पूंजीशाहीका दिया हुआ यह एकाधिकार उससे कही व्यापक और भयङ्कर है। यह स्मरण रखनेकी बात है कि इन ट्रस्टोका जन्म चाहे किसी उद्योग-विशेषसे हुआ हो पर इनकी विपुल पूजी एक ही उद्योगमे बँधी नही रह

सकती। वह धीरे-धीरे सभी व्यवसायोको अपने घेरेमे लानेका प्रयत्न करेगी और जो उसका मुकाबिला करेगे उनको कुचल डालेगी। इन महा-ट्रस्टोकी बात तो जाने दीजिए, भारतमे ऐड्रयू यूल ऐण्डको इतने प्रकारके व्यवसायोपर नियन्त्रण करती है—किसी एक देशके लिए भी यह सोचनेकी बात हो सकती है कि वह कोयला, लोहा, यातायात जैसे मूल उद्योगोको थोडेसे लाभ-लोलुप व्यक्तियोको सौपकर अपनेको उनका दास बना देगा। पर यदि थोडेसे मनुष्य, जिनका एक मात्र उद्देश्य अपना लाभ है, पृथ्वी-भरके मुख्य-मुख्य व्यवसायोपर नियन्त्रण प्राप्त करके अन्ताराष्ट्रिय जगत्‌को अपना गुलाम बना सकें तो यह तो बडी ही शोचनीय अवस्था होगी। लोग इस भयको देख रहे है और पूजीवादके इस विकासको, जिसमे वह व्यष्टि-वादसे अन्ताराष्ट्रिय एकाधिकारकी ओर बढ रहा है, सशंक दृष्टिसे देख रहे है। बडी-बडी सरकारे इन प्रबल ट्रस्टोसे घबराती है। अमेरिकामे किसी-किसी राष्ट्रपतिने इनसे टक्कर लेनी चाही पर यह ज्यो-के-त्यो बने हुए है, इनका बल टूटा नही। यह भी पूँजीशाही और पूँजीवादका एक स्वगत उच्छेदक है।

इसका राजनीतिपर विचित्र परिणाम होगा। जबतक पूँजीशाही राष्ट्रीय सीमाओके भीतर आबद्ध है, तब-तक तो एक राष्ट्रके पूँजीपति अपना प्रभाव लगाकर उस राष्ट्रको अपने स्वार्थके लिए कभी-कभी दूसरे राष्ट्रसे लडानेका प्रयत्न करते है पर अब तो अन्ताराष्ट्रिय गुट अपने स्वार्थके लिए राष्ट्रोको लडा देगे। इन अन्ताराष्ट्रिय पूँजीपति गुटोमे सभी देशोके पूँजीपति होगे। युद्ध होनेसे तेल, लोहा, हथियार आदिकी बिक्री अधिक होगी, मुनाफा खूब होगा। अपने रुपयेका पूरा जोर लगाकर यह लोग राष्ट्रोको लडायँगे। व्यर्थ लाखो मरे-कटेंगे पर कोई जीते कोई हारे इनको मुनाफा मिलेगा। मुनाफा लेनेवालोमे विजित और विजेता, दोनों देशोके पूँजीपति होगे। बडी कम्पनियोकी ऐसी करतूतोका पिछली लड़ाईमे सप्रमाण भण्डाफोड हुआ था।

कथा यही नही समाप्त होती। एक और प्रबल उच्छेदक है जो पूँजीवादकी जड खोद रहा है, इसका कटु अनुभव सभी बडे पूँजीवादी देशोको हो रहा है। इसका बहुत अच्छा उदाहरण ब्रिटेन और भारतके सम्बन्धसे मिल सकता है। जैसा कि हमने देखा है भारतके पुराने उद्योग तो प्रायः सब नष्ट हो गये। कुछ कोरी-जुलाहे कपड़ा भले ही तैयार कर लें पर सूत वह भी विदेशी ही लगाते थे। महाजनी और दूकानदारी तो रह गयी पर कोई ऐसा व्यवसाय नही रह गया जिससे प्रचुर मात्रामे पण्य उत्पन्न होते। परन्तु ब्रिटेनके कुछ पूँजीपतियोने देखा कि भारतमे मजदूरी सस्ती है। यदि भारतमे कारखाने खोले जायँ तो ढुलाईका खर्च भी बच जाय और माल सस्ता पडनेसे खूब बिके। अत कुछ अग्रेजोने भारतमे कपडेके कारखाने खोले। यह बात ब्रिटेनके कारखानेदारोको खली। अत आपसमे सङ्घर्ष शुरू हुआ। एक ही घर, ब्रिटिश पूँजीशाही, मे कलह उत्पन्न हो गया। जो कारखाने भारतमे खुले उनके तथा रेलवे आदिके लिए भारतमे एञ्जिनियर और कल-कारखानोकी देख-रेख करने तथा मशीनोकी मरम्मत और उनके कल-पुर्जोको बना लेने योग्य शिल्पी भी तैयार हो गये। यह सब बाते ब्रिटेनके हितके विरुद्ध थी। ऐसे ही हित-संघर्षके फलस्वरूप ब्रिटेनके हाथसे अमेरिका निकला था। अमेरिकन उपनिवेशके निवासियोने जब देखा कि उनकी पितृभूमि ब्रिटेन, अपने आर्थिक स्वार्थके लिए उनको दबाना चाहती है तो वह लडकर स्वतन्त्र ही हो गये।

इधर बीचकी दलालीकी बदौलत बहुत-से भारतीयोके पास भी रुपया हो गया था। कच्चे माल, जैसे रुई या अन्नको गॉव-गाँवसे बटोरकर अंग्रेज व्यापारियोके हाथोमे बेचनेवाले भारतीय अढतिये ही थे। इसी प्रकार अग्रेज व्यापारियोसे तैयार माल, जैसे कपडा, थोक माल लेकर गॉव-गॉव भेजनेवाले भी भारतीय ही थे। रेल इत्यादिके बडे अहलकार भले ही अंग्रेज हो, पर ठेकेदार भारतीय होते थे। ऐसे लोगोके पास रुपया जमा हो जाना स्वाभाविक था और यह लोग उसे पूँजीके रूपमे कही लगाना चाहते थे।

इसका सुयोग मिल गया। ब्रिटेनमे जो कारखाने मशीनोंको बनाते थे उनको ग्राहक चाहिए थे। उनके सारे मालकी खपत ब्रिटेनमे ही तो हो नही सकती थी। अत. उन्होने इन भारतीय रुपयेवालोके हाथ मशीने बेचनी शुरू की। फलतः भारतीयोने भी कपडेके कारखाने खोले। अंग्रेज सरकारने जब अंग्रेजोको भारतमे कपड़ेकी मिलें खोलने दी तो भारतीयोको किस मुँहसे रोकती ? अनेक कठिनाइयोका सामना करके भी इस व्यवसायमे पर्याप्त मुनाफा हुआ और कपडेकी मिलोकी सख्या बढती ही गयी। जिस किसी प्रान्तमे रुई पैदा होती है या सुभीतेसे पहुँच सकती है वही सूत कातने या कपडा बनानेकी मिले है। इससे ब्रिटेनके वस्त्र-व्यवसायको बडा धक्का पहुँचा। पर भारतीयोने केवल कपडेके व्यवसायमे ही हाथ नही डाला। धीरे-धीरे चाय, कोयला, दियासलाई, चूडी, शीशा ऐसे कई रोजगारोमे भारतीयोका काफी हाथ हो गया। लोहेमे तो टाटाने एक प्रकारका एकाधिकार-सा प्राप्त कर लिया। जहाज चलानेवाली कम्पनियाँ भी कई हो गयी होती और दूर देशोतक न सही पर भारतके तटपर एक स्थानसे दूसरे स्थानतक यात्रा और माल ले जानेका व्यवसाय तो पूरा ही भारतीय हाथोमे आ गया होता पर सरकारने ऐसा होने न दिया। फिर भी ज्यो-ज्यो भारतके पूँजीपति बलवान् होते गये त्यो-त्यो सरकारको भी उनसे दबना पडा और ब्रिटिश पूँजीपतियोको जो अबतक भारतको अपनी आखेट भूमि समझते थे, इनके साथ समझौता करना पडा। भारतीय व्यवसायी भारतमे तो अपना माल बेचते ही थे, थोडा-बहुत माल विदेशोमे भी बेचते थे और इस प्रकार भी अग्रेज व्यवसायियोको हानि पहुँचाते थे।

यह सब इसीलिए हुआ कि पूँजीशाहीके भीतर घुनकी भाँति एक उच्छेदक लगा हुआ है। कपडेका व्यवसायी भी पूँजीपति है, मशीन बनानेवाला भी पूँजीपति है। दोनो ब्रिटिश व्यवसायकी उन्नति चाहते है और अपना मुनाफा चाहते है। पर एकका हित दूसरेके ,हितका विरोधी है। जहाँ मशीन बिकती है वहाँ कपडेवालेकी जड़ कटती है पर मशीनवाला

बिना मशीन बेचे रह नही सकता। अतः पूँजीशाही अपना शत्रु आप ही पैदा करती है। एक भारतमे ही नही सारी पृथ्वीपर पूँजीशाही अपने हाथो अपना शिरच्छेद करती जाती है।

पर पूँजीशाही भिन्न-भिन्न प्रकारके माल बेचकर ही अपना गला नही घोटती। उसकी पूँजी भी उसके लिए घातक हो जाती है। कारखानेवाले माल तो बेचते ही है, बडे-बडे पूँजीपति विशेषत महाजन और बैंकर दूसरे देशोमे अपना रुपया लगाकर वहाँके ही व्यवसायियोकी सहायता करते है। भारतमे ही अंग्रेजोका इस प्रकार करोड़ो रुपया लगा हुआ था। दूसरे बहुतसे उदाहरण है। चीन, तुर्की, कई देशोमे ऐसा हुआ है। कल-कारखाने उसी देशवाले खोलते है, वही चलाते है पर पूँजीका बहुत बडा भाग विदेशी लगाते है। नामको यह व्यवसाय स्वदेशी होते है पर इनके मुनाफे-से बहुत-सा रुपया प्रतिवर्ष ब्याजके रूपमे बाहर चला जाता है। अस्तु, यह तो होता है पर इसके साथ ही धीरे-धीरे इन देशोका व्यवसाय सुदृढ होता जाता है और यह अपने पाँवपर खडे होने लगते है। इसका परि-णाम यह होता है कि यह उन देशोसे जिनसे पहले माल मँगाते थे, माल मँगाना बन्द कर देते है। रुपयेवाले रुपया घरपर रख नही सकते इसलिए उसे ऐसे देशोमे लगाते है जिनके पास स्वयं रुपया नही है परन्तु इसका परिणाम यह होता है कि वह अपने देशके व्यवसायके लिए प्रतियोगी खडा कर देते है और इस प्रकार अपनी पूँजीके सोतेको सुखानेका भी आप आयोजन कर लेते है। ब्रिटेन और अमेरिकाको इसका अनुभव है। जहाँ पूँजी लगाते है वहाँ किसी-न-किसी युक्तिसे अपना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपका राजनीतिक अधिकार रखनेका प्रयत्न किया जाता है ताकि रुपया डूब न जाय पर इसका निश्चय नही हो सकता। युद्ध या अन्य किसी राजनीतिक उथल-पुथलके द्वारा ऐसे दबे हुए देश हाथसे निकल जाते है और अपने देशके व्यवसायको क्षति तो पहुँचती ही है, रुपया भी डूब जाता है।

यह बातें पूँजीवादके साथ जन्मसे ही लगी हुई है। जब मुनाफा होगा तो पूँजी बढेगी और उसे कही-न-कही लगाना पडेगा। जो देश अपने अधीन है उनमे तो अपनी ओरसे भी कल-कारखाने खोले जा सकते है पर स्वतन्त्र देशोमे रुपया लगाना ही सुकर होता है। इन दोनोमेसे कोई भी बात की जाय, अन्तमे अपना ही नुकसान होता है। इस प्रकार हम देखते है कि पूँजीशाही जिधर पाँव बढाती है उधर ही वह अपने गिरनेका आयोजन करती है।

पूँजीशाहीके और भी एकाध दोष विचारणीय है। पूँजीवादके अनुसार यह आवश्यक है कि देशकी खानोपर पूँजीपतियोका अधिकार रहे। वही खानोमेसे कोयला, तेल, लोहा, ताँबा आदि सामग्री निकाले और वही उसे कच्चे रूपमे या उससे दूसरी चीजें बनाकर बेचें। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि खनिज पदार्थ मूली, बैगनकी भाँति प्रतिवर्ष नही पैदा होते। जिस देशमे जितना कुछ खनिज है उतना ही है। अतः उसकी रक्षा होनी चाहिए नही तो थोडे दिनोमे खत्म हो जायगा और बादमे आनेवालोको कुछ न मिलेगा। पर यह रक्षा पूँजीपति नही कर सकता। उसको तो मुनाफा चाहिए, आजसे पचास सौ वर्ष पीछे जो लोग पैदा होगे वह क्या करेगे, इससे उसका कोई सरोकार नही है। वह चाहेगा कि खानोको यथासम्भव खाली कर डाले। यह बडा भारी भयस्थल है। यह शङ्का काल्पनिक नही है। कुछ ही वर्ष हुए अमेरिकामे इसका एक रूप देखा जा चुका है। वहाँ तेलकी कुछ खानें इसलिए सुरक्षित थी कि यदि राष्ट्रपर कोई विपत्ति पडे तो नौ-सेनाके लिए उनमेसे तेल निकाला जाय। यो उनमेसे तेल निकालनेका ठेका किसीको नही दिया जाता था। पर कुछ पूँजीपतियोने लाखो रुपया रिश्वतमे खर्च करके उनपर कब्जा प्राप्त कर लिया। अकस्मात् भेद खुल गया और उनके हाथोसे खानें निकल गयी। उनमेसे कुछको जुर्माना देना पडा, कुछ सरकारी अहलकारोंको दण्ड मिला, पर इससे पूँजीशाहीका कोई विशेष नुकसान नही हुआ।

यह एक उदाहरण मात्र है पर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीशाही कहाँ तक जा सकती है। देशहित, सन्ततिहित या इस प्रकारकी कोई बात उसको रोक नही सकती। उसको मुनाफा चाहिए।

परन्तु ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे यह भी स्पष्ट है कि पूँजीशाही बहुत दिन टिक नही सकती। उसका जन्म पूँजीवादसे हुआ है परन्तु पूँजीवाद स्वगत उच्छेदकोसे भरा पडा है। उसके विकासके साथ-साथ ही इन उच्छेदकोका विकास हुआ है। जब-तक नये-नये बाजार और उद्योग-व्यवसायमे पिछडे हुए देश मिलते गये तबतक तो उच्छेदक किसी-न-किसी प्रकार दबते गये पर अब ऐसा सम्भव नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पूँजीशाहीका अन्त करके छोडेगे। पर इनसे लडनेका प्रयत्न प्राणपणसे किया जा रहा है और इस प्रयत्नमे पूँजीशाही जगत्की सुखशान्तिको ध्वस्त कर रही है।

बारहवाँ अध्याय

साम्राज्यशाही

हिन्दीमे साम्राज्यशाही प्रचलित शब्द नही है, साम्राज्यवाद ही प्राय. सुन पडता है। परन्तु इसमे भी वही आपत्ति है जो हमने पूँजीवादके सम्बन्धमे दिखलायी थी। 'साम्राज्यवाद' से यह ध्वनि निकलती है कि यह कोई सिद्धान्त है। वस्तुतः यह कोई विशेष सिद्धान्तकी बात नही है, आजकलकी एक वस्तुस्थितिका नाम है। उस वस्तुस्थितिको 'साम्राज्यशाही' कहना ही अधिक ठीक प्रतीत होता है। हिन्दीमे इस अर्थके एक ही अग्रेज़ी पर्य्यायके कारण नामकरणकी कठिनाई उत्पन्न हुई है।

साम्राज्यशाहीकी बहुत-सी परिभाषाएँ की गयी है। उन सबके यहाँ देनेकी आवश्यकता नही है। पर उन सबका निचोड यह है कि साम्राज्यशाही वह अवस्था है जिसमे पूँजीपति राजशक्तिकी सहायतासे दूसरे देशोमे आर्थिक जीवनपर नियन्त्रण करते है। इस विषयपर बहुत बडा साहित्य मौजूद है। इसमे सबसे प्रामाणिक पुस्तक लेनिनकी 'इम्पीरियलिज्म' है।

साम्राज्य तो पहले भी थे। अशोक, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन, अकबर सभी सम्राट् थे पर उन दिनोके साम्राज्य आजकल जैसे न थे। सभी सभ्य और अर्द्धसभ्य देशोकी आर्थिक स्थिति प्रायः एक-सी थी। सामन्त सरदारोके हाथमे अधिकार था। जब कोई राज्य कुछ बलवान् होता था या वहाँका नरेश महत्त्वाकाक्षी होता था तो अपनी मान और अधिकार-वृद्धिके लिए पडोसके राजोपर आक्रमण किया जाता था। यदि शक्ति हो तो शरत्कालके आरम्भमे सीमोल्लङ्घन करना राजाका धर्म्म माना जाता था। महत्त्वाकाक्षी राज किस प्रकार मित्रो और तटस्थोका चक्र बनाये, इसके लिए

राजनीतिके प्राचीन ग्रन्थोमे बहुत-से नियम बताये गये है। जब कोई दृढ साम्राज्य स्थापित हो जाता था तो व्यापार-व्यवसायकी भी वृद्धि होती थी और विजयी राजको कई प्रकारके लाभ, जिनमे आर्थिक लाभ भी अन्तर्गत है, होते थे परन्तु साम्राज्य बढानेके प्रयत्नका मूल प्रेरक विजिगीषा ही होती थी। मध्य एशियासे कई जातियाँ आर्थिक कारणोसे प्रेरित होकर अपना मूलस्थान छोडकर दूसरे देशोमे गयी और इनमे-से कइयोने साम्राज्य भी स्थापित किये पर इनका उद्देश्य साम्राज्य स्थापित करना नही था। साम्राज्य तो पीछे स्थापित हुए। जब यह घरसे निकली उस समय तो इनको केवल दूसरे घरकी तलाश थी।

आजके साम्राज्य, जैसे ब्रिटिश, या फ्रेञ्च साम्राज्य, दूसरे ही ढङ्गके है। यह कोरी शान-शौकतके लिए नही स्थापित किये गये है। इनका उद्देश्य आर्थिक है। आज साम्राज्यके पीछे साम्राज्यशाही होती है और साम्राज्यशाही तभी सम्भव होती है जब वैश्य वर्गके हाथमे राजकी लगाम आ जाती है।

हमने ऊपर कहा है कि साम्राज्यशाहीका तात्पर्य यह है कि एक देशके पूँजीपति दूसरे देशके आर्थिक जीवनका नियन्त्रण करे। इस नियन्त्रणके कई स्वरूप है, जैसे उस देशके उत्पन्न कच्चे माल (अन्न, तेलहन, रुई इत्यादि) को अपने ही हाथ बिकने देना और वह भी सस्ते दामोंपर, उस देशमे अपने ही देशके बने मालको बिकने देना चाहे वह मँहगा भी हो, उस देशके रोज-गारमे अपना रुपया लगाना और इस प्रकार व्याजमे वहाँसे बड़ी रकम वसूल करना, अपने देशकी बढ़ी हुई जनसख्याको उस देशमे बसा देना और उप-जाऊ भूभागोको अपने जातिवालोके कब्ज़ेमे देकर वहाँवालोको मजदूरोकी परिस्थितिमे गिरा देना।

साम्राज्यशाही पूँजीशाहीका अवश्यम्भावी परिणाम है। जो लोग पूँजी लगाकर मुनाफेके लिए व्यवसाय करते है उन्हे बाज़ार चाहिए ही। केवल अपने देशके बाज़ारसे तृप्ति नही होती क्योंकि आपसकी प्रतियोगितासे भर-

पेट लाभ किसीको नही होता। इसलिए बाहर बाज़ारकी खोज होती है। यदि सब देश एकसे बलवान् और उन्नत हो तो बाज़ार सुगमतासे नही मिल सकता, इसलिए जो दुर्बल होते है उन्हे ही दबानेका प्रयत्न किया जाता है। व्यवसायी अपने प्रयत्नसे ऐसा कर नही सकते, इसलिए उनके देशकी सरकारें, जिनपर व्यवसायियोंका काफी प्रभाव रहता है, इस काममे अग्रसर होती है। इसीलिए यह प्रतियोगिता बडी भीषण हो जाती है। जब किसी एक देशपर दो या दोसे अधिक पूँजीवादी देशाकी आँख गड़ती है, अर्थात् दो या दोसे अधिक देशोके पूँजीपति उसपर नियन्त्रण करनेके इच्छुक होते है तो इस संघर्षका निबटारा तलवार ही कर सकती है। कोई-न-कोई बहाना ढूँढ लिया जाता है। पर पूँजीपति स्वयं तलवार नही चलाते। देशभक्तिकी लम्बी-चौडी बाते सुनायी जाती है और देशपर विपत्तिका भय दिखलाया जाता है। इस प्रकारके झूठे प्रचारसे उत्तेजित करके लाखो मजदूर और किसान, जिनको किसीसे द्वेष नही और न विजयसे कोई लाभ उठाना है, कटवा दिये जाते है। सारे देशकी धन-जन शक्ति इन थोडेसे अर्थलोलुपोके स्वार्थपर आहुति कर दी जाती है। जैसा कि सयुक्त राजके आभ्यन्तर विभागके एक भूतपूर्व मन्त्री श्री फ्रैंक्लिन लेनने एक अवसरपर कहा था 'यदि न केवल व्यक्ति वरन् अपनी सरकारोके द्वारा स्वयं राज आर्थिक प्रतियोगितामे भाग लेंगे और अपनेको महाजनोकी कोठियो या कारखानोका रूप दे लेगे तो फिर व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वितासे उत्पन्न निरन्तर झगडोके शान्त होनेकी आशा नही की जा सकती।'

आर्थिक नियन्त्रण करनेके कई साधन है। इनमे सबसे सीधा और पुष्ट यह है कि उस देशका शासन अपने हाथमे आ जाय अर्थात् वह अपने राज्यमे मिला लिया जाय। ब्रिटिश साम्राज्य इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। भारत इसीलिए ब्रिटिश साम्राज्यमे था कि उसका आर्थिक शोषण बे-रोक-टोकके हो सके। इसी उद्देश्यसे इटलीने अबिसीनियाकी चिरकालीन स्वाधीनताका अपहरण किया था और जापानने चीनके मचूरिया प्रान्तको हजमकर अन्य

प्रान्तोपर कब्जा करनेके लिए सात वर्षोंसे युद्ध ठान रखा था। स्वतन्त्र कोरियाको वह इसके पहले ही साफ कर चुका था।

शासन अपने हाथमे आनेपर शासित देशकी आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार उलट-पुलट कर दी जा सकती है इसका उदाहरण भी भारतसे ही खूब मिल सकता है। स० १८७१ मे अन्तिम मराठा युद्ध समाप्त हुआ और पंजाब छोड़कर सारे भारतमे कम्पनीका शासन सुदृढ हो गया। इसके २० वर्षके भीतर ही दोनो देशोके व्यापार-व्यवसायका क्या स्वरूप हो गया वह देखने योग्य है।

	भारतसे कितने थान सूती कपडे गये	ब्रिटेनसे कितने थान आये
सं० १८७१	१२,६६,६०८	८,१८,२०८
सं० १८९२	३,५६,०८६	५,१७,७७,२७७

	भारतसे ब्रिटेन गये कपड़ेका मूल्य	ब्रिटेनसे आये कपडेका मूल्य
स० १८७२	१,९५,००,०००)	३,९४,५००)
सं० १८८९	१५,००,०००)	६०,००,०००)*

यह परिवर्त्तन हुआ कैसे? भारतका जगत्प्रसिद्ध वस्त्र-व्यवसाय किस प्रकार नष्ट किया गया, उसे कोई भारतीय जल्दी भूल नही सकता पर यहाँ उस करुण कथाको दुहरानेकी आवश्यकता नही है। इतना ही स्मरण रखना पर्याप्त है कि ब्रिटेनसे आनेवाले सूती और रेशमी कपड़ेपर ३॥) सैकडा और ऊनी कपडेपर २) सैकड़ा जकात ली जाती थी पर ब्रिटेनमे भारतके बने हुए सूती कपड़ेपर १०) सैकडा, रेशमी कपड़ेपर २०) सैकड़ा और ऊनी कपडेपर ३०) सैकड़ा जकात लगती थी।

---

* यह आँकड़े डा० अहमदकी ऐग्रेरियन प्राब्लेम इन इण्डियासे लिये गये हैं। यहाँ सुविधाके लिए पौण्ड पन्द्रह रुपयेके बराबर मान लिया गया है।

इस शोषणके और भी कई भयानक परिणाम हुए। अपने उद्योग-धन्धोंके नष्ट हो जानेपर भारतको हठात् कृषि-प्रधान देश बनना पड़ा। पहले वह केवल अपने खाने भरको अन्न उत्पन्न करता था। अब उसे बाहरसे आनेवाले मालका मूल्य चुकाना पडता है। इसलिए न केवल अन्न परन्तु अन्य वस्तुएँ भी बाहर भेजनेके लिए उत्पन्न करनी पड़ती थी। फिर भी पूरा नही पडता। देशमे जहाँ जो कुछ सोना पडा था वह खिचकर बाहर चला गया तब कही जाकर क्रय-विक्रयका हिसाब बराबर हुआ। अन्य देश सोनेका सञ्चय करते है पर भारत अपनी अर्थनीतिका आप विधाता नही था अत. वह सोना बाहर भेजता था। सोना कितना गया इसका अनुमान इसीसे हो सकता है कि स० १९८९ मे ५८ करोडका और १९९० मे उससे भी बढकर ६८ करोड़ ३० लाखका सोना गया। यह कहना अनावश्यक होगा कि इसका बडा भाग सीधे ब्रिटेन गया। जरा-सा कलम फेर देनेमे सरकार करोड़ोका वारा-न्यारा कर सकती है। भारतीय लोकमतका कहना यह था कि पौड और रुपयेके विनिमयमे सरकार-हस्तक्षेप न करे। पौण्डमे जितना सोना है और रुपयेमे जितना चाँदी है उसके हिसाबसे भाव आप ही ठीक हो जायगा। दो देशोके सिक्कोमे ऐसा ही होता है। पर यदि कुछ स्थिर करना ही है तो १ पौण्ड १५) के बराबर माना जाय। सरकारने ब्रिटिश हितोके रक्षार्थ जबर्दस्ती उसे १३।-) का मान लिया। स्वतन्त्र होनेपर भी भारत उस शोषण कालके बोझको ढो रहा है। अंग्रेजी राज्यके पहिले यहाँ लगभग आधे व्यक्ति कृषिमे लगे थे, अग्रेज़ी शासन कालमे कृषिपर निर्भर रहनेवालोकी संख्या ७५% तक पहुँची आज इसको घटानेका प्रयत्न हो रहा है पर अभी सफलता नही मिल रही है। पुराने व्यवसाय नष्ट हो गये, ऐसे नये व्यवसाय नही मिल रहे है जो समयानुकूल, अथच अर्थकर हो।

साम्राज्यवादी देश अपनी नीयतको साफ शब्दोमे नही व्यक्त करते। प्राय. यही कहते है कि यहाँके निवासी अपनी प्राकृतिक सम्पत्तिका उपयोग

नहीं कर रहे है । हम उसको मनुष्यमात्रके हितके लिए उपयोगमे लायेगे । और इन लोगोकी आर्थिक तथा सास्कृतिक उन्नति करेंगे । करनेको दोनो बातें की जाती हैं । जङ्गल कटने लगते है, खेती जोरोसे होने लगती है और खानें खुदने लगती है । शिक्षालय, नाटचशाला, सिनेमाहाल खुल जाते हैं । मूल निवासियोंको नये-नये शौक सिखाये जाते है ताकि वे अपने स्वामियोकी बनायी वस्तुओको मोल लें । इस बातका भी प्रयत्न किया जाता है कि उनके पास चार पैसा रहे ताकि वह बाहरसे आयी वस्तुओको मोल ले सके पर इस बातकी पूरी चेष्टा की जाती है कि वह कोई ऐसा व्यवसाय न करे जिससे उनके प्रभुओको क्षति पहुँच सके ।

दूसरे देशको अपने राज्यमे मिला लेना तो आर्थिक नियन्त्रणका प्रमुख और प्रत्यक्ष साधन है ही पर कभी ऐसा करना उचित नही प्रतीत होता । ऐसी अवस्थामे अप्रत्यक्ष साधनोसे काम लिया जाता है । एक साधन प्रभावक्षेत्रोका* स्थापित करना है । सं० १९७१ के महायुद्धके पहिलेका ईरान इसका अच्छा उदाहरण है । बिना ईरान सरकारसे पूछे रूस और ब्रिटेनने आपसमे समझौता करके देशको दो अधिकार क्षेत्रोमे बाँट लिया था । इसका तात्पर्य्य यह था कि उत्तर ईरानका आर्थिक शोषण रूस और दक्षिण ईरानका ब्रिटेन करे । उत्तरमे रूसने अपने हितोकी रक्षाके लिए सैनिक रख छोडे थे, दक्षिणमे ब्रिटेनने । दोनो मिलकर ईरान सरकारको दबा रहे थे कि अपनी पुलिस और सेनाका सुधार करो । इसका मतलब यह था कि पुलिस और सेना सुशिक्षित हो जाती और उनके अफसर अंग्रेज तथा रूसी होते । नामको राष्ट्रीय होते हुए भी वह इन विदेशियो-के इशारेपर नाचती । ईरान बेचारेने अपनी आर्थिक दशा सुधारनेके लिए एक अमेरिकन श्री शुस्टरको बुलाया पर यह बात अंग्रेज और रूस सरकारोको पसन्द न आयी । शुस्टरको लौट जाना पड़ा । उनकी लिखी

* Spheres of Influence.

'द स्ट्रैङ्गलिङ्ग आव पर्शिया' (फारसकी गलाघुँटाई) तत्कालीन अवस्थापर अच्छा प्रकाश डालती है। ईरानको इन्ही दोनो सरकारोसे ऋण लेनेके लिए विवश किया जा रहा था। इन्हीके रुपयेसे रेल चलती। तेलकी खानोका ठेका बडी ही सस्ती शर्तोपर एक अंग्रेज कम्पनीको दे दिया गया। इस प्रकार जकड जानेपर स्वतन्त्र कहलाता हुआ भी ईरान इन दोनोके हाथोसे कदापि न निकल पाता। परन्तु महायुद्धने उसे अवसर दे दिया। अग्रेज और रूस दोनो लडाईमे लग गये। युद्धके वाद रूसकी नयी समाजवादी सरकारने स्पष्ट कह दिया कि हम साम्राज्यशाहीके विरुद्ध है अतः ईरानमे हमारा कोई प्रभाव क्षेत्र नही है। अब अंग्रेजोके लिए कोई बहाना नही रह गया। इनको भी हटना पडा। ईरानके प्राण बच गये पर वह इस समय फिर सकटमे है।

तीसरा उपाय संरक्षण★ स्थापित करना है। सरक्षणका अर्थ यह है कि संरक्षित राज अपने आभ्यन्तर शासनमे तो स्वतन्त्र है किन्तु पर-राजोसे उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रह जाता। यह उसके संरक्षकके हाथमे रहता है। यह भीतरी शासनकी स्वाधीनता भी कागजी वस्तु है। इसमे अनेक प्रकारकी रुकावटें होती है। उसको सरक्षककी इच्छाके अनुसार सारा शासन चलाना पडता है। मिस्रमे इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। पिछले महायुद्धके छिडनेके समयतक मिस्र नामको तुर्क साम्राज्यका अङ्ग था। उसके नरेशकी उपाधि खदीव थी। युद्ध छिडनेपर अंग्रेजोके कहनेसे मिस्रने अपनेको स्वतन्त्र घोषित किया और तत्काल ही अंग्रेज़ोने उसे अपने संरक्षणमे ले लिया। नामको प्रत्येक विभागके ऊपर एक मिस्री मन्त्री होता था पर उसके साथ अंग्रेज़ परामर्शदाता लगे रहते थे। इनकी सलाह माननी पडती थी। पुलिस और सेनाके अफसर अंग्रेज़ थे।

★Protectorate.

और राज्यमे कई जगह अंग्रेजी सेनाकी छावनियाँ थीं। बहुतसे व्यवसाय अंग्रेज़ोके हाथमे थे और सरकार अंग्रेजी ऋणसे लदी थी।

संरक्षित राजोकी दो अवस्थाएँ हो सकती है। कभी-कभी तो वह संरक्षकके चंगुलसे निकल आते है। मिस्र इसका उदाहरण है। परन्तु बहुधा वह सरक्षकके कण्ठके नीचे ही उतरकर रहते है। जापानियोने पहले कोरियाको चीनके प्रभुत्वसे निकालकर स्वतन्त्र राज कहा, फिर अपने सरक्षणमे लिया और अन्तमे उसे जापानी साम्राज्यका अङ्ग बनाकर ही छोडा।

कभी-कभी संरक्षण भी नही स्थापित होता। जिस दुर्बल राजपर कुदृष्टि पड़ जाती है, उसको दबाकर यह अधिकार प्राप्त कर लिया जाता है कि हम तुम्हारे आय-व्ययका निरीक्षण किया करेगे। सयुक्तराज इस विद्यामे बडा निपुण है। उसके एक भूतपूर्व राष्ट्रपति मनरोने एक बार यह घोषणा की कि संयुक्तराज अमेरिका बाहरके किसी भी राजको किसी अमेरिकन राजके भीतरी शासनमे हस्तक्षेप न करने देगा, न अमेरिकामे भूमि प्राप्त करने देगा। इसको मनरो सिद्धान्त कहते है। कोई भी स्वतन्त्र राज इसको माननेके लिए बाध्य नही है पर आज पचासो वर्षसे सब इसे मानते आये है। इसकी आडमे संयुक्तराजको बहुत कुछ मनमानी करनेका अवसर मिल जाता है। उसका कहना यह है कि हम स्वाधीनताके प्रेमी है। अमेरिका जाइए तो पूर्वीय समुद्र तटपर स्वातन्त्र्यकी अधिष्ठात्री देवीकी विशालकाय मूर्ति दूरसे दिखलाई देती है। इसीके साथ इन लोगोका यह भी दावा है कि हम दूसरोकी स्वाधीनतामे भी हस्तक्षेप नही करते पर यह सब कहनेकी बाते है। इसी मनरो सिद्धान्तके सहारे संयुक्तराजकी साम्राज्यशाही खुलकर खेलती है। अमेरिकन महाद्वीपमे बहुत-से छोटे-छोटे राज है। उनमे आपसमे युद्ध भी होते रहते है तथा अन्य कारणोसे भी रुपयेकी आवश्यकता पड़ जाती है। कभी-कभी वह यूरोपियन महाजनोसे भी रुपया लेते है। बस संयुक्तराज ऐसे ही अवसरकी ताकमे रहता है।

वह कहता है कि तुम ऋण तो ले रहे हो पर इसे चुका नही सकते । मनरो सिद्धान्तके अनुसार हम यूरोपियन महाजनोको तुम्हारे यहाँ हस्तक्षेप करने देगे नही । अत. यह आवश्यक है कि हम तुम्हारा घर सँभाल दें । वह बेचारा बोल नही सकता । आप उसकी आर्थिक अवस्थाके निरीक्षक और अमात्य बन जाते है । आय यो बढायी जाय, व्यय यो कम किया जाय, महाजनको इतनी किस्त दी जाय, सब तय किया जाता है । इसके लिए उसको संयुक्तराजसे ऋण लेना पडता है और ऋण चुकानेके लिए अपनी आयका कोई विभाग, जैसे रेल या जंगल या जकात, कई वर्पके लिए सौप देना होता है । इस सबकी देख-भालके लिए संयुक्तराज वहाँ थोडी-सी सेना और एक-दो जहाज रखता है । नामको स्वतन्त्रतामे कोई अन्तर नही पडता, पर आर्थिक और उसके द्वारा राजनीतिक जीवन दूसरेके हाथमे चला जाता है। अमेरिकन साम्राज्यशाहीने स० १९५५ से १९७४ के भीतर किसी-न-किसी बहाने लगभग ९०,००० वर्ग कोस भूमिपर अधिकार प्राप्त किया है जिसपर २ करोडके लगभग मनुष्य बसे हुए है । जहाँ इटली जैसे देश खुलकर दूसरे देशोको गुलाम बनाना चाहते थे वहाँ अमेरिका सूक्ष्म उपायोसे काम लेता है । उसकी नीति यह है कि साँप मर जाय पर लाठी न टूटे । वह अपने शोषितोकी कागजी स्वतन्त्रता बनाये रखकर अपनी आत्माको शान्त कर लेता है । ऐसी अवस्थामे स्वतन्त्रताका क्या अर्थ होता है यह एक सरकारी कागजसे प्रकट होता है जिसको संयुक्तराजकी सरकारने तय्यार किया था । उसपर लिखा था 'गोप्य, केवल सरकारी कामके लिए' पर किसी प्रकार उसको निर्यारिग और फ्रीमैनने अपनी 'डांलर डिप्लोमैसी' मे उद्धृत किया है । इस कागजके अनुसार ऐसे रक्षित राजोके साथ की गयी सन्धियोमे जहाँ 'स्वतन्त्रता' का शब्द आता है उसका अर्थ यह नही है कि 'उनको अपनी इच्छाके अनुसार काम करनेका पूरा' अधिकार है वरन् इतना ही कि उनपर कोई ऐसी रुकावट नही है कि जिससे कि उनका अन्ताराष्ट्रिय अस्तित्व मिट जाय और सैद्धान्तिक क़ानूनी दृष्टिसे उनका

स्वभाग्य-निर्णयका अधिकार छिन जाय।' अतः ऐसी अवस्थामे स्वतन्त्रता 'सैद्धान्तिक और कानूनी वस्तु है, व्यवहारमे बरतनेके लिए नही।'

कभी-कभी आर्थिक निरीक्षणका रूप भी नही दिया जाता क्योकि इसमे भी निरीक्षित राजकी स्वाधीनतामे प्रत्यक्ष अन्तर पडता है और यह बात उसको खलती रहती है। ऐसे राज जिनका राज्य-विस्तार या नाम बडा है, इस प्रकार खुलकर अपनी स्वाधीनताको रुकवाना पसन्द नही करते पर युद्धसे थककर या किसी बलवान् पडोसीसे अपनी रक्षा करनेके लिए उन्हे रुपयेकी आवश्यकता पड़ती है। जो राज नये-नये स्वाधीन होते है उनको अपने विकासके लिए भी धनकी आवश्यकता होती है। पूँजीशाही देश इसकी प्रतीक्षा करते रहते है। यदि अवसर लग गया तो उससे बराबरीकी सन्धि करते है ताकि उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे और उसको यथेष्ट ऋण देते है। साथ ही यह शर्त भी करा लेते है कि कमसे कम इतने रुपयेका अमुक-अमुक प्रकारका माल प्रतिवर्ष हमारे देशसे मोल लिया जायगा, हमारे मालपर इतनेसे अधिक जकात न ली जायगी, इत्यादि। इसप्रकार ऋण देनेवाले देशके महाजनो और व्यवसायियों दोनो-को लाभ होता है और दीर्घकालके लिए एक शिकार हाथ लग जाता है।

कभी-कभी किसी देशके पूँजीपति किसी ऐसे देशमे धीरे-धीरे आप ही प्रवेश करने लगते है जिसमे प्राकृतिक सम्पत्ति, जैसे जङ्गल या कृषियोग्य भूमि या खान, बहुत है पर काममे नही लायी जा रही है। वह धीरे-धीरे इस सम्पत्तिपर कब्जा प्राप्त कर लेते है। कुछ आप मोल ले लेते है, कुछ वहीके कुछ निवासियोको रुपया देकर उनके नामसे ले लेते है। इसप्रकार देशके आर्थिक जीवनपर क्रमश. उनका अधिकार हो जाता है। उनकी सरकार उनकी पीठपर रहती है पर जबतक शोषित देश चुप रहता है तबतक आप भी कुछ नही बोलती। एशियामे कई जगह ऐसा ही किया गया। चीनके साथ ब्रिटेन, फ्रान्स, सयुक्त राज और जापान सभी ऐसा करना चाहते थे। परन्तु यदि वह देश अपने जीवनको आप सँभालना और

शोषणका अन्त करना चाहे तो फिर शोषक पूँजीपतियोकी सरकार सामने आती है और साम्राज्यशाहीका नग्नरूप देख पड जाता है। जापान और चीनके निरन्तर संघर्षका यह भी एक रहस्य था। मेक्सिको सयुक्तराजके दक्षिण पडता है। उसके आर्थिक जीवनको इसी प्रकार संयुक्तराजके पूँजी-पतियोने अपने हाथमे कर रखा था। मेक्सिकोके राजनीतिक दलोके मिथः-कलहके कारण न कोई बलवती सरकार होने पाती थी, न कोई रोक-टोक करता था। पर जब कराञ्जा मेक्सिकोके राष्ट्रपति हुए तो उन्होने देश-को सँभाला। उसका शासनविधान भी बदल गया। इस नये विधानकी २७ वी धारा कहती है—

(क) कोई विदेशी कम्पनी या व्यक्ति बिना अपने देशकी नागरिकताका त्याग किये और मेक्सिकोका नागरिक बने मेक्सिकोमे किसी खान, तेलके कुएँ, भूमि या मकानको हासिल न कर सकेगा या यदि ऐसी सम्पत्ति उसके कब्जेमे हो तो उसे न रखने पायगा।

(घ) किसी भी दशामे कोई विदेशी व्यक्ति या कम्पनी अपने देशकी सीमासे ३० कोसके और समुद्र तटसे १५ कोसके भीतर भूमि या जलपर स्वाम्य हासिल न कर सकेगी और यदि ऐसी भूमि या जलपर क़ब्जा होगा तो वह उसे रखने न पायेगी। (यह धारा इसलिए रखी गयी कि यह विदेशी लोग देशपर आक्रमण करनेवाली जल या स्थल सेनाकी सहायता न कर सके।)

(च) स० १९३३ के बाद प्राकृतिक सम्पत्तिपर कब्जा हासिल करनेके सम्बन्धमे जितने ठेके हुए है उन सबपर वर्तमान सरकार पुनः विचार करेगी और उसको यह अधिकार दिया जाता है कि उचित समझे तो उन्हे रद्द कर दे।

इस प्रकारकी धाराओसे अमेरिकन साम्राज्यशाहीकी भारी क्षति हुई। सरकार पूँजपतियोकी ओरसे खडी हो गयी। सैनिक प्रदर्शन हुआ। खुलकर कोई युद्ध नही हुआ पर भीतर-भीतर अबतक तनाव जारी है।

साम्राज्यशाहीके पास बहुतसे हथकण्डे है। एक ओर स्वाधीनोंको दास या अर्द्धदास बनाया जाता है, दूसरी ओर दासोको स्वतन्त्र बनानेका नाटक किया जाता है। चीन और जापान दोनो ही राष्ट्रसंघके सदस्य थे पर जापानने बिना किसी भी न्याय्य कारणके चीनका ईशानकोणस्थ मंचूरिया प्रान्त हस्तगत कर लिया। इस खुली लूटके सामने किसीने चीनकी सहायता न की। परन्तु मंचूरियापर कब्जा करके जापानने एक नया स्वाग रचाया। उसने उसको 'स्वतन्त्र' कर दिया। उसका नाम मञ्चुकुओ पड गया और चीनके निकाले सम्राट् उसके सम्राट् बना दिये गये। इम 'स्वतन्त्र' देशसे जापानने सन्धियाँ की। मञ्चुकुओकी सेनाके अफसर जापानी थे और उसका सारा नियन्त्रण जापान करता था। शासनके सभी विभागोमे मञ्चू मन्त्रियोके साथ जापानी अमात्य लगे हुए थे जिनका परामर्श आज्ञाकी शक्ति रखता था। देशके सभी उर्वर भागोमे जापानी बस गये और खानोके ठेके जापानियोके हाथमे आ गये। मञ्चुओका समस्त आर्थिक और राजनीतिक जीवन जापानके हाथमे था फिर भी वह स्वतन्त्र कहलाता था। इसमे जापानको कई लाभ थे। एक तो शासनका खर्च अपने ऊपर नही आता था। दूसरे, जापानी साम्राज्यशाहीकी तृष्णा अभी तृप्त नही हुई थी। मंचूरियाकी दक्षिणी सीमापर चीनी अधिकारियोसे जो झगडे होते थे उनमे मञ्चुकुओको आगे कर देता था और अपने नामसे जहाँतक हो सके झगडे बचाता था, यद्यपि बादमे अवसर देखकर वह खुल्लमखुल्ला उलझ ही पडा। सबसे बडी बात यह थी कि मचुकुओके ठीक उत्तर रूस है। सीमापर जापान और रूसके हित टकराते और झगडे आये दिन खडे रहते थे। उधर भी मचुकुओकी सरकार आगे कर दी जाती थी। ,महायुद्धके बाद चीन और जापानकी परिस्थितियोमे जो अन्तर पड गया उससे इस प्रश्नका स्वत अन्त हो गया।

यह कहना अनावश्यक है कि इस प्रकारका नियन्त्रण शोषित देशके लिए बुरा है। यदि कुछ राष्ट्र मिलकर निष्पक्ष और मित्रभावसे किसी

पिछडे राष्ट्रके अभ्युदयमे सहायता देना चाहे तो और बात है, पर ऐसा होता नही। कोई-न-कोई बलवान् राष्ट्र किसी दुर्बलके कन्धोंपर ही सवार होता है। यह हो सकता है कि दस डाकुओके हाथो लुटनेसे एक डाकूके हाथ लुटना श्रेयस्कर हो। इस नीतिसे एक बलवान् राष्ट्रके पल्ले बँधे दुर्बल राष्ट्र भाग्यवान् माने जा सकते है पर इसका मूल्य उनको बहुत देना पडता है। उनका व्यक्तित्व मिट जाता है और यदि उनका प्रभु या संरक्षक किसी युद्धमे फँस गया तो उनको भी व्यर्थ उसके साथ पिसना पडता है।

पर इन बातोसे बढकर यह बात है कि साम्राज्यशाहीका भविष्य अन्धकारपूर्ण है और उसके साथ ही पृथ्वीका भविष्य भी भयावह है। पहिले तो अफ्रीकाका बहुत-सा भाग यूरोपवालोके सौभाग्यसे खाली पडा था। खालीका अर्थ यह नही है कि वह जनशून्य था वरन् इतना ही कि वहाँके निवासी बर्बर थे अर्थात् यूरोपवालोका सामना करनेमे असमर्थ थे। इसलिए जब जिमको अवसर मिला उसने अफ्रीकाका उतना भाग दबा लिया। एशिया महाद्वीपकी अवस्था ऐसी न थी। यहाँके अधिकाश देश दुर्बल भले ही पडते हो पर बर्बर नही थे। अफ्रीकामे यूरोपियन बस सकते थे। वहाँ उन्होने उपनिवेश बसाये। एशियामे बसना सम्भव नही था। यहाँके देश अर्द्ध-उपनिवेश रह गये। शोषण एशिया और अफ्रीका दोनोका हुआ पर प्रकारमे भेद था।

अब अवस्था बहुत कुछ बदल गई है। कई देश जो अबतक शोषित थे, धीरे-धीरे सँभल गये है। राजनीतिक परिस्थितियोकी सहायतासे उनको अपने पाँवपर खडे होनेका अवसर मिल गया है। जो राजनीतिकी दृष्टिसे स्वतन्त्र नही है, उनमे भी राष्ट्रीय चेतना जाग रही है। स्वयं साम्राज्यशाहीने अपने निर्दय शोषणसे उनको जगाया है पर अब उनका शोषण कठिन होता जाता है। पर ज्यों-ज्यो शोषणका क्षेत्र संकुचित होता जाता है त्यो-त्यो साम्राज्यवादियोकी लिप्सा बढती जाती है। आपसकी प्रतियोगिता और तीव्र होती जाती है। ऐसा माना जाता है कि बलवान् राज, अर्थात् वह राज जिनकी

पूँजीशाही विकसित है,दो वर्गोमे विभक्त है। कुछ तृप्त★ है और शेष अतृप्त† है। तृप्त वह है जिनके पास पर्याप्त उपनिवेश है, अतृप्त वह है जिनके पास उपनिवेशोकी कमी है। तृप्त राजोका उत्कृष्टतम उदाहरण ब्रिटेन है, इटली, जापान और जर्मनी, वर्तमान युद्धके पहिले अतृप्तोमे अग्रगण्य थे। पर यह विभाग स्थायी नही हो सकता। पहिले तो तृष्णा कभी जीर्ण नही होती। ब्रिटेनके पूँजीपतियोके द्वार बन्द होते जा रहे है। कई बाजार उसके हाथसे निकल गये इसलिए मुँहसे नही-नही कहते हुए भी वह सदैव अतृप्त रहता है। आज जो राज इतने पिछडे हुए है कि उनकी गिनती अतृप्तोमे भी नही हो सकती वह कल उन्नत हो सकते है। उनकी जन-संख्या बढ सकती है, उद्योग-व्यवसाय बढ सकता है। फिर उन्हे भी उप-निवेशोकी आवश्यकता प्रतीत होने लगेगी। अतः वस्तुत तृप्त तो कोई नही है पर जिनके पास बहुत उपनिवेश या अर्द्ध-उपनिवेश है वह अवश्य यह चाहते है कि अब यह होड बन्द हो जाय क्योकि उनको यह डर है कि उनका वशवर्ती भू-भाग कही हाथसे निकल न जाय। दूसरी ओर अतृप्तोकी संख्या बढती जा सकती है।

पहिले तो गोरी जातियाँ रंगी जातियोके देशोको ही अपना देव निर्मित शिकार समझती थी पर अब तो उनको अगत्या एक दूसरेपर भी वक्र-दृष्टि डालनी पडती है। लडाईके बाद जर्मनीको पंगु करके उससे युद्धका हर्जाना लेनेके लिए जो आयोजन किया गया था‡ वह शोषणका नग्नरूप था। उसका निचोड यह था (क) जर्मनी तम्बाकू, शक्कर, शराब और जकातकी आयसे १ अरब २५ करोड स्वर्णमार्क प्रति वर्ष दिया करे। (ख) इसके अतिरिक्त रेलो, यातायातके अन्य साधनो तथा व्यवसाय-

---

★ Satiated Powers. † Un-satiated Powers. **इनको कभी-कभी** Haves **और** Have-nots **भी कहते हैं।**

‡ Dawes' Plan.

व्यापारकी आयसे २ अरब ५० करोड स्वर्ण मार्क दिया जाय। यह रकम जो (ख) के अन्तर्गत है सं० १९८५ तकके लिए थी। इसके बाद यदि जर्मनीकी आय बढे तो उसी अनुपातसे यह रकम भी बढायी जाय। जैसे यदि किसी वर्ष जर्मनीकी आय १९८४ की आयसे २०% बढ जाती तो उस साल उसको २५० करोड + २५० का २०% देना पडता। तमाशा यह है कि इतनी बडी-बडी रकमे तो माँगी गयी पर कोई अवधि नही रखी गयी कि जर्मनी कबतक देता रहे।

यह महात्त्वाकाक्षाएँ कैसे पूरी होगी ? इसका एक उपाय—और वही सबसे सीधा है—युद्ध है। प्रत्येक राज युद्धकी तैयारीमे लगा रहता है। जिस रुपयेसे लोकहितके हजारो काम होते वह रण-सामग्रीपर बहाया जाता है। पचीस वर्षोमे दो महायुद्ध लडे जा चुके और तीसरेकी तय्यारी है। विजयी राजोमेसे न कोई अपना साम्राज्य छोडना चाहता है, न कोई सेना कम कर रहा है।

यह गृहदाह कैसे बच सकता है ? इटली-अबिसीनिया युद्धके समय ब्रिटिश सरकारके परराष्ट्र सचिव सर सैमुएल होरने एक उपाय उपस्थित किया था। उनका कहना था कि बाजारो और कच्चे मालके उत्पत्ति-स्थानोका आपसमे न्यायपूर्ण बँटवारा किया जाय। यह बात सुननेमे अच्छी लगती है पर इसका अर्थ क्या है ? इटलीकी ओरसे तत्काल ही इसका खोखलापन दिखला दिया गया। न्यायपूर्ण बँटवारेका तरीका तो यह है कि आवश्यकताके अनुसार सबको उपनिवेश दिये जायँ या सब उपनिवेशोमे सबका समान अधिकार हो। परन्तु किसकी कितनी आवश्यकता है इसका निर्णय कैसे होगा ? फिर जिनके पास उपनिवेश है यदि वह उन्हे दूसरोको दे देंगे या सब उपनिवेशोमे सबको समान अधिकार होगा तो फिर उप-निवेश रखनेका उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। उपनिवेश तो व्यावसायिक एकाधिकारके लिए होते है। यदि एकाधिकार न होगा तो पूँजीपतियोकी तुष्टि कैसे होगी ? अतः जैसा कि इटलीकी सरकारकी ओरसे कहा गया

था, न्यायपूर्ण बँटवारेसे सर सैमुएल होरका इतना ही तात्पर्य हो सकता था कि जिनके पास इस समय उपनिवेश है वह जिनके पास नही है उनके हाथ कच्चा माल बेचा करे और अपने बाजारोमे उनको भी कुछ माल बेचने दें। पर ऐसा तो अब भी न्यूनाधिक होता ही है। इससे अतृप्तोकी तृप्ति नही हो सकती क्योकि उपनिवेशोके प्रभु जब चाहेगे कच्चा माल रोक देंगे और बाजार बन्द कर देगे।

इन सब उपायोमे एक और बडा दोष है परन्तु साम्राज्यवादी सरकारे स्वभावतः उसकी ओर ध्यान नही देती। इनके सफल होनेके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि पृथ्वीपर कुछ ऐसे देश सदैव बने रहे जो अपनी प्राकृतिक सम्पत्तिका स्वत उपयोग न करे, जिनके निवासी राजनीति दृष्ट्या परतन्त्र और अर्थनीति दृष्ट्या शोपित बने रहनेको सदैव तैयार रहे, जो भेड-बकरियोकी भाँति नि सङ्कोच अपने स्वामी बदला करे। गोरी जातियाँ समझती थी कि रङ्गीन जातियाँ इसीलिए बनायी गयी है। वह ऐसा नही मानती कि रङ्गीनोको आत्मनिर्णयका अधिकार है। परन्तु कालकी गति कुछ और ही है। बहुत-सी रङ्गीन जातियाँ पिछले दस वर्षोमे स्वतन्त्र हो गयी। शेष स्वातन्त्र्यके पास पहुँच चुकी है। जो स्वतन्त्र होते हुए भी दुर्बल थी वह बलवान् होती जा रही है। साम्राज्यशाहीका आसन हिल चुका है। यह अवस्था कबतक रहेगी नही कह सकते। यदि वह परिस्थितियाँ बनी रही जिनमे पूँजीशाही पनपती है तो साम्राज्यशाहीका फिर उदय हो सकता है। जो आजतक शोपित थे उनमे भी शोषणका शौक जाग सकता है।

तेरहवाँ अध्याय

निजी सम्पत्ति

हम पहलेके अध्यायोमे लिख आये हैं कि समाजवादी जब आजकलके जगत्‌की दुरवस्थाका निदान करने चलता है तो उसे इसके मूलमे दो-तीन मुख्य रोग मिलते है। इनमे हमने वर्गसंघर्ष और उत्पादनके साधनोपर निजी स्वत्वका जिक्र किया है। उत्पादनके साधनोपर निजी स्वत्वका ही परिणाम पूँजीशाही और पूँजीशाहीका अन्ताराष्ट्रिय परिणाम साम्राज्य-शाही है। इसीलिए इन दोनो विषयोपर विचार करना आवश्यक था। अब थोडा-सा विचार निजी सम्पत्तिके सम्बन्धमे भी करना जरूरी है क्योकि वस्तुत. उसका सम्बन्ध भी उत्पादनके साधनोपर निजी स्वत्वसे ही है।

लोगोमे ऐसी धारणा फैली हुई है कि समाजवादी निजी सम्पत्तिके विरोधी है। लोग समझते है कि यदि समाजवादियोके हाथमे अधिकार आ जाय तो वह धनवानोकी सारी सम्पत्ति छीनकर निर्धनोमे बाँट देंगे और किसीके पास किसी दूसरेसे अधिक सम्पत्ति न रहने देगे। इसी कारण साम्यवाद—सबको बराबर धन बाँटनेवाला वाद—नाम पडा था। पहले तो इन दोनो धारणाओमे विरोध है। यदि समाजवादी निजी सम्पत्तिके विरोधी है तो वह बराबरका बँटवारा भी न करेंगे। दूसरे, इस बँटवारेसे कोई लाभ नही हो सकता। चार दिनमे फिर कोई धनिक, कोई निर्धन हो जायगा। फिर, समाजवादका उद्देश्य थोडेसे लोगोको गिराना नही है, वह सबको उठाना चाहता है। यह उद्देश्य एक बार धनिकोको लूटनेसे सिद्ध न होगा। एक कहानी है कि एक बार बैरन राथ्सचाइल्डके पास, जो अपने समयमे पृथ्वीके सबसे अमीर आदमियोमे थे, दो व्यक्ति आये। वह अपनेको

समाजवादी कहते थे । उन्होने कहना आरम्भ किया कि तुमको इतना धन जमाकर रखनेका कोई अधिकार नही है । यह सम्पत्ति गरीबोको लूटकर एकत्र की गयी है और मनुष्यमात्रमे बँट जानी चाहिए । राथ्सचाइल्ड चुपचाप सुनते जाते थे और कागजपर कुछ गणना करते जाते थे । जब उनकी गणना समाप्त हुई और यह दोनो आगन्तुक भी बोलकर थक चुके तो उन्होने दोनोके सामने दो-दो पैसे रख दिये । वह बोले यह क्या ? राथ्सचाइल्डने उत्तर दिया—'मै अभी यह हिसाब लगा रहा था कि यदि मेरी सारी सम्पत्ति पृथ्वीके मनुष्योमे बाँट दी जाय तो प्रत्येकके हिस्सेमे कितना आयगा । गणनासे दो पैसा आता है । आप अपना भाग ले जाइए, शेष लोग आवेगे तो उन्हे भी दे दूँगा ।' वह लोग कुढकर उठ गये । कहानी सच्ची हो या झूठी पर ऐसा बँटवारा समाजवादी बँटवारा न होगा ।

निजी सम्पत्तिमे जो वस्तुएँ परिगणित है उनकी सूची बडी लम्बी है । घर, अन्न, वस्त्र, बाग, सवारी, बैल, भेड, दूकान, रुपया, कारखाना, जहाज, रेल, सभी निजी सम्पत्ति हो सकती है । परन्तु यह निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता कि किस-किस प्रकारकी वस्तुओको निजी सम्पत्तिमे गिनना चाहिए । यह देशकाल भेदसे बदलती रहती है । कभी मनुष्योको गुलाम रखकर उनको सम्पत्ति मानते थे । अपनी स्त्री और बच्चोको भी सम्पत्ति माननेकी प्रथा थी । प्रथा हो या न हो बहुतसे पुरुष स्त्रियोको सम्पत्तिकी दृष्टिसे देखते है । पिताकी सम्पत्तिपर सामान्यत हिन्दुओ या ईसाइयोमे लडकीका स्वत्व नही होता, मुसलमानोमे होता है । रूसमे कल-कारखानोके व्यक्तियोको निजी सम्पत्ति नही मानते । उससे यह स्पष्ट है कि सम्पत्तिके सम्बन्धमे कोई अकाट्य दैवी या प्राकृतिक नियम नही है । जिस जगह और जिस समय जैसा लोकमत होता है और तत्कालीन क़ानून जिसको स्वीकार कर लेता है वही वस्तु निजी सम्पत्ति हो सकती है । अतः प्रत्येक जन-समूह इस प्रश्नपर स्वतन्त्र

विचार करनेका अधिकार रखता है और मौलिक सिद्धान्तोके आधारपर तथा लोकहित दृष्टिसे यह निश्चित कर सकता है कि किन वस्तुओको निजी सम्पत्तिमे गिना जाय। जो लोग निजी सम्पत्तिकी पवित्रताकी दुहाई देते है उन्हे यह स्मरण रखना चाहिए कि निजी सम्पत्तिका आधार राजकी स्वीकृति है। जैसा कि हाब्सने कहा था 'अधिकार उस माँगको कहते है जिसको राज स्वीकार करता है।' यदि आजकलके सभ्य राजोने पहलेकी अपेक्षा बहुत-सी वस्तुओको निजी सम्पत्तिकी सूचीसे निकाल दिया है तो भविष्यत्के राज भी ऐसा कर सकते है।

जो वस्तुएँ निजी सम्पत्तिमे गिनी जाती है उनकी तालिकापर दृष्टि डालनेसे प्रतीत होता है कि वह दो प्रकारकी है। कुछ तो ऐसी है जो उपभोगकी सामग्री है, शेष ऐसी है जिनसे अर्थोपार्जन अर्थात् उत्पादनमे सहायता मिलती है। घर, अन्न, वस्त्र भोग्य वस्तुएँ है; खेत, कल-कारखाने, रुपया उत्पादनके साधन है यद्यपि रुपया भोग्य-प्राप्तिका भी साधन है।

जहाँ तक भोग्य वस्तुओका सम्बन्ध है समाजवादियोका और लोगोसे कोई सैद्धान्तिक मतभेद नही है। अन्न, वस्त्र, पढ़नेकी पुस्तकें, गाने-बजानेकी सामग्री, पलंग, बिस्तरा, कुर्सी, चौकी, मेज, लम्प इत्यादिको निजी सम्पत्ति माना जा सकता है। बाइसिकिल, मोटर, घोडेको भी निजी सम्पत्ति मानना चाहिए। घरके सम्बन्धमे कुछ मतभेद है। कुछ लोगोकी सम्मति है कि मकान सार्वजनिक सम्पत्ति रहे। पर इन सब भोग्य वस्तुओके सम्बन्धमे भी एक आवश्यक बात ध्यान देने योग्य है। भोगकी भी मात्रा होती है। किसीको इतना बड़ा मकान रखनेका अधिकार नही हो सकता जिसका वह उचित उपभोग नही कर सकता। इसी प्रकार कोई अनुचित मात्रामे अन्न वस्त्रादिका भी संग्रह नही कर सकता। क्या अनुचित है और क्या उचित इसका निर्णय वही कर सकता है जो सबसे तटस्थ और सबके ऊपर हो, अर्थात् राज। अतः यद्यपि भोग्य वस्तुएँ निजी सम्पत्ति हो सकती है पर इस प्रकारकी सम्पत्तिपर भी राजका नियन्त्रण रहना परमावश्यक है।

इसलिए समाजवादियोंमें एक कहावत प्रचलित है : जब तक सबको रोटी न मिल ले तब तक किसीको मालपुआ नही मिल सकता। राजको यह देखना पडेगा कि ऐसा न हो कि कुछ लोगोके पास भोग्य वस्तुओका भण्डार जमा हो जाय और दूसरे लोग नंगे, भूखे सडकोंपर मारे-मारे फिरें। जब तक ऐसी सामग्री कम है तबतक सबको ही थोडा-थोडा कष्ट सहना पडेगा। युद्धकालमे असमाजवादी सरकारें भी विवश होकर परिसीमन★ करती है। उनको यह तय कर देना पडता है कि कोई व्यक्ति इतनेसे अधिक अन्न या शक्कर या घी नही रख सकता। इस आज्ञाका उल्लंघन करनेपर कठोर दण्ड दिया जाता है। इस 'राशन' पद्धतिका हम लोगोको प्रत्यक्ष अनुभव है। परन्तु आवश्यकता इस बातकी है कि शान्तिकालमे भी इसका नियन्त्रण किया जाय। रूसकी सरकार कुछ साल पहले रोटीका परिसीमन करती थी पर अब इसकी आवश्यकता नही रही, लोग जितना चाहे रख सकते है। अधिकाश सभ्य देशोमे इस ओर तनिक भी ध्यान नही दिया जाता। जिसके पास पैसा हो वह चाहे जितना बडा भण्डार जमा कर सकता है, चाहे उसी समय दूसरे लोग उन वस्तुओके लिए व्याकुल हो रहे हो। आजकल जो अशान्ति छायी हुई है उसका एक बडा कारण यही है। लोग दूसरेकी अपार धनराशिको सन्तोषपूर्वक देख सकते है पर अपने पास आवश्यक भोग्य-सामग्रीका अभाव असह्य हो उठता है।

अब उस सामग्रीको लीजिए जो उत्पादनकी साधक हो सकती है। इसको निजी सम्पत्ति माननेसे जो हानि हो रही है उसका पर्याप्त वर्णन पिछले कई अध्यायोमे आ चुका है। भूमि, बङ्क, रेल, पुतलीघरको निजी सम्पत्ति माननेसे ही पूँजीवाद और साम्राज्यवाद या पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीका समुदय हुआ है। अतः यदि आगेके लिए इस विपत्तिसे बचना है तो 'उत्पादन, वितरण और विनिमयके मुख्य साधनोको सार्वजनिक

★ Rationing.

सम्पत्ति ही मानना ठीक है। कोई कृषक चाहे तो फूल-तरकारी बेच सकता है, कोई कारीगर चाहे तो अपने हाथसे चीजे बनाकर बेचे पर कारखाना न बनाने पाये। श्रम अपना हो, दूसरेका नही।

तीसरी वस्तु जो निजी सम्पत्ति होती है, रुपया है। रुपया भोग्य-वस्तुओका प्रापक भी है और पूँजीके रूपमे उत्पादनका भी साधक है। जहाँतक रुपयेसे भोग्य-वस्तुओको प्राप्त करनेका काम लिया जाता है वहाँ-तक उसको निजी सम्पत्ति माननेमे कोई हानि नही है पर उसको पूँजीके रूपमे नही लगने दिया जा सकता।

इस प्रश्नपर एक और दृष्टिसे विचार करना चाहिए। किसीके पास सम्पत्ति कहाँसे आती है? इसके दो ही मुख्य द्वार है। या तो मनुष्य कमाकर उसे प्राप्त करता है या अपने पूर्वजोसे पाता है। परन्तु 'कमाने'का क्या अर्थ है? जो मनुष्य अपने शरीर या मस्तिष्कसे श्रम करता है वह कमानेवाला कहा जा सकता है पर ऐसी दशामे तो यह होना चाहिए कि जो जितना ही श्रम करे उसके पास उतनी ही सम्पत्ति हो। इसी प्रकार यह होना चाहिए कि जो जितना ही मितव्ययी हो उसके पास उतनी ही सम्पत्ति अधिक हो पर ऐसा होता नही। श्रम करके किफायतसे व्यय करनेवालोके पास बहुत कम सम्पत्ति होती है, श्रम न करनेवाले, जो दोनो हाथों रुपया लुटा सकते है, बहुधा सम्पन्न होते है। क्या किसी बडी कम्पनीका मैनेजिंग डाइरेक्टर या मैनेजिग एजेण्ट बहुत श्रम करता है? वह जो रुपया जमा करता है वह किस बातका पुरस्कार है? क्या ऐसा माना जा सकता है कि वह बुद्धिसे श्रम करता है? यदि ऐसा है तो यह मानना होगा कि उसकी बुद्धि बडी ही तीव्र होती है, पर क्या डाइरेक्टरकी बुद्धि गणितके अध्यापककी बुद्धिसे तीव्र होती है? यदि नही तो गणितके अध्यापकको उतना रुपया क्यो नही मिलता? यह सब प्रश्न विचारणीय है। विचार करनेसे हम इसी परिणामपर पहुँच सकते है कि जो बडी आमदनियाँ हैं, जिनके आधारपर बड़ी सम्पत्तियाँ एकत्र की जाती है, वह

श्रम मात्रका पुरस्कार नहीं है। पूँजीशाही पद्धति, दूसरोके श्रमसे अनुचित लाभ उठाना, परहितका हनन करना, महाभारतके शब्दोमे 'पर मर्मको छेदन करना' ही ऐसी आमदनियो और सम्पत्तियोके जमा होनेको सम्भव बनाता है। जो लोग सम्पत्ति जमा करते हैं उनको सारे राष्ट्रसे सहायता मिलती है। राज उनके व्यापार-व्यवसायकी सुविधाके लिए सड़क बनवाता है, रेल चलाता है, पुलिस और सेना रखता है। उनके हितके साधक कानून बनाये जाते है। आवश्यकता पड़नेपर उनकी ओरसे दूसरे राजोसे लडाईतक की जाती है। यह भी जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके है, निश्चित है कि यह सम्पत्ति सहस्रो मनुष्योके शरीरो और मस्तिष्कोके श्रम-का फल है। अतः कोई एक व्यक्ति इसका स्वामी नही माना जा सकता। जहाँ उत्पादनके साधन सार्वजनिक सम्पत्ति होगे वहाँ तो ऐसी बडी आम-दनी और सम्पत्ति जमा हो ही नही सकती, पर जहाँ ऐसा न हो वहाँ भी पूँजीपतियोकी आयका बहुत बडा भाग टैक्सके रूपमे राजकोषमे जाना चाहिए ताकि राजने उसके संग्रहमे जो सहायता दी है, उसकी क्षतिपूर्ति हो जाय और शिक्षा, स्वास्थ्यरक्षा आदिपर खर्च होकर यह रुपया उन सहस्रो मनुष्योंके पासतक पहुँच जाय जिन्होने उसको वस्तुतः पैदा किया था। इस नियन्त्रणके साथ लोगोको अपनी कमायी हुई सम्पत्तिको रखने और भोगनेका अधिकार हो सकता है।

अब पैतृक सम्पत्तिपर विचार कीजिए। आजकल जब कि यह निश्चय नही है कि कौन कमा सकेगा और कौन बेकार भिखारी बनकर घूमेगा, यह स्वाभाविक-सी बात है कि लोग अपने लडके-बच्चोके लिए सम्पत्ति छोड़ना चाहे। इसमे कोई सिद्धान्तकी बात नही है। लडकोका पिताकी सम्पत्तिपर कोई प्राकृतिक हक नही है, जो श्रम करे वह सम्पत्तिका उपभोग करे यह बात समझमे आ सकती है। पर बिना श्रम किये ही किसीको भोग-सामग्री मिल जाना तो अनुचित है। यदि किसी व्यक्ति विशेषका पुत्र होनेसे एक मनुष्य सम्पत्ति भोगनेका अधिकारी हो सकता है तो दूसरा

मनुष्य मन्त्रीका पुत्र होनेसे मन्त्री, सेनापतिका पुत्र होनेसे सेनापति, कविका पुत्र होनेसे कवि या गणितके पण्डितका पुत्र होनेसे गणितका पण्डित हो सकता है। पर ऐसा कोई नही मानता। सम्पन्नकी सम्पतिपर उसके पुत्रका अधिकार भी उतना ही निराधार है। वस्तुतः मरनेपर सम्पत्ति सार्वजनिक हो जानी चाहिए। यदि सबको काम देने और भरण-पोषणका भार राज अपने ऊपर ले ले तो पिताकी सम्पत्ति पुत्रको मिलनेकी कोई आवश्यकता नही है। सम्पन्न पिताकी सन्तान होनेसे उसको यो ही कई प्रकारका फायदा पहुँच चुका होगा। पर जबतक राज इतना दायित्व अपनेपर नही लेता तबतक पैतृक सम्पत्तिकी प्रथा भी रहेगी। फिर भी नियन्त्रण करना होगा। जितनी सम्पत्ति कोई व्यक्ति छोड जाय वह सबकी-सब उसके लडकोको मिले यह कोई आवश्यक बात नही है। यूरोपकी असमाजवादी सरकारे भी इस बातको मानती है। कई देशोमे मृत्यु कर★ या उत्तराधिकार कर† लिया जाता है। जब कोई मरता है तो उसके उत्तराधिकारियोको उसकी छोडी हुई सम्पत्तिपर एक विशेष टैक्स देना पडता है। सम्पत्ति जितनी ही अधिक होती है, टैक्सकी दर भी उतनी ही ऊँची होती है। इस नियन्त्रणके साथ पैतृक सम्पत्तिका भी उपभोग किया जा सकता है। रूसमे ही इस समय समाजवादी शासनका प्रयोग हो रहा है। वहाँ इन बन्धेजोके साथ निजी सम्पत्ति भोगनेकी व्यवस्था है। भारत भी इसी मार्गपर आरूढ है।

हमने सम्पत्तिके दो भेद किये है भोग्य और उत्पादक। कुछ लोग भोग्यको वैयक्तिक[1] और उत्पादकको निजी[2] सम्पत्ति कहते है। उनकी शब्द योजनाके अनुसार वैयक्तिक सम्पत्ति उचित और निजी सम्पत्ति अनुचित है।

सम्पत्तिके सम्बन्धमे समाजवादियोका जो मन्तव्य है वह ऊपर कही

★Death duties †Succession tax. 1. Personal 2. Private.

हुई बातोंसे स्पष्ट हो जाता है। उनका विश्वास है कि उत्पादक सम्पत्ति वस्तुतः सामाजिक सम्पत्ति है अर्थात् उसके उत्पादनमे सारे समाजका हाथ रहा है। अत. वह चाहते है कि ऐसी सम्पत्ति सार्वजनिक रहे। इसके साथ ही वह चाहते है कि भोग्य सम्पत्तिकी खूब वृद्धि हो। किसी मनुष्यको भोजन, वस्त्र, घरका अभाव न हो, सबका जीवन सुखमय हो, सबको विद्योपार्जन, ललितकलाऽस्वाद, अपनी रुचिके अनुसार दर्शन, विज्ञान, राजनीतिके गूढ प्रश्नोपर विचार करनेकी फुर्सत प्राप्त हो। पर यह तभी हो सकता है जब उत्पादक सामग्री सार्वजनिक हो और सबको लाभ पहुँचाये। आज ऐसा नही है। इसीलिए इतनी अशान्ति है। जो नंगे, भूखे, अनिकेतन है वह धनिकोकी अट्टालिकाओ और धन-धान्यपूर्ण भण्डारोको सतृष्ण एव सक्रोध दृष्टियोसे देखते है। उनकी तृष्णा स्वाभाविक और क्रोध न्याय्य है। जबतक यह वैषम्य रहेगा तबतक शान्ति नही हो सकती। ऐसे लोगोको लक्ष्य करके ही तो संस्कृतके किसी कविने कहा है—

अशन वसनं वासो, येषाञ्चैवाव्यवस्थितम् ।
मगधेन समा काशी, गङ्गाऽप्यङ्गार-वाहिनी ॥

(जिसके भोजन, वस्त्र और निवासकी व्यवस्था नही है उसके लिए काशी मगधके समान है और गङ्गामे शीतल जलके स्थानमे अङ्गारोकी धारा बहती है।)

हम ऊपर कह आये है कि समाजवादी इस बातके विरोधी नही है कि भोग्य वस्तुएँ लोगोकी वैयक्तिक सम्पत्ति बनें। यह बात व्यवहारकी दृष्टिसे तो ठीक है पर सिद्धान्तसे नही। अभी तो बहुत दिनोतक ऐसा ही होगा कि समाजवादी देशोमे भी लोग भोग्य वस्तुओका सग्रह करेंगे। लोग काम करेगे, उसके लिए पारिश्रमिक मिलेगा, उससे सम्पत्ति इकट्ठी होगी। पर यह बीचकी अवस्था है, जब समाजवादी पद्धति सर्वत्र पूर्णरूपेण स्थापित नही हो पायी होगी। आगे चलकर जब यह व्यवस्था प्रौढ़ हो जायगी तब

लोग स्वत. अपनी शक्ति और योग्यता भर श्रम करेंगे । इसके लिए उनपर दबाव डालनेकी आवश्यकता न होगी । इस श्रमके फलस्वरूप सभी भोग्य वस्तुओंकी राशियाँ एकत्र हो जायँगी । उनका परिणाम इतना होगा कि सबके लिए पर्याप्त हो । कोई मनुष्य मजदूरी न चाहेगा । अपने काम भर भोग्य सामग्री सार्वजनिक भण्डारसे उठा ले जायगा । सबके लिए सामग्री पर्याप्त होगी और सभी लोग लोकहितके भावसे प्रेरित होंगे, इसलिए यह आशंका न रहेगी कि कोई ऐसी वस्तु ले जायगा जिसकी उसको आवश्यकता न हो या अपनी आवश्यकतासे अधिक उठा ले जायगा । संग्रह करनेके लिए कोई प्रलोभन न होगा क्योंकि संग्रह करना अनावश्यक होगा । उस समय न किसी प्रकारके दबाव डालनेकी जरूरत होगी न कानून बनानेकी । सम्पत्ति संग्रहकी प्रथा आपसे आप ही धीरे-धीरे मिट जायगी । सार्वजनिक सम्पत्ति किसी एक व्यक्तिकी सम्पत्ति न होगी पर, उत्पादक हो या भोग्य, वह सबकी सम्पत्ति होगी । उसी समय समाजवादका यह प्रसिद्ध सिद्धान्त फलीभूत होगा—प्रत्येक व्यक्तिसे उसकी योग्यताके अनुसार; प्रत्येक व्यक्तिको उसकी आवश्यकताके अनुसार ।

चौदहवाँ अध्याय

राजका स्वरूप

राजसत्ताके सम्बन्धमे पिछले अध्यायोमे भी थोडा-बहुत जिक्र आया है किन्तु यहाँ इस विषयपर किञ्चित् विस्तारसे विचार करना आवश्यक है। बहुतसे लोगोमे यह धारणा है कि समाजवादी राजसत्ताके विरोधी है। यदि उनके हाथमे अधिकार आया तो न राज* रह जायगा, न सरकार रह जायगी। प्रत्येक मनुष्य स्वच्छन्द हो जायगा। जिसके जीमे जो आयेगा करेगा। इसका परिणाम यह होगा कि किसीके जान-मालकी रक्षाका भरोसा न होगा।

बहुत-सी धारणाओकी भाँति यह खयाल भी निर्मूल है। ऐसी स्वच्छन्दताका परिणाम यह होगा कि सभ्यता तथा सस्कृति धूलिमे मिल जायगी और पृथ्वी हिस्र पशुओसे संकुल वनस्थली हो जायगी। समाजवादी यह नही चाहता इसलिए वह राजसत्ताको मिटा देनेकी बात इस तरह नही करता। अराजकतावादके ‡ आचार्य प्रिस क्रोपाट्किन आदि भी इस प्रकारकी जंगली उच्छृङ्खलताके पक्षपाती नही थे।

परन्तु यह सत्य है कि जिस प्रकारके राज आजकल है, चाहे उनमे किसी नरेश या अधिनायकके हाथमे अधिकार हो या किसी प्रकारकी व्यवस्थापिका सभाके, उनमे समाजवादी सन्तुष्ट नही है। वह उस सिद्धान्तको नही मानता जिसके आधारपर यह राज चल रहे है। वह जितना ही भयावह और हानिकर वर्गयुद्ध, पूँजीवाद तथा साम्राज्यशाहीको समझता

---

* The State. ‡ Anarchism.

है उतना ही बुरा वर्तमान राज-व्यवस्थाको समझता है। उसका विश्वास है कि आजकलके राजोका अस्तित्व शान्तिका प्रबल विरोधी है। राज-नीति-शास्त्रके बहुतसे पण्डितोका यह कहना है कि मनुष्यके विकासके लिए राज होना आवश्यक है। जो व्यक्ति किसी राजका नागरिक नही है, उसके बहुतसे नैतिक और आध्यात्मिक गुण मृत्यु पर्यन्त आलीन रहते है। बिना नागरिकताके कर्तव्यों और अधिकारोका अनुभव किये मनुष्य अपूर्ण रहता है। समाजवादी ऐसा नही मानता। उसका विश्वास है कि वर्तमान राजसत्ता, जो आजकी नही वरन् हजारो वर्षसे चली आ रही है, मनुष्यके विकासको रोकने और उसे अपूर्ण रखनेका प्रबल साधन है। वह उसे मिटाना चाहता है पर उसके स्थानपर दूसरे भवनका निर्माण भी करना चाहता है।

राजकी अनेक परिभाषाएँ है। उनमेसे एक यह है कि सरकार और प्रजाके रूपमे सङ्घटित राष्ट्रको राज★ कहते है। इससे व्यावहारिक अर्थ तो निकल आता है पर राजका पूरा-पूरा स्वरूप प्रकट नही होता। कुछ विद्वानोका यह कहना है कि इसके सिवाय और कुछ स्वरूप है भी नही। उनके मतमे किसी देश-विदेशके निवासियोकी उस संस्थाका नाम राज है जिसके द्वारा उनकी सम्मिलित शक्तिका राजनीतिक उपयोग हो सके। साधारण बोलचालमे भी लोग ऐसा ही समझते है। राजका अर्थ सरकार होता है। परिभाषामे भले ही सरकार और जनताका संयुक्त नाम राज हो पर लोग ऐसा ही मानते है कि प्रजासे पृथक् और उसके ऊपर जो सत्ता है, उसका ही नाम राज या सरकार है।

दूसरी ओर वह विद्वान् है जिन्होने इस विषयका दार्शनिक दृष्टिसे गम्भीर अध्ययन किया है। वह राज शब्दको बहुत व्यापक अर्थमे लेते है। बर्नर्ड बोजाकेट अपनी 'फिलॉसाफिकल थियरी आव दि स्टेट'मे लिखते है

★ भ्रामक होते हुए भी राज शब्द अधिक प्रचलित है।

"राज केवल राजनीतिक संस्था नही है वरन् वह उन सब छोटी-बड़ी संस्थाओकी समष्टि है जिनके द्वारा जीवन निर्धारित होता है। उसमें परिवार, व्यापार, सम्प्रदाय, विश्वविद्यालय सभी अन्तर्भूत है। राज ही वह वस्तु है जो इन सभोको सजीव और सार्थक बनाता है।" प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल जो बोजाकेटके दार्शनिक गुरु थे, राजकी प्रशंसामे गद्यकाव्यकी रचना करने लग जाते है। उनके अनुसार मनुष्यको राजके द्वारा ही आध्यात्मिक सत्यता प्राप्त होती है। वह कहते है 'विश्वात्मा पृथ्वीपर अपने स्वरूपका ज्ञानपूर्वक अनुभव राजके रूपमे करता है। राजकी सत्ता जगत्मे ईश्वरकी गति है।'

यह तो राजका स्वरूप हुआ। राजसत्ता पृथ्वीपर है कबसे ? कुछ लोग ऐसा मानते है कि आदिकालमे किसी प्रकारका राज न था। सब लोग स्वच्छन्द रहते थे। पर जब बलवानो और बलहीनोका संघर्ष बढा तो लोगोने सम्मिलित होकर इस संस्थाको जन्म दिया ताकि यह सबके ऊपर रहे और निष्पक्ष होकर न्याय करे अर्थात् सबके हकोकी रक्षा करे। राज लोगोंके आपसके समझौतेका फल है। काम चलानेके लिए लोगोने अपनी स्वच्छन्दताका कुछ अंश राजशक्तिके रूपमे राजको सौप दिया। इसके विरुद्ध दूसरे लोगोका कहना है कि मनुष्य स्वभावतः राजनीतिक प्राणी है। आदि या अनादिकालसे ही मनुष्य-समुदाय राजके रूपमे संघटित है।

राजकी शक्तिका आधार क्या है ? समझौता तो जब हुआ तब हुआ पर इस समय लोग राजका नियन्त्रण क्यो मानते है ? क्या मनुष्य इस दैवी सस्थाका गुलाम है ? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि मनुष्य गुलाम नही है पर उसकी स्वतन्त्रता इसी बातमे व्यक्त होती है कि वह राजका समर्थन करता है। यह समर्थन स्वतन्त्रतापूर्वक होता है। हम राजका समर्थन इसलिए करते है कि हमारी इच्छा वही होती है जो राजकी इच्छा होती है। पर ऐसा अनुभव तो सदैव नही होता। बहुत-से अवसरोपर तो ऐसा प्रतीत होता है कि राजकी इच्छा हमारी निजी इच्छाके एक-

दम विरुद्ध है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि ऐसी प्रतीति इसलिए होती है कि हमको अपनी वास्तविक इच्छाका★ सदैव अनुभव नही होता। इसका कारण यह है कि हमारी वास्तविक इच्छापर क्षण-क्षणमे राग-द्वेष, आवेश आदिका पर्दा पड जाया करता है। फिर उसके जाननेकी विधि क्या है? इसका उत्तर बोजाकेट यो देते है—'अपनी वास्तविक इच्छाको ठीक-ठीक जाननेके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी क्षण-विशेषकी इच्छाका संशोधन अपने अन्य क्षणोकी इच्छाओके द्वारा करें। पर हमारी इच्छा अन्य लोगोकी इच्छासे टकराती है अत. हमको अपनी इच्छाका सशोधित रूप तभी प्राप्त हो सकता है कि जब हम उसका जोड दूसरोकी इच्छाओके साथ बैठा सकें। यह तभी सम्भव है जब हम दूसरोकी क्षणिक इच्छाओका संशोधन उनकी अन्य क्षणोकी इच्छाओ द्वारा कर ले।' यह सारी प्रक्रिया तर्कशास्त्रके अनुकूल होगी पर इस प्रकारके संशोधनोके बाद हमारी इच्छा-का जो रूप हमारे सामने आयेगा हम उसको पहिचान ही न सकेंगे। बोजा-केटके अनुसार यही रूप जो पहिचाना नही जा सकता हमारी वास्तविक इच्छाका स्वरूप होगा। यह वास्तविक इच्छा एक व्यक्तिकी नही, सभी मनुष्योकी, जो पागल नही है, इच्छा होगी। इसी बातको उन्होने 'मेटा-फिजिकल थियरी आव दि स्टेट'मे सक्षेपमे यो लिखा है 'हम नैतिक दृष्ट्या उसी समय स्वतन्त्र होते है, जब हमारे काम हमारी वास्तविक इच्छाके अनुसार होते हैं, हमारी वास्तविक इच्छा जन-सामान्यकी इच्छा† है और जन-सामान्यकी इच्छा पूर्णरूपेण राजसत्तामे मूर्त होती है।'

यह बाते बडी ही विद्वत्तापूर्ण और बुद्धिवर्द्धक है। पहले तो इनको समझना कठिन हैं, शब्दयोजनाको पार करके अर्थतक पहुँच जाना सबका काम नही है। अर्थ गम्भीर है और उसको अपनानेमे बुद्धि चकरा जाती है। पर समझ लेनेके बाद मनुष्यको यह आश्चर्य होता है कि यह किस लोककी

★ Real Will. †General Will

बाते है । राजसत्ता द्वारा विश्वात्मा जगत्मे अपनी अनुभूति करता है । राजकी सत्ता जगत्मे ईश्वरकी गति है । यह बाते किस राजके सम्बन्धमे फलीभूत होती है ? हम यह मान सकते है कि परिभाषामे व्यापक शब्दोका प्रयोग होता है । शास्त्रका नियम है कि परिभाषामे अव्याप्ति दोष नही आना चाहिए । यदि हमको मनुष्यकी परिभाषा करनी हो तो हम किसी विशेष रङ्ग या लम्बाईका उल्लेख नही कर सकते क्योकि मनुष्य कई रङ्गो और लम्बाइयोके होते है । पर इसके साथ ही यह भी शास्त्रीय नियम है कि परिभाषामे असम्भव दोष नही आना चाहिए अर्थात् कोई ऐसा लक्षण नही बताना चाहिए जो किसी व्यक्तिमे न पाया जाय । यह कह देनेसे कि मनुष्यको सीग होती है असम्भव दोष आ जायगा । ऊपर विद्वानोने राजकी जो कुछ गाथा गायी है उसमे असम्भव दोषका प्राचुर्य है । जहाँतक इतिहासकी गति है, अतीतकाल या वर्तमानकालके किसी भी राजको देखकर ऐसा कहते नही बनता । कमसे कम उस भावसे तो इन शब्दोका प्रयोग करना कठिन है जो इनके रचयिताओका था । राजमे उत्पीडन, वर्गसंघर्ष, दारिद्रयके साथ-साथ सस्कृति, सभ्यता उन्नति भी देख पडती है । यह कहा जा सकता है कि सुख-दु ख, भला-बुरा, सभी विश्वात्माका स्वरूप है,सभी ईश्वरकी गति है पर इसको ज्ञानपूर्वक स्वानुभव नही कह सकते । यदि हो भी तो इससे किसी व्यथित हृदयको शान्ति नहीं मिल सकती । इससे इतना भी तो नही निकलता कि यदि सारी पृथ्वी-पर एक राज हो जाय तो दैवी गति बदल जायगी और उत्पीडनका अन्त हो जायगा । फिर भी प्रबल राज इस परिभाषाको बहुत पसन्द करते है । इससे उनको दार्शनिक आधार मिल जाता है । राजको जीवनके सभी अङ्गोमे हस्तक्षेप करनेका बहाना मिल जाता है और जो व्यक्ति राजकी इच्छाको,जो किसी भी समय विशेषमे वस्तुतः सरकार अर्थात् ऊपरके दो-चार या एक व्यक्तिकी इच्छा होती है, पसन्द नही करता उससे यह कहा जा सकता है कि यही तुम्हारी भी वास्तविक इच्छा है पर तुम अपने अज्ञानवश

इसे पहचानते नही हो। ऐसा कहकर राज सबका मुँह बन्द कर सकता है और अपने राज्यके भीतर उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् और निरङ्कुश हो सकता है जैसा कि इस जगत्मे ईश्वर माना जाता है। स्यात् इसीको ज्ञानपूर्वक स्वरूपका अनुभव कहते है। इस सर्वशक्तिमत्ताको ही प्रभुत्व* कहते है। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक स्वतन्त्र राज पूर्णप्रभु होता है। वस्तुत. कोई राज पूर्णप्रभु नही होता क्योकि यदि और कुछ नही तो दूसरे स्वतन्त्र राजोका अस्तित्वपूर्ण प्रभुत्वका बाधक होता है और फिर राज्यके भीतर भी प्रायः सदैव कुछ-न-कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जो राजेच्छाको अपनी इच्छा मानकर चुप बैठनेको तैयार नही होते। फिर भी प्रत्येक राज अपने सामने यही आदर्श रखता है।

समाजवादी अपनेको इस दार्शनिक जङ्गलमे खोना नही चाहता। वह बौद्धिक व्यायाम करनेके पहले वर्तमान राजोके स्वरूपका विश्लेषण करता है और इस विश्लेषणके परिणामका इतिहासके प्रकाशमे अध्ययन करता है। इस अध्ययनका जो नतीजा निकलता है उसको सामने रखकर वह राजकी प्रशस्ति गानेमे अपनेको असमर्थ पाता है। राजकी इच्छाको अपनी या जनसामान्यकी वास्तविक इच्छा मानना तो दूर रहा उसको ऐसा प्रतीत होता है कि राजेच्छा बहुधा जनसामान्यकी इच्छाके विरुद्ध चलती है और राजकी शक्तिका आधार जनता द्वारा समर्थन नही प्रत्युत बल है। वह राजके अस्तित्वको अपने आध्यात्मिक विकासका एक मात्र साधन न पाकर विकासके मार्गमे कण्टकवत् देखने लगता है। यहाँ हम संक्षेपमे समाजवादके आचार्य्योका मत राजके सम्बन्धमे देना उचित समझते है।

पहले तो यह माननेकी कोई आवश्यकता नही है कि राज पृथ्वीके आदिकालसे या यो कहिए कि पृथ्वीपर मनुष्यके आनेके समयसे चला आता है। इसका कोई प्रमाण नही है। यह तो ठीक ही है कि आरम्भ-

---

*Sovereignty.

कालसे ही मनुष्य छोटी-बडी टुकडियोमे रहते होंगे। मनुष्य जैसा प्राणी जिसको न दाँतका अवलम्ब है न पञ्जेका, किसी अन्य उपायसे बनैले पशुओसे अपनी रक्षा कर नही सकता था। यह भी निर्विवाद है कि जहाँ दो व्यक्ति एक साथ रहते है वहाँ भी आपसमे बरतनेके लिए कुछ नियम बन जाते है अत. उस प्राचीन कालके मानव समुदायोमे भी आपसके व्यवहारके लिए कुछ-न-कुछ नियम अवश्य रहे होगे। पर न तो ऐसे समुदायोको राज कह सकते है, न उन नियमोको कानूनका नाम दिया जा सकता है। पशु-पक्षियोके भी समुदाय होते है पर उनको कोई राज नही कहता। आत्मरक्षाकी सहज प्रवृत्ति समुदायके राजनीतिक जीवनकी रक्षा करती है। भैसो और गायोके झुण्डपर जब किसी बनैले हिंस्र पशुके आक्रमणकी आशङ्का होती है तो बछडो और गायोको बीचमे करके सब नर घेरा बाँधकर खडे हो जाते है ताकि शत्रु जिधरसे आये उसे सीगोका सामना करना पडे। घोडे और गधे पिछली टाँगोको बाहर करके खडे होते है ताकि शत्रुको लात मार सकें। आरम्भमे मनुष्यके जीवनमे इससे अधिक राजनीतिका समावेश नही था। सार्वजनिक शत्रुओका सामना करनेके लिए सहज प्रवृत्ति सबको खडा कर देती थी। कोई-न-कोई नेता भी रहता होगा। भेडियोके गोलमे भी जो भेड़िया अधिक बलवान् और चतुर होता है वह स्वत. नेता बन जाता है और दूसरे उसके पीछे-पीछे चलते है। पर इसमे न कोई सघटन है न नेताके दैवी आधिपत्य माननेकी बात है, न उसकी आज्ञाको अनिवार्यतया मानना है। प्राचीन मनुष्य समाजमे भी ऐसा ही रहा होगा। पशु-पक्षियोमे भी आपसमे बरतनेके नियम होते है और जो उन नियमोको तोडता है उसे सब मिलकर दण्ड देते है। यो कह सकते है कि उस पशु या पक्षीसमुदायका लोकमत नियमके उलङ्घन करनेवालेको दण्ड देता है। यह नियम सनुदायके अनुभवके आधारपर आप ही बन गये हैं अर्थात् इनके पालनसे समुदाय सुव्यवस्थित और चिरजीवी रह सकता है अतः यह समुदायके प्रायः प्रत्येक प्राणीकी मन.प्रवृत्तिके

अविच्छेद्य अङ्ग है। परन्तु क़ानूनमे यह बात नही होती। कानूनकी परिभाषा यह है कि वह ऐसी आज्ञा होती है जिसके साथ दण्ड लगा होता है। 'चोरी मत करो, अन्यथा अमुक-अमुक दण्ड पाओगे' यह कानूनका रूप है। पशु-समाजमे ऐसे कानून नही होते, प्राचीन मनुष्य समाजमे भी न रहे होगे, क्योकि कानूनके लिए कोई बनानेवाला, नियामक, आज्ञा देनेवाला चाहिये। ऐसा नियामक न पशु-समाजमे है, न पुराने मनुष्य-समाजमे था। यह नही कह सकते कि कानून उन प्राकृतिक नियमोके समान है जिनसे समुदायकी रक्षा होती है, इसलिए वह सबके हृदयमे आप ही उत्पन्न हो जाते है। 'चोरी न करो' तो स्यात् ऐसा नियम माना जाता पर 'सडकपर अपने बाये हाथ चलो' मनुष्य समुदायके लिए प्राकृतिक नियम नही है। यह तो किसी नियामकका ही बनाया हुआ है।

यह अवस्था कबतक चली गयी यह नही कहा जा सकता पर बुद्धि-प्रधान मनुष्य पशु-पक्षियोकी भाँति सदा एक ही अवस्थामे तो रह नही सकता। उसने कच्चे मासकी जगह पका भोजन खाना सीखा, खेती करना सीखा, पशु पाले, मकान बनाये, पृथ्वीके गर्भसे खनिजोको निकालना और उनको गलाना तथा ढालना सीखा। मनुष्य समुदायका स्वरूप जटिल और जटिलतर होता गया। श्रम-विभाग हुआ। कुछ लोग एक काम, कुछ दूसरे काममे लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ पहिले सब बराबर थे, वहाँ अब सम्पत्ति-वैषम्य हो गया। किसीके पास अधिक सम्पत्ति थी, किसीके पास कम। स्वभावतः वह लोग अधिक सम्पन्न थे जिनके पास भूमि थी। उनकी बराबरी यदि कर सकते थे तो वही लोग कर सकते थे जो भूलोकका स्वर्लोकसे सम्बन्ध जोड सकते थे। यह पुरोहित सर्वश्रेष्ठ थे। कहनेका तात्पर्य यह है कि समुदायमे आर्थिक वैषम्य उत्पन्न हुआ। इनके साथ हैसियत, दर्जेमे भी वैषम्य हुआ। यह ऊँचा है, यह नीचा है, ऐसा भाव दृढ होने लगा। जहाँ पहिले कोई बलवान् व्यक्ति कभी-कभी अपनेसे दुर्बलोको कुछ तङ्ग कर लेता होगा वहाँ अब बलवानोका वर्ग बन गया

और इस वर्गने दूसरोको उत्पीडित करना आरम्भ किया। अब नेतृत्व भेडियो या प्राचीन मनुष्योकी भाँति अपनी चतुरता या अपने बाहुबलके आधारपर नही मिलता था वरन् अपने वर्गके आधारपर। यही संस्कृत ग्रन्थोमे प्रशस्त 'अभिजन बल' है। इधर उत्पीडकोसे अपनी रक्षा करनेके लिए दूसरोको भी फिक्र हुई। यदि यह वर्गयुद्ध यो ही अव्यवस्थित रूपसे चला जाता तो उत्पीडितोका तो संहार हो ही जाता, इसके बाद उत्पीडक भी खत्म हो जाते और समुदाय ही न रह जाता। ऐसी परिस्थितियोमे राजका जन्म हुआ है।

पुराणोमे राजकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे जो कथा दी है वह भी इसी बातका समर्थन करती है। ऐसा लिखा है कि पहिले कोई राजा न था। लोग आपसमे मिलकर रहते थे। परन्तु कुछ दिनोके बाद यह अवस्था बदली। बलवान् लोग दुर्बलोको 'मात्स्यन्यायेन' खाने लगे अर्थात् उसी प्रकार खाने लगे जिस प्रकार बडी मछलियाँ छोटी मछलियोको खा जाती है। यह रूपक ध्यान देने योग्य है। शोषक और शोषितमे यही मात्स्यन्याय बरता जाता है। उत्तरप्रदेशके कई बडे जमीनदार कृषकोको अपना 'आहार' कहते सुने गये थे। अस्तु, इस परिस्थितिसे त्रस्त होकर सबने मनुसे प्रार्थना की कि आप हमारे राजा बनिये। इस प्रकार प्रथम राजकी सृष्टि हुई।

परन्तु राजने उत्पन्न होकर किया क्या? वह वस्तुत. था क्या? ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे तो यही धारणा होती है कि राज उत्पीडित और उत्पीडक दोनोसे पृथक् और दोनोके ऊपर एक ऐसी सत्ता थी जो दोनोमे न्याय करनेके लिए स्थापित हुई थी। मनु न तो बडी मछली थे, न छोटी मछली। उनका काम दोनो प्रकारकी मछलियोके बीच न्यायका पलडा बरावर रखना था। न्यायका अर्थ भी यही हो सकता है कि सबको अपना-अपना हक प्राप्त हो। आजकल भी राजोका यही दावा है कि वह निर्बल और सबल, उत्पीडक और उत्पीडितके, बीच न्याय करते है। इसी

दावेके आधारपर वह जन-साधारणसे निरपेक्ष राजभक्ति तलब करते है और बहुधा पा भी जाते है। पर एक बात विचारणीय है। क्या सचमुच राज इस प्रकारका न्याय करता है? यदि न्यायका अर्थ सबको अपना-अपना हक दिलवाना है तो राज उत्पीडक और उत्पीडित दोनोको अपना-अपना हक दिलवाता होगा। परन्तु उत्पीडकका हक कैसा होता है? जो लुट रहा हो उसका तो हक मारा जा रहा है अतः उसकी रक्षा होनी चाहिए पर लूटनेवाले डाकूका कौन-सा हक है जो उसको दिलवाया जायगा? अतः यदि राज न्यायपर तुला था तो उसके लिए एक-मात्र यही मार्ग था कि वह उत्पीडितोका, छोटी मछलियोका, साथ देता। पर यदि राजने ऐसा किया होता तो बडी मछलियाँ बच ही न जाती। इक्का-दुक्का दुष्प्रकृति मनुष्य रह सकता था। वह चाहे कितना भी चतुर या बुद्धिमान् क्यो न होता पर उसके लिए तो लोकमत पर्य्याप्त था उससे तो लोग उसी प्रकार निपट लेते जैसे पशु समुदाय अपनेमेसे दुष्ट प्रकृतिवालोसे निपट लेता है। आज भी यदि कोई बदमाश खुले बाजारमे किसी स्त्रीको छेडता है या किसी बच्चेका जेवर उतारना चाहता है तो राजकी सहायता बिना ही लोग उसे ठीक कर देते है। परन्तु हम पिछले अध्यायोमे देख आये है कि उत्पीडक या शोषक तो अब भी संघटित वर्गोमे विद्यमान है, पहले भी, जहाँतक इतिहाससे पता चलता है, विद्यमान थे। राजके रहते हुए इस प्रकारके वर्गोके अस्तित्वके दो ही अर्थ हो सकते है—या तो राजका दावा झूठा है, उसने निष्पक्ष होकर उत्पीडितोके हककी रक्षा करनेका प्रयत्न ही नही किया या परिस्थिति ऐसी है कि राज अपने वर्तमान स्वरूपसे इस प्रकारका प्रयत्न कर ही नही सकता या करके सफल नही हो सकता। दोनो ही अवस्थाओमे यह विचारणीय प्रश्न होगा कि आया मनुष्यके लिए राजका भार ढोना ही श्रेयष्कर है या नही।

वस्तुस्थिति यह है कि आजतक न तो राजने इस प्रकारका न्याय करना अपना कर्तव्य समझा, न इसके लिए प्रयत्न किया, यद्यपि लोगोके

सामने बराबर इसकी दोहाई दी जाती थी और है। राज वस्तुतः वर्ग-संघर्षको, मात्स्यन्यायको, मिटानेके लिए नही वरन् उसको सुव्यवस्थित करनेके लिए स्थापित हुआ। व्यवस्थाके अभावमे जैसा कि मैने पहले कहा है, उत्पीडक भी न रह जाते। आवश्यकता इस बातकी थी कि बडी मछलियोको आहार मिलता रहे, इसलिए छोटी मछलियाँ संख्यामे भी काफी हों और मोटी-ताजी भी हो। इसके साथ ही यह भी देखना था कि वह इतनी बलवान् न हो जायँ कि बडी मछलियोका मुकाबिला करने लग जायँ। सबसे बडी बात यह थी कि ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि वह अपनी अवस्थासे सन्तुष्ट रहे ताकि नित्य प्रत्यक्ष रूपसे खून-खराबा न करना पडे। यह सब काम राजके द्वारा हो गया। यह प्रबन्ध कुछ-कुछ उसी ढङ्गका था जो एक पुरानी कहानीमे सुना गया है। किसी जङ्गलमे एक सिंह था जो वहाँके पशुओको बराबर मारा करता था। इससे उनकी संख्या बहुत क्षीण हो चली। अन्तमे यह समझौता हुआ कि सिंह, आप कष्ट न करे, पशुगण पञ्चायत करके नित्य अपनेमे-से एकको उसके पास भेज दिया करें। सिंहका भी बिना परिश्रमके पेट भरता रहे, पशुओका भी अनावश्यक सहार न हो। इतना ही नही, उनको यह सन्तोष भी रहा होगा कि हमपर कोई दबाव नही है, यह न्यायपूर्ण बराबरीका समझौता है और हम अपनी स्वतन्त्र इच्छासे जिसको चाहते है चुनकर भेज देते है। सम्भवतः जिसकी बारी होती होगी वह भी अपनेको समझा लिया करता होगा यद्यपि इस समय मै मरनेसे घबरा रहा हूँ पर मेरी वास्तविक इच्छा, जिसका मुझे खुद पता नही है, यही है कि मै आज सिंहके हाथसे मारा जाऊँ। कहनेका तात्पर्य यह है कि राज वस्तुतः शोषकवर्गके अधिकारोकी रक्षाका साधन है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह अधिकार उन्होने आप अपनेको दे लिया है। राजके भीतर जो कानून चलते है वह शोषक वर्गके बनाये होते है और उनका उद्देश्य इस वर्गके आधिपत्यको अक्षुण्ण बनाये रखना होता है। राजकी इच्छा वस्तुतः जनताकी वास्तविक इच्छा नहीं

है । इस जनता शब्दसे जनसाधारण अर्थात् यदि देशके सब निवासी नही तो उनमे-से बहुत बडे भागका बोध होता है । पर बहुत बडा भाग तो उन्ही लोगोका है जो उत्पीडित या शोषित है । एक ओर राजकी, अर्थात् मुट्ठीभर उत्पीडकोकी वास्तविक इच्छा, दूसरी ओर जनताकी, अर्थात् बहुसंख्यक उत्पीड़ितोकी वास्तविक इच्छा—यह दोनो इच्छाएँ कदापि एक नही हो सकती, क्योकि इन दोनो वर्गोके हित पृथक्-पृथक् है ।

यह कहा जा सकता है कि विदेशी आक्रमणके सामने सबके हित एक हो जाते है । इसमे सन्देह है । यदि शत्रु ऐसा हुआ जो मजहबके नामपर लोगोके जीवनमे हस्तक्षेप करता है तब तो सम्भव है कि सबकी इच्छाएँ पूर्णतया एक हो जायँ अन्यथा गरीब जनताको अल्पकालीन लूटपाटका भले ही भय हो पर उसके लिए 'कोउ नृप होय हमै का हानी, चेरि छाँडि न कहाउब रानी' वाली बात चरितार्थ है । इसके विपरीत जो अधिकारयुक्त शोषक वर्ग हैं उसके लिए जीवन-मरणका प्रश्न हो जाता है, क्योकि उसका अधिकार सदाके लिए छिन जानेका डर रहता है, अतः वह सचमुच प्राण-पणसे लडता है । अन्य लोगोकी देशभक्ति बहुत ही कच्ची होती है । राजपूतानेके इतिहासपर हिन्दुओको बडा गर्व है । यह गर्व अनुचित नही है पर इस इतिहासमे राजपूतोको छोड़कर दूसरे हिन्दुओकी देशभक्तिकी कथा कम ही मिलती है । सारा रोना यह है अपने-अपने राज्यमे शिशोदियो, कछवाहो, राठौरो, झालोकी हुकूमत बनी रहे ।

जिन देशोमे लोकतन्त्र शासन है उनमे राजेच्छा और जनताकी इच्छा मे कोई भेद नही प्रतीत होता, क्योकि राजका परिचालन सबकी रायसे होता प्रतीत होता है । पर यह भी एक धोखेकी टट्टी है । जहाँ भिन्न-भिन्न वर्गोमे इतनी आर्थिक विषमता हो वहाँ लोकतन्त्र एक विडम्बना मात्र है । जैसा कि डेलाइल बर्न्सने डेमाक्रेसीमे कहा है 'दरिद्रता लोकतन्त्र-को असम्भव और स्वय सभ्यताको दूषित बना देती है । दरिद्रतासे तात्पर्य है भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा और चित्तकी शान्तिकी उस कमीसे जिसके

कारण मानव-जीवन सम्भव नही हो सकता।………जो मनुष्य भूख या सर्दीसे तडप रहा है और बराबर इस चिन्तामे जल रहा है कि उसको और उसके बच्चोको रोटियाँ मिलेंगे या नही वह इस अवस्थामे ही नही है अपने प्रतिनिधियोको चुन सके ……फिर भी चुनाव तो होते है। फलत ऐसे ही लोग प्राय· चुने जाते है जिनको शोषकवर्ग बहुत नापसन्द नही करता। 'स्वतन्त्र' जनता अपने स्वतन्त्र ओटोके द्वारा अपने स्वामियोके इच्छाका ही समर्थन करता है। पर हाँ, लोकतन्त्रके द्वारा उसको धोखा देना सुकर होता है। यदि उसके मालिक अपने हितके लिए कोई युद्ध छेड देता है तो भी जनता उसे अपना युद्ध समझकर उनकी ओरसे लडती है। और प्राण देती है पर इससे हित-सघर्ष या वर्ग-संघर्ष समाप्त नही होता। शासक वर्ग जनताको मारनेका अधिकार दे सकता है पर शोषणमे मुक्त होनेका नही।'

यह कहना भी गलत है कि जनता राजका समर्थन करती है और यह समर्थन राजशक्तिका आधार है। वस्तुत राजशक्तिका आधार बल है जिसकी प्रत्यक्ष मूर्ति सेना और पुलिस है। सारे देशकी जनतासे पैसा वसूल किया जाता है और इस पैसेसे सेना तथा पुलिस रखकर उसी जनताको दबाया जाता है। धोखा यह दिया जाता है कि यह चीजे जनताकी रक्षाके लिए है। सचमुच यदि रक्षाकी ही बात होती तो थोडी-सी स्थायी और वेतनभोगी सेनाके बदले समस्त जनता आत्मरक्षाके लिए तैयार की जाती। जिस प्रकार शत्रुके आक्रमणके सामने आत्मरक्षाकी प्रवृत्ति पशु-समुदायोको तैयार कर देती है, उसी प्रकार सारा समुदाय एक होकर खडा हो जाता। मनुष्य न तो सीग मारता है न लात चलाता है अत. लोगोके हाथमे समयानुकूल शस्त्रास्त्र होते पर सिद्धान्त वही होता। ऐसा न करके प्राचीन कालसे ही राजने जनताको आत्मरक्षाकी जिम्मेदारोसे मुक्त कर दिया। शोपक वर्गके व्यक्ति और उनके खास साथी ही शस्त्रास्त्र चलाना जानते थे और यदि आवश्यकता पड गयी तो अपनी हुकूमत बनाये रखनेके

लिए विदेशियोसे भी लड लेते थे । अन्यथा अपने संघटन और शस्त्राभ्यास-के ज़ोरसे सामान्य प्रजाको दबाये रहते थे । लोग हिन्दू वर्ण-व्यवस्थाकी प्रशंसा करनेमे इस बातका बडे अभिमानसे जिक्र करते हैं कि राष्ट्रकी रक्षा-का भार क्षत्रियोने अपने ऊपर ले लिया था पर यह भूल जाते है कि इसका परिणाम यह हुआ कि शेष जनता ऐसी निकम्मी बना दी गयी कि उसे अपनी रक्षा करना भूल ही नही गया, रक्षा करनेका भाव भी जाता रहा । औरोकी बात तो जाने दीजिए, वैश्य तो क्षत्रियोकी ही भांति आर्य्य थे पर वह भी शस्त्र चलानेसे इतनी दूर जा पडे कि 'वणिक् पुत्र जाने कहा, गढ लेवेकी बात' एक प्रसिद्ध कहावत हो गयी । आजकलकी सेनाओ और पुलिस-का वही स्थान है जो पहले सामन्त-सरदारो या क्षत्रिय वर्गोका था । ज्यो-ज्यो वर्ग संघर्ष तीव्र होता जाता है त्यो-त्यो सेना और पुलिसका यह रूप और स्पष्ट होता जाता है । यदि सेना बाहरी आक्रमणसे रक्षा करनेके लिए ही है तो उसे भीतरी प्रक्षोभोका दमन करनेमे हाथ न डालना चाहिए । समाजवादी, असमाजवादी, पूँजीपति, मजदूर कोई भी वर्ग आपसमे आधि-पत्यके लिए लडते हो, सेनाको तटस्थ रहना चाहिए पर ऐसा होता नही । पुलिस भी केवल चोर-डाकुओसे रक्षा करनेके लिए नही होती । यदि समाज-की व्यवस्था ठीक हो तो ऐसे लोग बहुत कम हो । लोकमत उनसे निपट ले और पुलिसकी आवश्यकता ही न पडे । एक ओर आजकी व्यवस्था बेकारो और भुक्खड़ोकी सृष्टि करती है, दूसरी ओर उनका पुलिस द्वारा दमन करती है । शोषक वर्गकी ओरसे मजदूरो और किसानोपर तो डण्डे और गोलियाँ चलते देखा गया है पर धनिक वर्ग चाहे जो करे उसपर पुलिसका प्रहार नही होता ।

इस बातको कितना भी छिपाया जाय पर लोकात्मा इसको खूब सम-झती है । जो दल समाजके संघटनको बदलना चाहता है, उसका पहला प्रयत्न यह होता है कि राजयन्त्र अपने हाथमे आ जाय अर्थात् सरकारपर कब्ज़ा हो जाय । यह इसलिए नही होता कि चोर-डाकुओको दबाने या

विदेशी शत्रुओसे लडनेमे सुविधा हो वरन् इसलिए कि पुलिस और सेना घरेलू विरोधियोको दबाकर पंगु बनानेके साधन है। जो वर्ग जिस समय आर्थिक और राजनीतिक महत्ता रखता है वह इनका उपयोग करके अपने अधिकारोकी रक्षा करता है। जब कोई दूसरा वर्ग प्रधान बनना चाहता है तो स्वभावतः वह भी इस साधनसे काम लेना चाहता है। किसी समय सरदार-सामन्तोका ज़माना था। उनसे लडकर मध्यम वर्गने अधिकार प्राप्त किया पर अधिकार प्राप्त करके अपने पुराने नारोको भूल गया। वह भी सेना और पुलिससे ठीक उसी ढगका काम ले रहा है जैसा कि उससे पहले क्षत्रियवर्ग लेता था। अब दूसरे वर्गने सिर उठाना आरम्भ किया है। श्रमिक और कृषक चाहते है कि राजका सूत्र अर्थात् विरोधियोके दमनके साधनोपर अधिकार उनके हाथमे आ जाय।

जब राज वर्गविशेषके हितोकी रक्षाका साधन है तो वह सब वर्गोके ऊपर और सबसे पृथक् अर्थात् तटस्थ और निष्पक्ष नही हो सकता। इसका प्रयत्न अवश्य होता है। छोटे-से-छोटे अहलकारको भी ऐसा दर्जा दिया जाता है कि वह समाजसे ऊपर हो जाता है। दरबार, अदालत, कचहरीमे उठने-बैठने, बोलनेके ऐसे-ऐसे नियम बनाये जाते है कि लोगोपर आतङ्क छाया रहता है और इन जगहोमे आने-जानेवालोको ऐसा अनुभव होता है जैसे उन्हे किसी प्रत्यक्ष देवके मन्दिरमे पाँव रखनेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा हो। इन युक्तियोके प्रयोगसे राज लोगोके चित्तपर शासन करता है और उसको अपने नख और दाँत अर्थात् पुलिस और सेनासे प्रतिदिन-का काम लेनेकी ज़रूरत नही पडती।

यह स्मरण रहे कि ऊपर जो कुछ कहा गया है किसी एक राजके लिए नही वरन् राजमात्रके लिए लागू है। छोटे-छोटे राजोसे लेकर बडे-से-बड़े साम्राज्यो तकका यही चित्र है। इसलिए एक वचनमे प्रयुक्त राज शब्द इन सबके लिए आया है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

राजसत्ताका अन्त

जैसा कि हम पिछले अध्यायमे देख चुके है, राज वह संस्था है जिसके द्वारा अधिकार प्राप्त वर्ग दूसरे वर्गोंपर अपना अधिकार कायम रखता है। सेना और पुलिसके द्वारा यह सस्था काम करती है। यदि कोई विरोधी सिर उठाता है तो वह इसके बलसे दबा दिया जाता है। अधिकार-युक्त वर्गका तीसरा शस्त्र कानून है। कानून वर्गसंघर्षकी वीभत्सताको यथा-सम्भव छिपाता है। उसका काम यह है कि शोषित वर्गके जीवनको नित्य-प्रति ऐसे बन्धनोसे जकड रखे कि सेनासे काम न लेना पडे। हर सरकार कानून और अमनकी दुहाई देती है। इसका तात्पर्य यही है कि वस्तुस्थिति-मे कोई गहरा परिवर्त्तन न हो। जो हुकूमत करता है, वह हुकूमत करता रहे, जो दास है वह दास बना रहे। इसके बिना थोडे-से मनुष्य बहुत-से मनुष्योको दबाकर रख नही सकते।

राजका यह स्वरूप ऐसे शब्दाडम्बरसे छिपाया जाता है कि साधारण मनुष्य सचमुच उसको एक निष्पक्ष संस्था समझता है और उससे निरपेक्ष न्यायकी आशा रखता है। पर जब उत्पादनके साधनोका रूप बदलता है और उन साधनोसे काम लेनेवाला दूसरा वर्ग ऊपर उठना चाहता है तो उसे राजके सच्चे स्वरूपका बहुत ही शीघ्र बोध हो जाता है। उसको यह विदित हो जाता है कि राज वस्तुत उस वर्गकी एक प्रकारकी कार्य्य-कारिणी समिति है जिसके हाथमे अबतक आर्थिक और राजनीतिक अधि-कार रहा है। नया वर्ग अपने लिए सुविधाएँ चाहता है पर पुराना वर्ग अपनी अर्थात् राजकी सारी शक्तिसे इन सुविधाओको रोकता है क्योकि वह

समझता है कि यदि नया वर्ग सम्पन्न हुआ तो वह सारे अधिकार अपने हाथमे ले लेगा। इस प्रकार वर्गसङ्घर्ष जो अबतक मन्द और आलीन था, तीव्र और प्रकट हो उठता है। नये-नये उठनेवाले वर्गको यह बात साफ़ देख पडती है कि यदि उसे आगे बढना है तो फिर राजपर क़ब्जा करना चाहिए, विदेशियोसे लडनेके लिए नही, अपने घरेलू प्रतियोगियोसे लड़नेके लिए। 'जिसकी लाठी उसकी भैस।' राजपर कब्जा करनेका अर्थ है सेना और पुलिसपर कब्ज़ा करना अर्थात् इनसे काम ले सकना। इसका दूसरा अर्थ है क़ानून बनानेकी शक्ति प्राप्त करना। आर्थिक और सामाजिक अभ्युदयकी लालसाने ही मध्यमवर्गको सामन्त-सरदारोके हाथसे राजयन्त्र छीननेपर विवश किया। राजशक्तिको हाथमे लेते ही मध्यमवर्ग सामन्तोकी कुर्सीपर जा बैठा था। जो अबतक शोपित था वह स्वय शोषक बन गया। जिस प्रकार पहले थोडे-से क्षत्रियवर्गीय अपनेसे अधिक संख्यावालोपर हुकूमत करते थे, उसी प्रकार पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीके द्वारा थोडे-से मध्यमवर्गीय करोड़ो मनुष्योपर हुकूमत कर रहे है अर्थात् करोड़ो मनुष्योका शोषण कर रहे हैं।

ऐसी दशामे राजके प्रति समाजवादीका क्या रुख हो सकता है? यह तो हम देख चुके है कि वर्गसङ्घर्षको बहुत बुरी चीज़ समझता है। हम यह भी देख चुके है कि वह उत्पादनके साधनोपर व्यक्तियोंके निजी स्वत्वको बुरी चीज़ मानता है और पृथ्वीपर फैली हुई अशान्तिका प्रधान कारण समझता है। उसकी रायमे जबतक यह वैयक्तिक स्वत्व रहेगा तबतक पृथ्वीपर पूँजीशाही, साम्राज्यशाही, वर्गसङ्घर्ष और अन्ताराष्ट्रिय युद्ध आजकी भाँति बने रहेगे और आकाश-पुष्पकी भाँति शान्तिका अभाव रहेगा। वह यह भी देखता है कि सम्प्रति राज पूँजीपतियोके हाथमे है और उस वर्गको दबानेमे अपनी सारी शक्ति लगा रहा है जो पूँजीपतियोके हाथसे उत्पीड़ित और शोषित होनेसे ऊबकर अब सिर उठाना चाहता है। यह वर्ग श्रमिकों और कृषकोका वर्ग है। यह बाते एक और ही पाठ पढ़ाती है। यदि

समाजवादी सचमुच पूँजीशाहीको मिटाना चाहता है तो उसको वही काम करना होगा जो इसके पहले पूँजीपतियोने किया था। उसको राजपर कब्ज़ा करना होगा। राजकी लगाम उसके हाथमे आते ही सरकार उसकी होगी, सेना और पुलिस उसकी आज्ञाओका पालन करेगी, वह अपनी इच्छाके अनुकूल कानून बनवा सकेगा।

ऊपर मैने लिखा है कि समाजवादीको राजपर कब्जा करना होगा। वस्तुतः यह निरर्थक-सा वाक्य है। समाजवाद एक सिद्धान्त है। उसको माननेवालोका कोई विशेष आर्थिक वर्ग नही होता। मेरा असली तात्पर्य यह था कि जो आजकलका प्रताडित वर्ग है, अर्थात् शरीर और मस्तिष्कसे काम करनेवाले श्रमिको और कृषकोका वर्ग, उसको राजकी बाग सँभालनी होगी। जबतक राजशक्ति अपनी नही होती तबतक पूँजीशाहीका बाल बाँका नही हो सकता, समाजवाद केवल पुस्तकोके पन्नोमे ही धरा रह जायगा। आर्थिक और सामाजिक अभ्युदयकी इच्छाने ही शोषितोको सिखलाया है कि उन्हे हुकूमत करनी होगी। मूसाकी बाबत कहा जाता है कि वह आग ढूँढने गये थे, पैगम्बर हो गये। इसी प्रकार वर्गोका अभ्युत्थान होता है।

यहाँपर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठना है कि राजपर कब्जा कैसे होता है। साधारण तौरपर तो यह देखनेमे आता है कि सुव्यवस्थित देशोमे एकके बाद दूसरा राष्ट्रपति आता है, एककी जगह दूसरा मन्त्रिमण्डल लेता है। इसीको एककी जगह दूसरी सरकारका आना कहते है। परन्तु विचार करनेसे यह देख पडता है कि व्यक्ति भले ही बदलते रहे पर राजकी नीतिमे कोई तात्त्विक परिवर्त्तन नही होता। इसका कारण यह है कि शासनकी डोर एक ही वर्गके हाथमे होती है। आज पूँजीपति वर्ग प्रधान है। बडे-बड़े पूँजीपति अपनी कोठी छोडकर सरकारी दफ्तरोमे नही बैठते। यह काम तो वह अपनी कठपुतलियो अर्थात् नरेशो, राष्ट्रपतियो और मन्त्रियोको सौप देते है पर इतना बराबर ध्यान रखते है कि कोई राज-

नीतिक दल उनका नुकसान न करने पावे। ब्रिटेनके मज़दूर दलका इतिहास इस बातका साक्षी है। इस दलके नेता अपनेको समाजवादी कहते है पर उनका विश्वास है कि एक दिन वोटोके बलपर वह राजशक्तिके स्वामी बन जायँगे। अबतक तो वह मुँहकी खाते रहे है। पूँजीपति वर्ग उनको पार्लिमेण्टमे आने देगा, मन्त्री भी बनने देगा क्योकि वह जानता है कि इस प्रकार सरकारी कुर्सियोपर बैठनेवाले पुरानी पद्धतिको बहुत नही बदल सकते। पर वह जब देखेगा कि यह लोग सचमुच पूँजीशाहीसे टक्कर लेना चाहते है तो इनके पाँव न जमने देगा। १९८१ वि० मे मजदूर दलका बहुमत था पर वह कुछ न कर पाया। पाँच वर्ष बाद उसका फिर बहुमत हुआ परन्तु फिर निकाला गया। यह सब जानते है कि यदि आज ब्रिटेनमे कोई सरकार पूँजीशाहीके छत्तेमे सचमुच हाथ डाल दे तो वह बुरी तरह घायल होगी। पूँजीपति अपनी स्थितिकी रक्षाके लिए सब कुछ कर डालेगे। भयंकर गृहयुद्ध छिड जायगा। इस युद्धका क्या रूप होगा वह स्पेनमे देख पडा है। यह बात किसीको अच्छा लगे या न लगे पर इसमे पूँजीपतियोका कोई दोष नही है। उन्होने सामन्तवर्गसे लडकर यह पद प्राप्त किया है। उनके सारे हित इसके साथ बँधे हुए है। अपने स्वत्वोके लिए न लडना आत्महत्या करनेके समान होगा। यह ठीक है कि पूँजीशाही कई ऐसे कानूनोको बनने देती है जिनसे कुछ देरके लिए उसके मुनाफेमे कमी हो जाती है और मजदूरोकी सुविधाएँ बढ जाती है पर यह उसकी युद्धकला है। कुशल सेनानी पीछे हटकर भी विजय प्राप्त करता है। छोटे-छोटे सुधारोकी दूसरी बात है पर पूँजीशाही धीरे-धीरे अपना गला आप न घोटेंगी और न किसी भी पार्लमेण्ट या व्यवस्थापिका सभाको ऐसा करने देगी।

अतः वैध उपायोसे, व्यवस्थापक सभाके वोटोसे, राजपर वह कब्जा प्राप्त नही हो सकता जो समाजवादीको अभीष्ट है। इसीलिए समाजवादी बराबर कहते है कि राजपर क़ब्जा क्रान्ति द्वारा हो सकता है। इतिहास

भी उनके कथनका समर्थन करता है। ब्रिटेन और फ्रासमे क्रान्तिके द्वारा ही मध्यम वर्गने सामन्त वर्गको हटाकर राजपर क़ब्ज़ा किया। रूसमे श्रमिक वर्गको क्रान्ति द्वारा ही अधिकार मिला। जर्मनी और इटलीमे अपने अधिकारको पुनः स्थापित करनेके लिए पूँजीशाहीको क्रान्ति करनी पडी।

क्रान्ति अवैध, कानूनके विरुद्ध, होती है। सफल क्रान्तिके बाद क्रान्तिकारियोकी इच्छा ही कानूनका रूप धारण करती है पर जब-तक राजयन्त्र, या यो कहिए कि उसके प्रत्यक्ष चिह्न सेना और पुलिस, पर कब्जा नही हो जाता तब तक वह गैरकानूनी है। क्रान्तिका अर्थ केवल सरकार बदलना नही वरन् राजके साँचेको बदलना है; बलका मुकाबिला बलसे करना है, एक वर्गके आधिपत्यको हटाकर दूसरे वर्गके आधिपत्यको स्थापित करना है। इसीलिए यदि क्रान्ति सफल हो गयी तो जो नयी सरकार बनती है वह उन कामोको कर सकती है जो वोटोके द्वारा चुनी गयी सरकार नही कर सकती। वोटके बलपर खडी सरकार वस्तुस्थितिको बराबर बदल नही सकती। वह उन जिम्मेदारियोसे बहुत कुछ बँधी हुई है जो उसके पहलेकी सरकारे छोड गयी है। जिन कानूनोकी छायामे वह चुनी गयी उनको वह एकदम तोड नही सकती। जो लोग वोटरोके कन्धोपर बैठकर राजके विधाता बने है उनकी मनोवृत्ति भी ऐसी नही हो सकती कि वह अतीतको एकदम मिटाकर नये वर्तमान और भविष्यका निर्माण करे। परन्तु क्रान्तिकारी इन बन्धनोसे मुक्त होता है। उसकी मनोवृत्ति उग्र न होती तो वह क्रान्तिके भयावह और कण्टकाकीर्ण मार्गपर पॉव ही न रखता। जब वह कानूनके विरुद्ध चलकर शक्तिसम्पन्न हुआ है तो उसे उस कानूनका कोई व्यामोह नही हो सकता। उसको मिटा देनेमे उसे कोई हिचक न होगी। उसको कोई अधिकार सौपता नही, वह आप लेता है। पिछले अधिकारी दूसरे वर्गके थे, वह दूसरे वर्गका है, अत. उनकी छोडी हुई ज़िम्मेदारियाँ उसको बाँध नही सकती। न वह उनके लिये हुए ऋणको देनेके लिए

बाध्य है न उनके द्वारा की गयी सन्धियोंका मानना उसके लिए अनिवार्य्य है। व्यवहारमें सम्भवतः वह इनमेसे बहुत-सी जिम्मेदारियोको अपनी इच्छासे ओढ लेगा पर सिद्धान्तदृष्ट्या उसके हाथ-पाँव उन्मुक्त है।

पर क्रान्ति हो कैसे? इसका अब तक तो इतिहासने एक ही उत्तर दिया है। क्रान्ति जहाँ-जहाँ हुई है सशस्त्रा ही हुई है। ब्रिटेन, फ्रान्स और रूसको इसी उपायसे सफलता मिली। जहाँ-जहाँ क्रान्ति सफल हुई है वहाँ या तो विशेष परिस्थितिके कारण आरम्भसे ही क्रान्तिकारियोका भौतिक बल अधिक था या वह शीघ्र ही राजके भौतिक बल अर्थात् सेना, पुलिस, खजाना और युद्धसामग्रीको अपनी ओर मिला सके। परन्तु बलका जवाब बलसे ही दिया गया, तोप और तलवारने तोप और तलवारसे लोहा लिया। इस बातको देखकर कुछ लोग यह कहते है कि समाजवादको हिसासे पृथक् नही कर सकते, क्योकि समाजवादी व्यवस्था हिसात्मक क्रान्तिके बिना स्थापित नही हो सकती। यह उनका समाजवादके विरुद्ध सबसे बडा अभियोग है।

पर यह आक्षेप न्याय्य नही है। इसमे उतना ही तथ्य है जितना इस आक्षेपमे कि स्वाधीनता हिसात्मक, अथच त्याज्य, है। हमारे पास पृथ्वीका हजारो वर्षका इतिहास है पर ऐसा एक भी उदाहरण नही मिलता जिसमे किसी राष्ट्रने सशस्त्र, हिंसात्मक, युद्धके बिना अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता फिरसे प्राप्त की हो। हमारे देखते-देखते पिछले वर्षोमे शस्त्र-के बलसे, जेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, फ्रास, बेल्जियम, हालैण्ड, नार्वेकी स्वाधीनता छिनी और शस्त्रकी सहायतासे ही फिर वापस मिली। परन्तु हिसासाध्य होनेसे क्या स्वाधीनताकी उपादेयतामे कमी आगयी? इसी प्रकार समाजवादका विचार करते समय क्रान्तिके साधनोका जिक्र छेडना अनुचित है और विषयान्तर करना है। मूल प्रश्न यह है कि समाजवाद स्वतः अच्छी चीज है या नही, उसका दार्शनिक आधार कैसा है, उसने मनुष्य समुदायकी अवस्थाके रोगोका जो निदान किया है वह काल्पनिक

है या साधार और जो लक्ष्य वह अपने सामने रखता है वह मनुष्योके लिए कल्याणकारी है या नही। साधनका प्रश्न गौण है। यदि स्वाधीनता अच्छी चीज है तो पराधीनको स्वाधीन बननेका प्रयत्न करनेका हक है। पिंजडेमे बन्द चिडियाको यह सुनाना कि दूसरी चिडियोकी भाँति स्वच्छन्द उडनेका तो तुमको नैसर्गिक हक हैं पर तुम इस जन्मसिद्ध हकको मेरे बताये हुए उपायसे ही प्राप्त करो, उसकी हँसी उडाना है। चिडिया अपने कैद करनेवालोकी राय माननेको बाध्य नही की जा सकती। वह अपने पिजडेके जिस तारको जहाँसे कमजोर देखेगी उसको वहीसे तोडकर बाहर निकल जायगी। अन्ताराष्ट्रिय विधान इस बातको स्वीकार करता है।

यह तो सिद्धान्तकी बात हुई पर व्यवहार-दृष्ट्या ऐसा कोई समझदार नही है जो अहिंसाको हिंसासे अच्छा न समझता हो। हिंसासे क्रूरता पृथक् नही की जा सकती और शस्त्र प्रयोगमे गेहूँके साथ घुनके पिस जानेकी सदैव सम्भावना रहेगी। इसलिए जहाँ हिंसा अहिसाके मुकाबिले-का प्रश्न होगा वहाँ सभी अहिसाको पसन्द करेगे। समाजवादके आचार्य्यो-के सामने यूरोपमे जो परिस्थिति थी उसमे उनको हिसात्मक उपायोसे ही सफलताकी आशा हो सकती थी। मार्क्स, एंगेलस या लेनिनके सामने कोई दूसरा मार्ग न था। पर वह लोग नरमेधके पुरोहित नही थे। उनको हिसामे कोई खास रस नही था, इसलिए उन्होने हिसाका उपदेश कभी नही किया है। स्वयं लेनिनने 'दि स्टेट ऐण्ड रेवोल्यूशन'मे लिखा है "मध्यम वर्गीय राजके स्थानमे सर्वहारा राज साधारणत हिसात्मक क्रान्ति-के द्वारा ही स्थापित हो सकता है।" इसका स्पष्ट तात्पर्य्य यह है कि असाधारण परिस्थितिमे वह अहिसात्मक क्रान्तिकी सम्भावना भी स्वीकार करते थे। कौन-सी परिस्थिति साधारण है और कौन-सी असाधारण इसका कोई तात्त्विक विवेचन नहीं हो सकता, यह देशकालपर निर्भर है।

पर इस समय तो यह प्रश्न और भी अनावश्यक है। महात्मा गाँधी-

ने अहिंसाको राजनीतिमे स्थान दिया। उनका ऐसा विश्वास था कि अन्ताराष्ट्रिय ग्रन्थियाँ भी इसके द्वारा सुलझायी जा सकती है। भारतने उनका अनुसरण किया और उसने इसी उपायसे अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की। स्वतन्त्र होनेके बाद भी वह यथाशक्य इसी नीतिका अवलंबन किया है। शक्ति रखते हुए भी उसने पुर्तगालवालोसे गोआ वापस लेने-का प्रयत्न नही किया। उसके आचरणका अन्ताराष्ट्रिय जगत्पर प्रभाव पडा है। इस देशमे प्रतिपादित पञ्चशीलका यशोगान और देशोमे भी होता है। भले ही दूसरे देश इस नीतिको व्यवहारमे अवतरित न करते हो या सिद्धान्तरूपसे भी ऐसी बातोका स्वीकृत होना कल्याणकारी है। इस बातकी ओर लोगोका ध्यान अगत्या गया है कि यदि पैतीस करोडकी आबादीवाले भारत जैसे विशाल देशका अहिंसात्मक उपायोसे स्वाधीन होना सम्भव है तो अहिंसात्मक क्रान्ति द्वारा समाजवादी व्यवस्थाका कायम होना भी सम्भव है। यह कोई नही कहता कि हिंसा मनुष्य समुदायके लिए आदर्श है।

पर जैसा कि हमने ऊपर कहा है इस गौण विषयपर शास्त्रार्थ उठाना उचित नही। यह तो मूल विषयसे ध्यान हटाकर विषयान्तरकी ओर ले जानेकी एक चतुरतापूर्ण युक्ति है और समाजवादको बदनाम करनेका उपाय है। इसमे उलझना व्यर्थ है।

अस्तु, मान लिया जाय कि सफल क्रान्तिके द्वारा अद्यावधि-शोषित-श्रमिक और कृषकवर्गने राजपर कब्जा प्राप्त कर लिया। फिर क्या होगा? जो उत्तर पहले मुँहको आता है वह तो यही है कि इस बार भी वही होगा जो अबतक होता आया है अर्थात् अपने क्रान्तिकालीन नारोको भूलकर यह वर्ग भी राजसे अपने संकुचित वर्ग-हितोके साधनका काम लेगा। भेद इतना है कि अबतक यह शोषित था अब यह शोषक होगा और दूसरे वर्ग शोषित होगे।

पर यह उत्तर ठीक नही है। पहले तो इस वर्गके कोई संकुचित वर्ग-हित है ही नही। यह तो शोषणसे व्यथित होकर उठा था अत इसका एक ही उद्देश्य है और वह है शोषणको मिटा देना। जिन समाजवादी सिद्धान्तोकी प्रेरणाने इसको प्राणित किया है उनका भी यही परिणाम हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यह वर्ग इस समय सबसे नीचा है। इसमे वह लोग है जो उत्पादनकी किसी सामग्रीके स्वामी नही है। इनकी जीविका दूसरोकी कृपापर निर्भर है। अत अब यह किसको सतायेगा ? इसके उत्तरमे स्यात् यह कहा जायगा कि जो आजकल शोषक है वही भविष्यमे शोषित हो जायँगे। पर ऐसा नही हो सकता। इस समय शोषकोकी सख्या थोडी है परन्तु शोषितोकी संख्या बहुत बडी है। मुट्ठीभर पूँजीपति प्राय सारी जनताको कामधेनु बनाकर दूह रहे है। क्रान्तिके बाद तो यही जनता अधिकारमे होगी पर यह आजके पूँजीपतियोका शोषण नही कर सकती। थोडेसे आदमी बहुतोका शोषण कर सकते है, बहुतसे आदमी थोडोका शोषण नही कर सकते। दो-चार शेर मिलकर जङ्गलके और पशुओका शोषण कर सकते है पर यदि सारे पशु मिल जायँ और शेरोको वशमे करके उँनका शोषण करना चाहे तो नही कर सकते। दो दिनमे शेर ख़त्म हो जायँगे। थोडोके आहार बहुत हो सकते है, बहुतोके लिए यह सम्भव नही कि थोडोको आहार बनाकर कुछ दिनतक अपना पेट भरे। अत. मजदूर और कृषक वर्गके हाथमे राजशक्ति आ जानेपर शोषण बन्द हो जायगा। इसका अर्थ यह है कि राज शोषणका साधन न रह जायगा। पर अबतक तो यही उसका प्रधान लक्षण है कि वर्ग-संघर्षमय इस जगत्मे राज एक वर्गको दूसरेका शोषण करनेमे सहायता देता है। अब यह पहली बात न होगी। सेना, पुलिस और कानून बनानेका अधिकार होते हुए भी इनका उपयोग पुराने ढङ्गपर न होगा। राजके पुराने रूपका अन्त हो जायगा।

इस प्रकार श्रमिको और कृषकोके हाथमे अधिकार आनेपर यह संस्था

जो आजसे हज़ारों वर्ष पहले शोषणको सुव्यवस्थित, चिरायु और सफल बनानेके लिए स्थापित हुई थी और जो आजतक इस कामको करती आयी है स्थानच्युत हो जायगी। अपने असली स्वरूपको खोकर राज राज न रह जायगा। पर उसका ढाँचा बहुत दिनोतक रहेगा। समाजवादी न तो फौज या पुलिसको बर्खास्त कर देगे, न कानून बनवाना छोड देंगे। उनके सामने अभी तो बहुत काम पडा होगा जिसमे इन साधनोसे सहायता मिलेगी।

समाजवादियोका उद्देश्य वर्गसंघर्षको मिटाकर वर्गहीन समाजको जन्म देना है। वह यह भी चाहते है कि मनुष्य द्वारा मनुष्यका शोषण न हो। पर यह बात सङ्कल्पमात्रसे न होगी। कृषको और श्रमिकोके हाथमे शासन आ जाने मात्रसे भी न होगी। जो लोग अबतक शोषणकी बदौलत पलते रहे है वह एकदम चुप नही बैठ सकते। यदि सम्भव हुआ तो वह विदेशियोको अपनी सहायताके लिए ले आयँगे। फ्रेंच क्रान्तिके बाद फ्रासके राजवंश और सरदारोकी ओरसे ब्रिटेन, जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया शत्रु हो गये थे। हालमे रूसी क्रान्तिके बाद रूसको चार वर्षतक रूसी विद्रोहियो और उनके विदेशी हिमायतियोका मुकाबिला करना पडा था। इसके अतिरिक्त देशके भीतर भी नये अधिकारियोको पदे-पदे पुराने स्वार्थोसे लडना होगा। उनके हर काममे अड़चन डाली जायगी। हर प्रकारके ऐसे प्रयत्न किये जायँगे जिनसे उनके शासनकी व्यवस्था बिगड़ जाय, उनके प्रयोग असफल हो, प्रजा उनसे असन्तुष्ट हो। उनके साथ बात-बातमे असहयोग किया जायगा। उनकी अनुभवहीनतासे हर प्रकारका अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा की जायगी। बिना इस प्रकारके कुयत्नोको असफल बनाये क्रान्ति विफल हो जायगी। रूसकी क्रान्तिकारी सरकारको वह सब दिक्कतें भुगतनी पडी थी। यदि नये शासक दृढप्रतिज्ञ है तो वह इस विपत्ति-सागरको भी पार कर जायँगे और क्षुद्र स्वार्थियोको मुँहकी खानी पडेगी। उनकी सारी कोशिशे विफल होगी और वर्गभेद मिटकर रहेगा। इस काममे नये शासकों-

को राजके ढाँचेसे अर्थात् सेना, पुलिस और क़ानूनसे बड़ी सहायता मिलेगी। जो शस्त्र शोषणको क़ायम रखनेके लिए निकाला गया था वह यदि अच्छे हाथो पड़ जाय तो उससे शोषणका अन्त करनेका काम लिया जा सकता है। इसलिए समाजवादी श्रमिक और कृषक राजके ढाँचेको एकदम बिगाड़ न देगे।

इस ढाँचेकी सहायतासे उनको अपना मूल उद्देश्य अर्थात् समाजवादी व्यवस्था और वर्गहीन समाजका संस्थापन, सिद्ध करना होगा। पुराने शोषकवर्गके विरोधकी कमर टूट जानेपर जो लोग उस वर्गमे थे या उससे सम्बन्ध रखते थे वह भी श्रमकी महत्ताको स्वीकार कर लेगे और अपनी शक्ति तथा योग्यताके अनुसार काममे लग जायँगे। ऐसा होनेपर समाजका वर्गभेद, अथवा वर्गसंघर्ष, मिट जायगा। दूसरी ओर उत्पादनके साधनोपर समुदायका अधिकार हो जायगा। जो युवक और युवती इस नये युगमे शिक्षा पाकर प्रौढ जीवनमे कदम रखेगे, उनके लिए रुपया जोड़ना और रुपयेके लिए काम करना एक अस्वाभाविक-सी बात प्रतीत होगी। वह लोकहितको सामने रखकर काम करेंगे और समाजकी समृद्धिमे शरीक़ होना अपना सबसे बडा पुरस्कार समझेगे। इस परिस्थितिमे समाजवादी व्यवस्था आप ही स्थापित हो चलेगी। पर यह समझ रखना चाहिए कि अकेला कोई एक देश पूर्णरूपेण समाजवादी पद्धति नही चला सकता। अस्तु, जिस दिन यह व्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो जायगी उस दिन राज अनावश्यक हो जायगा। न कानून बनानेकी आवश्यकता रह जायगी, न सेनाकी, न पुलिस-की। राजका ढाँचा व्यर्थका भार होगा और आप ही टूट जायगा। एंगेल्सके शब्दोमे, राज मुरझाकर झड़ जायगा। वह दिन आज नही है पर आ सकता है और प्रत्येक समाजवादी ऐसी आशा करता है कि आयेगा। उस समय भी कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो सामूहिक जीवनको खराब करना चाहे। लोकमत उसको सुधारने और यदि ज़रूरत हो तो

दण्ड देनेके लिए काफ़ी होगा। समुदायकी आत्मरक्षा-प्रवृत्ति वेतनभोगी सेनाओकी अपेक्षा रक्षाका अच्छा आयोजन कर सकती है क्योकि यह रक्षा किसी एक वर्गके हितोकी रक्षा नही वरन् सबकी रक्षा होगी।

इस सम्बन्धमे एंगेल्सके नीचे लिखे वाक्य इस सारे कथनका निचोड समझा देते हैं—'सर्वहारा वर्ग राज्यशक्तिपर कब्जा करता है और उत्पीडनके साधनोको राजसम्पत्तिमे बदल देता है पर ऐसा कर लेनेपर वह खुद सर्वहारा नही रह जाता, सारे वर्गभेद और वर्गविरोध खत्म हो जाते है और राजरूपसे राजका भी अस्तित्व खत्म हो जाता है। पुराने समाजको, जिसका जीवन वर्गसंघर्षमे बीतता था, राजकी अर्थात् शोषकवर्गके सघटनकी आवश्यकता थी ताकि उत्पादनकी तत्कालीन अवस्था कायम रहे; अतः उसको राजकी विशेष जरूरत इसलिए थी कि शोषितवर्ग (जो समय-समयपर गुलाम, ज़मीनके साथ बँधा किसान या मजदूरका रूप धारण करता रहता है) बलात् दबाया जा सके। ऊपरसे तो राज समाजका प्रतिनिधि था। जब राज सचमुच सारे समाजका प्रतिनिधि हो ' जायगा तो वह अनावश्यक हो जायगा। जब कोई ऐसा वर्ग नही रह जाता जिसको दबाना हो, जब वर्ग-आधिपत्य और पहलेकी उत्पादन-सम्बन्धी कुव्यवस्थासे उत्पन्न वैयक्तिक जीवनके लिए संघर्षके साथ-साथ आपसके झगडे और अत्याचार खत्म हो जायँगे तो ऐसी कोई चीज ही न रह जायगी जिसका शमन करना हो और विशेष दमनकारी शक्ति अर्थात् राजकी जरूरत न रहेगी। जो पहिला काम सारे समाजके प्रतिनिधिके रूपमे राज करता है—अर्थात् सारे समाजके नामपर उत्पादनके साधकोपर कब्जा करना—वही राजकी हैसियतसे उसका अन्तिम स्वतन्त्र काम है। क्रमशः सामाजिक सम्बन्धके विभिन्न क्षेत्रोमे राजका हस्तक्षेप अनावश्यक हो जाता है और फिर आप ही विलीन हो जाता है। व्यक्तियोपर शासन करनेके स्थानमे

वस्तुओंकी व्यवस्था और उत्पादनकी क्रियाओका सञ्चालन रह जाता है। राजको कोई ख़त्म नही करता, वह खुद मुरझाकर झड जाता है।*

---

* ऊपरके अवतरणमें जो एंगेल्सके 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राजकी उत्पत्ति'से लिया गया है। उस शोषितवर्गके लिए जो भविष्यमें समाजवादी व्यवस्था क़ायम करेगा 'सर्वहारा' शब्दका प्रयोग किया है। हमने इस अध्याय और पिछले अध्यायमें इस वर्गको श्रमिकों और कृषकों-का वर्ग कहा है। वस्तुत दोनों नामोंमें कोई तात्त्विक विरोध नहीं है पर एक भेद है जिसे समझ लेना आवश्यक है। श्रमिक तो सर्वहारा है क्योंकि सिवाय अपने शरीर और मस्तिष्कके उसके पास उत्पादनका कोई दूसरा साधन नहीं है। पर कृषक बड़ा व्यापक नाम है। ऐसे लोग भी कृषक कहलाते हैं जिनके कब्ज़ेमें सैकड़ों बीघे ज़मीन होती है। यह लोग मज़-दूरोंसे खेती कराते हैं और दूसरोंको खेतीके लिए ज़मीन देते हैं। इनको कृषक इसीलिए कहते हैं कि यह ख़ुद ज़मीनके मालिक नहीं हैं वरन् किसी ज़मीनदारको कुछ लगान देते है। ऐसे लोग ख़ुद शोषकवर्गमें हैं। असली कृषक तो वह है जो किसी अर्थमें ज़मीनका मालिक नहीं कहा जा सकता, जो अपनी जीविकाके लिए दूसरोंकी कृपापर आश्रित है। ऐसे कृषककी अवस्था मज़दूरके ही बराबर है और इस प्रकारका शोषित श्रमिक और कृषक ही सर्वहारा है। वर्गसंघर्ष और वर्गआधिपत्यके यह पुराने शिकार ही वर्गहीन समाजकी सृष्टि कर सकते हैं।

सोलहवाँ अध्याय

समाजवादी व्यवस्था—प्रथम सोपान

इस पुस्तकके तीसरे अध्यायमे एक प्रश्न पूछा गया था। वह प्रश्न संक्षेपमे यह था कि जगत्मे इतनी अशान्ति, इतना दु ख, क्यों है। हमने चौथे अध्यायमे इस प्रश्नके कुछ उत्तरोपर विचार किया और यह दिखलाया कि वह अपर्याप्त है। उसके बाद इस समस्यापर समाजवादीके दृष्टिकोणसे गौर किया और उन दो-तीन मुख्य बातोके स्वरूपका निरूपण किया गया जो समाजवादीकी रायमे सारी बुराईकी जड है। प्रसङ्गतः हमने यह भी दिखलाया है कि इन दो-तीन बातोकी सन्तति बढ़कर कितनी व्यापक और भयावह हो गयी जैसा कि पिछले अध्यायोसे ज्ञात होता है, जबतक उत्पादनके मुख्य साधनोपर व्यक्तियोका स्वाम्य रहेगा तबतक अर्थमूलक वर्ग रहेगे और वर्गसंघर्ष जारी रहेगा। इसके फलस्वरूप पूँजीशाही और उसकी प्रसूति साम्राज्यशाही क़ायम रहेगी और वर्ग-आधिपत्यका साधन राज भी कायम रहेगा। इन सबके क़ायम रहनेका एकमात्र अर्थ है आपसमे अन्धी प्रतियोगिता, व्यक्ति-व्यक्तिमे, वर्ग-वर्गमे, राष्ट्र-राष्ट्रमे कलह, शोषण, राजनीतिक और आर्थिक दासता और विषमता, क्रोध और विद्रोह तथा दमन; हिंसा और प्रतिहिसा, दूसरे शब्दोमे दु.ख और अशान्ति। इस निरन्तर दुःख और अशान्तिके कारण ही मानव-समुदाय जङ्गली पशुओका समुदाय हो रहा है और सच्चे समाजका स्वरूप धारण नही कर सकता; इसके कारण यह आशङ्का है कि कही सहस्रो या लाखो वर्षोकी उपार्जित संस्कृति एवं सभ्यताका ही लोप न हो जाय।

इस अध्यायमे हम यह देखना चाहते है कि समाजवादी इस अवस्थामे

कैसे सुधार करना चाहता है। कुछ हदतक तो उसके कार्य्यक्रम और कार्य्य-शैलीका सकेत पिछले अध्यायोमे भी आ चुका है, क्योकि जिस बातको वह दोष समझता है स्वभावत: उसको दूर करनेका प्रयत्न करेगा। यह भी मानना ही चाहिए कि इन बुराइयोके दूर हो जानेपर जो व्यवस्था रह जायगी वह शुद्ध समाजवादी व्यवस्था होगी। यह अनुमान ठीक है, फिर भी किञ्चित् विस्तारके साथ इस प्रश्नपर विचार करना श्रेयस्कर होगा। समाजवादियोसे बहुधा लोग यह सवाल करते है। रूसमे जो प्रबन्ध है वह इस सवालका जवाब है। देश-कालकी दृष्टिसे इसमे थोडा-बहुत परिवर्त्तन होता रहेगा।

समाजवादीके लिए पहली जरूरत यह है कि वह राजपर अधिकार प्राप्त करे। सम्भव है यह अधिकार वैधानिक उपायोसे ही प्राप्त हो जाय परन्तु अबतक यह अधिकार-परिवर्तन क्रान्ति द्वारा ही होता रहा है। समाजवादी क्रान्तिका यह अर्थ होगा कि राजनीतिक अधिकार उस वर्गके हाथमे आ जाय जो आज शोषित है। इस क्रान्तिकी पद्धति क्या होगी, यह हिंसात्मक होगी या अहिंसात्मक, यह हमारे लिए अप्रासङ्गिक है। पर यह आवश्यक है कि राजनीतिक अधिकार समाजवादियोके हाथमे आये। केवल इतना ही काफी नही है कि जिन लोगोका राजयन्त्रपर कब्जा हो वह समाजवादी विचार रखते हो पर यह नितान्त आवश्यक है कि यह समाज-वादी अद्यावधि शोषित वर्गके हो अर्थात् मजदूर और किसान, एक शब्दमे सर्वहारा या तत्सम अर्थात् निम्न मध्यमवर्गके हो। इसका तात्पर्य्य यह है कि यदि समाजवादी अधिकारियोको इस दलितवर्गकी सक्रिय सहानु-भूतिके द्वारा अधिकारकी प्राप्ति हुई होगी तब तो वह समाजवादी व्यवस्था-की ओर निर्भयताके साथ बढ सकेगे, अन्यथा यदि वह दूसरे अर्थात् आज-कलके साधिकार, वर्गोकी सहायतासे शासनकी गद्दीपर बैठेगे तो उनको पदे-पदे समझौतेकी नीति बरतनी पडेगी और अपनी समाजवादी कार्य्यशैलीको

पीछे रखकर अपने हिमायतियोका हितसाधन करना पडेगा। उनके हाथो बहुत-से उपयोगी सुधार हो जायँगे पर सुधारमात्रके लिए क्रान्तियाँ नही होती।

इसका एक और अर्थ निकलता है, वह भी समझ लेना चाहिए। यदि समाजवादियोकी परिस्थिति ऐसी ही रही जैसी कि लोकतन्त्र देशोमे विभिन्न राजनीतिक दलोकी होती है अर्थात् यह कि कभी पार्लिमेण्टमे बहुमत हो गया तो दो-चार वर्षतक मन्त्रिमण्डलमे आ गये, अल्पमत हुआ तो पदसे पृथक् हो गये तो भी वह कुछ नही कर सकते। ऐसे राजनीतिक दलोको सदैव यह डर लगा रहता है कि यदि हमने कोई व्यापक उलट-फेर किया तो हमारे बाद जिस दलका बहुमत होगा वह हमारा किया-धरा सब उलट देगा, अत. वह डरकर ही आगे बढते है। न तो उनसे अतीतसे नाता तोडते बनता है, न अनागतकी ओर लम्बे डग डाल सकते है। ऐसे लोग भी साधारण सुधारक होकर ही रह जाते है। यदि समाजवादी व्यवस्था कायम होनी है तो यह आवश्यक है कि समाजवादी देशके एक नही, एक मात्र राजनीतिक दल हो। यह निश्चय होना चाहिए कि यह जो कुछ करेगे उसमे स्थायित्व होगा और उनको दूसरे दलोके साथ समझौता करके अपनी कार्य्यपद्धतिमे परिवर्त्तन करनेकी जरूरत नही है। यह स्थायित्व तभी हो सकता है जब साधारण पार्लिमेण्टरी ढङ्ग कुछ कालके लिए स्थगित-सा हो गया हो और समाजवादियोके हाथमे क्रान्तिके द्वारा अधिकार आया हो।

इस जगह एक आक्षेपपर विचार करना आवश्यक है। कुछ लोग यह कहते हैं कि यदि समाजवादमे कुछ तथ्य है तो समाजवादी कही छोटेसे क्षेत्रमे उसका प्रयोग करके उसकी व्यावहारिकता सिद्ध करे। यूरोपमे कई बार छोटे-से क्षेत्रमे समाजवादी प्रयोग करनेका प्रयत्न किया गया। समाजवादी बस्तियाँ तक बसायी गयी। पर यह सब प्रयोग असफल रहे। आज रूसमे और चीनमे ही ऐसा प्रयत्न सफल हो रहा है। कारण स्पष्ट है। जबतक सारे देशमे समाजवादी वातावरण न हो तबतक कोई एक कल-

कारखाना समाजवादी ढङ्गसे नही चल सकता। जो मिल मालिक ऐसा करने चलेगा उसका दो दिनमे दिवाला निकल जायगा। बिना सरकारी सहायताके सम्मिलित खेती भी नही हो सकती। यह तो हो सकता है कि मुनाफेकी कुछ रकम मजदूरोमे बाँट दी जाय या खेत-कारखानेके चलानेमे कुछ उनकी भी राय ली जाय पर इतनेसे समाजवादकी पुष्टि नही होती। जिस पद्धतिके अनुसार मालगुजारी ली जाती है, आमदनीका टैक्स लिया जाता है, बङ्को या महाजनोसे ऋण मिलता है, बाजारोमे माल बिकता है, उसके विरुद्ध चलकर कोई व्यवसायी सफल नही हो सकता। अत. बिना शासनके आसनपर आरूढ हुए समाजवादी प्रयोग नही चल सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी समाजवादीको यह चुनौती देता है कि तुम समाजवादकी व्यावहारिकता छोटे क्षेत्रमे दिखला दो तो उसका यही उत्तर है कि ऐसा नही हो सकता।

गान्धीवाद और समाजवादका सवाल उठाना भी निरर्थक है। गान्धीवाद या तो साधन है या साध्य। यदि वह साधन है तो यह तप, इन्द्रिय-निग्रह, उदारता आदिका नाम है। इन चीजोके स्वरूपके विषयमे थोडा-बहुत मतभेद भले ही हो पर समाजवादियोको इनसे कोई सैद्धान्तिक मतभेद नही है। इतना ही नही सफल समाजवादी भी तपस्वी होता है। समाजवादके आचार्य कार्लमार्क्स तपश्चर्या और त्यागकी मूर्ति थे। यह बातें किसी सम्प्रदाय विशेषकी निजी सम्पत्ति नही है। यदि गान्धीवाद किसी प्रकारका साधन है तो उससे कोई और वस्तु प्राप्त होती होगी। योग-दर्शनमे पतञ्जलिने यम-नियमोको साधन ही माना है और उनका परिणाम 'द्रष्टु' स्वरूपेऽवस्थानम्'—पुरुषका कैवल्य—माना है। इस दृष्टिसे समाजवादी व्यवस्थाके साधन—कृषको और श्रमिकोका सघटन, समाजवादी विचारोंका प्रचार, राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन इत्यादि—सर्वथा व्यवहार्य्य है। यदि एक व्यक्ति यह कह सकता है कि तप, अहिसा, सत्य आदिकी प्रतिष्ठा प्राप्त होनेसे मोक्ष होता है तो दूसरा व्यक्ति भी यह कह सकता है कि

समाजवादी आन्दोलनके चरमावस्थातक पहुँच जानेपर मनुष्योको सुख, समृद्धि और शान्तिका अनुभव होगा। हाँ, दोनोमे एक प्रत्यक्ष भेद है। एकका सम्बन्ध व्यक्तियोसे है अतः उसका फल जल्दी देख पड जाता है, दूसरेका सम्बन्ध राष्ट्रोसे है, अत. उसका फल दीर्घकालमे देख पडता है।

वस्तुतः समाजवादकी व्यावहारिकताका सबूत माँगना वैसा ही है जैसे स्वाधीनताकी व्यावहारिकताका प्रमाण माँगना। न समाजवादका प्रयोग छोटे-से क्षेत्रमे हो सकता है, न स्वाधीनताका। दोनोके लिए कठिन परिश्रम करना होता है और यह परिश्रम दीर्घकालतक जारी रखना होता है। बिना राजयन्त्रपर कब्जा किये दोनोसे एकका भी आस्वाद नही हो सकता। इसलिए इस प्रकारके कुतर्क उठनेपर किसी भी समाजवादीको विचलित होनेका कोई कारण नही है। उसे विश्वास रखना चाहिए कि जिस दिन उसके हाथमे शासनका सूत्र आयेगा, उसी दिन वह समाजवादकी व्यवहार्य्यता सिद्ध करनेमे समर्थ होगा।

अस्तु, अधिकार प्राप्त करके समाजवादी कल-कारखानो, बङ्को, रेलो, जहाज़ो, खानो और जङ्गलोको सार्वजनिक सम्पत्ति बना देगे, इसमे तो कोई सन्देह ही नही है। यह सम्भव नही है कि कोई ऐसा कारखाना चल सके जिसमे कई व्यक्ति मजदूरकी हैसियतसे काम करें और एक या थोडे-से व्यक्ति मुनाफा ले। जो लोग माल तैयार करनेवाले और ग्राहकके बीचमे बड़ी-बडी आढते खोलकर मुनाफा करते है, उनका स्थान सार्वजनिक दूकाने या ग्राहकोकी सहयोग समितियाँ लेगी। खेतीकी अवस्था भी आज जैसी नही रह सकती। शोषण तो खत्म हो ही जायगा। न तो जमीनदारी प्रथा रह जायगी, न काश्तकार ही अपनी भूमि दूसरोंको लगानपर उठा सकेगे। छोटी-छोटी टुकडियोकी खेती लाभदायक नही हो सकती। चकबन्दी-की कोशिश हो सकती है पर इससे भी अच्छी चीज सम्मिलित कृषि है अर्थात् गाँवके सब कृषकोकी भूमिकी एक साथ खेती हो। सबकी जिम्मेदारी-पर बीज, खाद इत्यादिके लिए ऋण भी सुगमतासे मिल सकता है, मशीने

भी खरीदी जा सकती है या राजकी ओरसे मिल सकती है, पैदावारकी बिक्रीका भी अच्छा प्रबन्ध हो सकता है। सब खर्च काटकर जो मुनाफा बचेगा उसमे सबका हिस्सा लग जायगा। निजी सम्पत्तिका भी कुछ-न-कुछ पुनर्वितरण होगा। मकानोका ही उदाहरण लीजिए। ऐसे भी लोग है जिनके मकानोमे इतनी जगह है कि सारे घरके लोग कितना भी फैलकर रहे उसका उपयोग नही कर सकते। एक-एक मकानके चारो ओर बागके रूपमे इतनी भूमि घिरी पडी है जिसमे एक-एक छोटा-सा गाँव बस सकता है। यह अनुचित है कि इतनी जमीन एक परिवारके कब्जेमे रहे और हजारो परिवारोके सिरपर श्रावण-भाद्रकी वर्षामे एक छप्पर तक न हो। ऐसे मकानोमे सैकडों परिवार बसाये जा सकते है और जायँगे। पण्योका परिसीमन भी करना होगा। नया प्रबन्ध होगा। अनुभवकी कमी होगी। पुराने अनुभवी लोगोकी ओरके, जो पुरानी व्यवस्थासे लाभ उठा रहे थे, असहयोग होगा; इसलिए आरम्भमे पण्योकी पैदावार भी कम होगी, जो चीजे मिलेंगी वह सम्भवत बहुत अच्छी भी न होगी। पर ऐसा करना होगा कि सबकी ज़रूरतकी चीजे, जैसे अन्न-वस्त्र, सबको मिल सके और कोई उनको व्यर्थ जमा न सके। एक बहुत वडी दिक्कत यह होगी कि नयी व्यवस्थाके स्वरूपसे अनभिज्ञ होनेके कारण साधारण जनता इच्छा रहते हुए भी पूरी सहायता न कर सकेगी।

मैंने इन बातोको बहुत संक्षेपमे इसलिए लिखा है कि इन ब्योरेकी बातोका विस्तारसे वर्णन करना इस पुस्तकका विषय नही है। प्रत्येक देशके समाजवादी शासकोंको अपने देशकी परिस्थितिके अनुसार काम करना होगा। सिद्धान्त और लक्ष्य सबका एक होगा। सबकी कोशिश यह होगी कि उत्पादन, वितरण और विनिमयके मुख्य साधनोपर सार्वजनिक अधिकार हो और शोषण बन्द हो ताकि वर्गसंघर्ष खत्म हो जाय और सारे देशमे अपनी मेहनतसे कमाकर खानेवाले ही देख पडें अर्थात् वर्गभेद मिट जाय। इस लक्ष्यको सामने रखकर चलनेमे भिन्न-भिन्न देशोमे किञ्चित् भिन्न

मार्गोका अवलम्बन करना पडता है। रूसको,★ जहाँ बडी-बडी जमीन्दारियाँ थी, प्रजा अशिक्षित और रूढियोसे दबी हुई थी और पुरानी व्यवस्थासे लाभ उठानेवालोने असहयोगका कोई उपाय छोड नही रखा, इस पद्धतिके अनुसरणका अवसर मिला। रूस सरकारकी पंचवर्षी योजनाओकी नकल आधे जीसे असमाजवादी सरकारे भी करने लगी है। इन योजनाओमे उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई यह बात उसके शत्रुओको भी स्वीकार करनी पड़ती है। अन्न, तेल, कोयला, लोहा, वस्त्र, लकडी सभी आवश्यक चीजो-की उपज कई गुना बढ़ गयी, मकान बराबर बनते गये, रूस बाहरके बाजारोमे माल भेजने लगा। शिक्षाका प्रचार इतना बढ गया कि एक पुश्तके बाद अशिक्षित मनुष्य न देख पडेगा। विज्ञान, साहित्य, सङ्गीतमे ज़बर्दस्त उन्नति हुई है। रोजगार मुनाफेके लिए नही होता इसलिए मज-दूरोको थका मारनेकी कोशिश नही है। रूस ही ऐसा सभ्य देश है जिसमे बेकारीकी कोई समस्या नही है। कोई दूसरा देश उसकी ठीक-ठीक नकल नही कर सकता। पूँजीपतियो और ज़मीनदारोकी ताकत, प्रजाकी शिक्षा, कृषि और व्यवसायकी उन्नति आदिके कारण पृथक् देशोकी परिस्थितियाँ पृथक् होगी। अब रूसके साथ चीनकी भी गणना करनी चाहिए।

इस व्यवस्थाको कायम करनेमे रूसको बहुत-सी कठिनाइयोका सामना करना पडा पर उसके शासक अपने पथसे न हटे। सामाजिक और आर्थिक उन्नतिके साथ-साथ वह सैनिक शक्तिका भी सञ्चय करते गये क्योकि उनको ज्ञात था कि एक-न-एक दिन उनको अपने राष्ट्रकी प्राण-रक्षाके लिए बलवान् शत्रुओसे लडना होगा। हिटलरने तो अपनी पुस्तक 'माइन काम्फ'मे स्पष्ट ही लिख दिया था कि रूसके पश्चिमी प्रान्त यूक्रेनपर जर्मनीको कब्जा

★ हमने सुविधाके लिए रूस लिख दिया है। अब पुराने रूसी साम्राज्यका नाम यू० यस० यस० आर० (यूनियन आव सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स—पञ्चायती समाजवादी प्रजातन्त्रोंका संघ) है।

करना होगा। रूसके शत्रुओका विश्वास था कि रूसी जनता सरकारका साथ न देगी। महायुद्धने रूसके मित्रो और शत्रुओको समान रूपसे चकित कर दिया। सेना और जनताके अनन्य साहस, उत्साह और त्यागके सामने सबको सिर झुकाना पडता है। हिटलरकी हारका प्रधान श्रेय रूसको ही है।

इस कहनेका यह तात्पर्य्य नही है कि रूस आदर्श है। वह उदाहरण मात्र है। उसकी इतनी विशेषता है कि उसको ही अबतक समाजवादी प्रयोग करनेका अवसर मिला है। अपनी परिस्थितिके अनुसार उसके शासको और विचारकोको जो कुछ उचित समझ पडा उन्होने किया।

अक्सर लोगोका यह खयाल है कि समाजवादी दस्तकारियोका विरोधी होता है क्योकि वह मशीनोके प्रयोगका पक्षपाती है। ऐसे लोग यह समझते है कि समाजवादियोके हाथमे अधिकार आते ही सब हाथके काम खत्म कर दिये जायँगे। यह खयाल गलत है। समाजवादी न तो मशीनोके हाथ बिका है, न उसको हाथकी कारीगरीसे शत्रुता है। वह इन चीजोपर किसी रूढिका दास होकर विचार नही करता। हाथकी कारीगरी प्राचीन है अथच उसमे कोई विशेष धार्म्मिकता या पूज्यता है, ऐसा वह नही मान सकता। मशीन नयी चीज है इसलिए उसका प्रयोग होना ही चाहिए, यह भी कोई अकाट्य नियम नही है। सब बाते परिस्थितिपर निर्भर है। समाजवादी व्यवस्थामे जब कृषि सम्मिलित ढङ्गसे होगी तब पैदावार बढ जायगी पर आदमी कम लगेंगे। इन लोगोके लिए जीविकाका प्रबन्ध करना होगा। आजका-सा जमाना न होगा कि किसीको जीविका मिले या न मिले इसमे सरकारकी कोई जिम्मेदारी नही होती। व्यवसाय लोगोकी आवश्यकताओकी पूर्तिके लिए होगा, मुनाफेके लिए नही। इसलिए उसकी भी खूब वृद्धि होगी और आदमी भी बहुत खपेंगे क्योकि आजकलकी भाँति लम्बे घण्टे न होगे। फिर भी यह बहुत सम्भव है कि ऐसे लोग बच जायँ जो न तो खेतीमे लगे हों न व्यवसायमे। ऐसे लोग यदि हाथकी दस्तकारी करे

तो हर तरह प्रोत्साहन मिलना चाहिए। उदाहरणके लिए, भारतमे कपडा बिननेकी कारीगरीके लिए अब भी उज्ज्वल भविष्य हो सकता है, हाँ, राजका यह कर्तव्य है कि जिन दस्तकारियोमे मनुष्यको अस्वास्थ्यकर परिस्थितिमे बहुत थोडे पैसोके लिए बहुत परिश्रम करना पडता है, उनको उठा देनेका प्रयत्न करे। इसी प्रकार जो व्यवसाय गन्दे है उनको यथा-शक्ति खत्म करना चाहिए।

पर कई ऐसे काम है जो मशीनकी अपेक्षा हाथसे ही अच्छे हो सकते है। चित्रकारी हाथसे ही होगी, बाजे हाथसे ही बजेंगे। कई प्रकारके धातु या लकडीके काम हाथसे बडे अच्छे बनते है। मिट्टी या कागजके खिलौने हाथके ही अच्छे होते है। सिलाईकी बारीकियाँ हाथमे ही देख पडती है। सूत जितना बारीक हाथसे कत सकता है, उतना मशीन नही तैयार कर सकती। इन कामोको रोकना दूर रहा, राज और जनसमुदायसे हर प्रकार का प्रोत्साहन मिलेगा क्योकि ज्यो-ज्यो लोगोकी संस्कृतिमे उन्नति होगी और फुरसत बढेगी त्यो-त्यो गुणग्राहकता भी बढेगी।

और भी कई व्यवसाय है जिनको छोटे व्यवसायी अच्छा चला सकते है। अपने बागमे माली या किसान प्रेमसे बडे सुन्दर फूल और बडी अच्छी तरकारियाँ पैदा कर सकता है। अपनी गायके दूधसे ताजा मक्खन निकाल सकता है। इस प्रकारके व्यवसायोमे कोई रुकावट नही पड सकती। रूसमे भी इनके लिए अनुमति है।

एक और खयाल बहुत फैला हुआ है। लोग समझते है कि समाजवादी पारिवारिक जीवनके शत्रु है और उनके हाथमे अधिकार आते ही विवाहकी प्रथा तोड दी जायगी और कौटुम्बिक जीवनका अन्त हो जायगा। यह खयाल भी गलत है। इसके फैलानेकी बहुत कुछ जिम्मेदारी उन लोगोपर है जिन्होने रूसी क्रान्तिके बाद रूसकी नयी सरकारको बदनाम करनेके लिए यह खबर उडा दी कि उन्होने स्त्रियोका राष्ट्रीकरण कर दिया अर्थात् उनको सार्वजनिक सम्पत्ति बना दिया। बहुतसे भोले-भाले आदमी इस कुटिल प्रचारके शिकार

हुए। इतना अवश्य है कि समाजवादी स्त्रीको पुरुषका गुलाम नही मानता और समाजवादी शासनमे न केवल स्त्रियो वरन् बच्चोके स्वत्वोका भी लिहाज किया जायगा। आज पुरुष चाहे जो कर सकता है। अपनी विवाहिता स्त्रीके सिवाय दूसरी स्त्रीको धोखा देकर या पैसा देकर उसकी मिट्टी खराब करता है और यदि बच्चा पैदा हुआ तो वह दर-दरका भिखारी होता है। बाप-माँके पापका बोझ उस निरपराधको ढोना पडता है। प्राचीनकालके आर्य्योंने आठ प्रकारके विवाह मानकर सभी प्रकारके बच्चोको पिताकी सन्तान, अथच जायज, मान लिया था पर आजकल केवल ब्राह्म विवाह कानूनी रह गया है इसलिए पुरुष पिता बनकर भी सन्तानके भरण-पोषणके दायित्वसे बच जाता है। इसका प्रबन्ध तो करना ही होगा। पर इन बातोका समाजवादसे कोई विशेष सम्बन्ध नही है। प्रगतिशील विचारोके असमाजवादी भी इन दिशाओमे सुधार चाहते है। आज भारतमे असमाजवादियो द्वारा दहेज, तलाक, असवर्ण विवाह आदिके सम्बन्धमे कानून बन रहे है। समाजवादी न तो विवाह प्रथाको नष्ट करना चाहता है, न पारिवारिक जीवनका अन्त करना चाहता है। हाँ, यह अवश्य है कि बच्चे केवल बाप-माँकी नही, वरन् सारे समुदायकी विभूति है। उनके भरण-पोषण, शिक्षा आदिका दायित्व सारे समुदायपर है अत. बाप-माँ या अन्य अभिभावक इस विषयमे स्वतन्त्र नही छोड़े जा सकते। यदि इस देख-रेखका प्रभाव यह पडे कि दो-चार सौ बरस या और अधिक समयमे पारिवारिक बन्धन धीरे-धीरे ढीला होते-होते आप ही राजकी भाँति मुरझाकर झड़ जायँ और परिवार खत्म हो जाय तो इसकी बाबत कुछ कहा नही जा सकता। समाजवादियोका रुख रूस सरकारकी कार्य्यशैलीसे जाना जा सकता है। क्रान्तिके पहले वर्षोमे पारिवारिक बन्धन कुछ शिथिल पड गये थे, अब उनको फिर दृढ किया गया है। तलाकोके कम करने और बच्चोको गुरुजनका समादर सिखलानेकी विशेष कोशिश हुई है।

समाजवादी धर्म्मके प्रति क्या करेगे इस सम्बन्धमे बहुत लोगोको

चिन्ता है। ऐसे प्रसङ्गमे धर्म्मका अर्थ मजहब या सम्प्रदाय होता है। जहाँ-तक धर्म्मका अर्थ मनुप्रोक्त धृति-क्षमादि दशलक्षणात्मक वस्तुसे है वहाँतक कोई चिन्ताकी बात नही है। वह तो सचमुच सनातन है पर वैष्णव, शैव, शाक्त, इस्लाम, ईसाईमत, हीनयान आदि सम्प्रदायोके विषयमे यह बात नही कही जा सकती। इनकी क्या गति होगी? इस सम्बन्धमे इतना निश्चय रूपसे कहा जा सकता है कि समाजवादी राजमे किसीकी उपासनामे बाधा नही डाली जायगी पर किसी सम्प्रदायके साथ कोई खास रिआयत भी न होगी। कोई पद किसी सम्प्रदायका अनुयायी होनेके कारण नही दिया जा सकता। यह भी तय है कि सम्प्रदायोकी आडमे जो अनाचार होते है या विशाल सम्पत्तियाँ थोडेसे व्यक्तियोके भोगकी सामग्री बन जाती है, उनपर रोक होगी। पर इससे किसी सच्चे धर्म्मभीरुको क्षुब्ध न होना चाहिए। समाजवादियोको यह विश्वास है कि साम्प्रदायिक झगडो-का निपटारा तभी हो सकता है जब उनकी तहमे छिपे हुए आर्थिक सघर्षोका निपटारा हो।

लोगोको यह चिन्ता इसलिए हुई कि रूसमे ईसाई धर्म्मसस्थानपर शुरू-शुरूमे बडे जोरसे प्रहार हुआ और सरकारने अनीश्वरवादका खूब प्रचार कराया। वहाँकी देखादेखी भारतमे भी कुछ तथाकथित समाजवादियोने अनीश्वरवादकी चरचा शुरू की। यह बात मान-सी ली गयी कि समाज-वादीके लिए अनीश्वरवादी और अनीश्वरवादका प्रचारक होना अनिवार्य्य है। यह सच है कि मार्क्सके दार्शनिक विचारोमे किसी जगदारम्भक सगुण ईश्वरके लिए स्थान नही है पर अनीश्वरवाद मार्क्सका निकाला हुआ नही है। भारतमे आजसे हज़ारो वर्ष पहले अनीश्वरवादी थे। कोई समाजवादी ईश्वरको मानता हो या न मानता हो पर इसकी कोई खास ज़रूरत नही है कि वह दूसरोसे साम्प्रदायिक झगडा मोल ले। रूसका उदाहरण सर्व-देशीय नही है। यूरोपमे ईसाई मज़हबने एक विशेष रूप धारण कर लिया है। जिस प्रकार नरेशतन्त्र देशोमे राजासे लेकर गाँवके पटवारीतक

सरकारी अहलकार होते है, उसी प्रकार ऊपरके आर्चबिशप (या इसी प्रकार अन्य अधिकारी) से लेकर गाँवतकके पादरी होते है । सबको वेतन मिलता है, बदली होती रहती है, तरक्की होती है, दण्ड मिलता है । राजके भीतर राज होता है । इस संघटनके कारण यह धर्म्म-संस्था बडी प्रबल होती है । साधारणत· यह सरकारका ही साथ देती है पर रुष्ट होनेपर बडे-बडे नरेशोके छक्के छुडा देती है । अपनी शक्तिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए हर प्रकारकी पुरानी रूढियोका समर्थन करती है और हर बातमे ईश्वरीय आज्ञाओकी दुहाई देती है । परिणाम यह होता है कि जो नयी विचारधारा उठती है उसको इस धर्म्म-संस्थानसे★ टक्कर लेनी पडती है । जिस प्रकार नरेश और सरकारके विरुद्ध आन्दोलन करना पडता है, उसी प्रकार पादरियोके संघटनका मुकाबिला करना पडता है ।

रूसी क्रान्तिके विधाताओको दोनो शक्तियोका समान रूपसे सामना करना पडा क्योकि दोनोकी शक्तियाँ मिल गयी थी । उनको जारकी सेनाके साथ-साथ खुदाकी सेनासे भी लडना पडा अत· यह स्वाभाविक था कि अधिकार पानेपर वह जारशाहीके साथ-साथ पादरीशाहीके गढको भी ध्वस्त करे । इसीलिए रूसमे विशेष रूपसे मजहबका विरोध हुआ । कुछ दिनोतक तो नयी सरकारकी यह कोशिश हुई कि ईसाई मजहबकी जगह अनीश्वर-बादी बौद्ध धर्म्मका प्रचार हो। परन्तु प्रजाने ही इस बातको नापसन्द किया, इसलिए यह प्रयत्न छोड दिया गया । अब तो रूसमे ईसाई धर्म्मको फिर प्रोत्साहन मिला है । सारे रूसके बडे पादरीका पद जो तोड दिया गया था, फिरसे कायम हुआ है और नये धर्म्माध्यक्षका सरकारी सम्मान किया गया है ।

हिन्दुओ और मुसलमानोमे कोई सङ्घटित धर्म्म-संस्था नही है । एक पुरोहित, धर्म्मशास्त्री या मौलवी दूसरेके साथ किसी जाब्तेके सूत्रसे नही

★ The Church.

बँधा है। इसलिए भारत जैसे देशमे रूस जैसी परिस्थिति नही है, वैसे सङ्घर्षकी आशङ्का नही है। फिर भी यदि यहाँके धर्म्मोपजीवी अपना मार्ग छोडकर लक्ष्मीपतियोकी ढाल बनना चाहेगे और दलितोकी आहकी ओर ध्यान न देकर समाजवादका व्यर्थ विरोध करेगे तो सम्भव है यहाँ भी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो और इन लोगोंकी अदूरदर्शिताके कारण लोग मजहबके नामके ही विरोधी हो जायँ। सामाजिक सुधारोका विरोध करके और साम्प्रदायिक वैर-विरोधका समर्थन करके इस समुदायने अब भी मजहबके नामको काफी बदनाम किया और अपनी रोटियोको खतरेमे डाल रखा है।

यह कहना न होगा कि इस जमानेमे जन-साधारणकी अवस्थामे कल्पनातीत उन्नति होगी। समाजवादी राज इस बातका जिम्मा लेगा कि हर स्वस्थ व्यक्तिको काम दिया जायगा। कोई बेकारीके कारण नङ्गा-भूखा न रहने पायेगा। जब तक काम नही दिया जाता तबतक उसका भरण-पोषण सरकारी कोषसे होगा। पर काम देनेका तात्पर्य्य वैसा काम देना नही है जैसा हमारे देशमे कभी-कभी कहतके जमानेमे दिया जाता है। काम इतना लिया जायगा जितना स्वास्थ्यकर हो। यह भी ध्यानमे रखना होगा कि देशके सब लोगोको काम देना है अत· किसी एक आदमी-से बहुत काम करानेका फल यह होगा कि दूसरोकी बारी न आयेगी, काम अधिक न होनेसे सबके पास पर्य्याप्त अवकाश रहेगा। आजकल अवकाश काटनेका साधन नही मिलता। फुर्सतवाले बहुधा मद्यपान करते, जुआ खेलते, ऐसे ही दूसरे निन्द्य काम करते पाये जाते है। फुर्सतसे लाभ उठानेकी योग्यता सबमे नही है। समाजवादी सरकारपर इसका भी जिम्मा होगा। वह शिक्षाका व्यापक प्रबन्ध करेगी। बच्चोको ही नही, बूढोको भी इतिहास, राजनीति, विज्ञान आदि विषयोके विद्वानोके भाषण सुननेका मौका मिलेगा। थिएटर, पार्क, बाग, संग्रहालय और चित्रागार, मनो-रंजन तथा शिक्षाकी सामग्री सबके पास पहुँचायेगी। प्रत्येक प्रसूता स्त्रीका

स्वास्थ्य और प्रत्येक बच्चेकी शिक्षा राजकी खास जिम्मेदारी होगी। जिस प्रकार किसीका नङ्गा-भूखा रहना राजके लिए लाछन होगा, उसी प्रकार किसी रोगीका औषधोपचारके बिना रह जाना उसका कर्त्तव्यसे पतन होगा। जवानीमे अनिवार्य्य बीमा करके राज सबके बुढापेको निष्क-ण्टक बना देगा। यह सब बाते कोरी कल्पनाकी सृष्टि नही है। आज सभी देशोमे यह बातें सरकारके कर्तव्योमे परिगणित है और इन बातों-के लिए प्रबन्ध भी हो रहा है परन्तु समाजवादी सरकारको इस दायित्वके निभानेमे स्वभावत सुविधा होगी। इसका कारण यह है कि दूसरे शासनोमे व्यवसायका जो मुनाफा थोडे-से पूँजीपतियोकी जेबोमे जाता है वह यहाँ सरकारी कोषमे रहेगा।

अदालतोका काम बहुत हल्का हो जायगा। सम्पत्तिकी व्यवस्था बदल जानेसे दीवानीके मुकदमे बहुत कम हो जायँगे। खाने-पीनेका सुख होनेपर ऐसे कामोकी ओर भी बहुत कम लोगोकी प्रवृत्ति जायगी जो फौजदारी कानूनके भीतर आते है। सब लोग इन्द्रिय-निग्रह करनेमे समर्थ हो जायँगे ऐसा दावा तो नही किया जा सकता पर पेटके लिए वेश्यावृत्ति धारण करनेवाली स्त्रियाँ बाजारोको कलुषित करती न देख पडेगी। जागरित लोकमत बहुतसे अपराधोका आप ही दण्ड दे देगा।

हमने ऊपर कई बार साहित्य और कलाकी उन्नतिका ज़िक्र किया है। जब लोगोके जीवनमे नये उत्साहका सञ्चार होता है, जब हृदय नयी स्फूर्तिसे भर जाते है, तभी सच्चे साहित्यकी सृष्टि होती है। साधारण मनुष्यके लिए यह जगत् एक ऐसी पहेली है जो समझमे नही आती। तामसी बुद्धि इसको जडवत् देखती है। पर जो मनुष्य अपनेको जीवनके स्रोतके साथ मिला देता है, जो अपने तुच्छ स्वार्थोंको भुलाकर लोकहितको अपना हित बना देता है, उसको इस पहेलीका अर्थ समझमे आता है। वह जगत्के अनाद्यनन्त प्रवाहके साथ एकीभूत होनेके रसका

आस्वाद करता है। उसी व्यक्तिको सौन्दर्यका अनुभव होता है। वही सच्चा कवि है और उसीकी कृति सच्ची कला है। क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थोंका शमन करके समाजवादी व्यवस्था कलाकी धात्री होगी। पर इसका यह अर्थ नही है कि पहले कला थी ही नही। समाजवादी ऐसा नही कहता। यह भी एक धारणा हो गयी है कि समाजवादी वर्तमान शील, सदाचार, साहित्य, कला सबके विरोधी है। यह धारणा भी गलत है। यह सब संस्कृतिके अंग है। संस्कृतिकी धारा आदिकालसे आज-कल तक चली आयी है। साम्राज्य आये और गये; जातियाँ उठी और नष्ट हुई; वर्गोंका अभ्युदय और पतन हुआ पर सस्कृतिकी झोलीमे सभी कुछ-न-कुछ डालते गये। समाजवादी पूँजीशाहीका भले ही विरोधी हो पर वह जानता है कि इस पूँजीशाही युगमे भी सस्कृतिकी पुष्टि हुई है। जिस प्रकार मिट्टीमे पडा हीरा अपनाया जाता है उसी प्रकार समाजवादी वर्त्तमान सभ्यता और सस्कृतिकी अच्छी बातोको अपनाता है और फिर अपनी प्रतिभा और युगधर्म-प्रेरणाके अनुसार उनका परिवर्धन करता है।

यह सब होगा पर हम उस बातकी ओर फिर ध्यान आकर्षित करना उचित समझते है जो इस अध्यायके आरम्भमे कही गयी थी यानी यह कि समाजवादी इस बातको कदापि पसन्द न करेगा कि जो अधिकार उसको इतनी दिक्कतसे मिला है वह हाथसे निकल जाय और समाजवादका प्रयोग अपूर्ण रह जाय। इसलिए वह किसी भी व्यक्तिको ऐसी बातोके कहने या करनेका कदापि मौका न देगा जिससे समाजवादी राज आपन्न हो। आलोचना हो सकेगी पर एक निश्चित सीमाके भीतर। इसमे सन्देह है कि पार्लिमेण्ट या इसी नामकी किसी अन्य सभा द्वारा शासन होगा या नही। जबतक लोगोमे आर्थिक वैषम्य है, तबतक मताधिकार व्यर्थका ढकोसला है। उलटे उन लोगोको जो नये शासनमे अडङ्गा लगाना चाहेगे शरारतका मौका मिल जायगा। इसलिए शासनका सारा भार समाजवादियोको प्राय: अपने ही ऊपर लेना पड़ेगा। इसका तात्पर्य यह नही है कि समाजवादी

लोकतन्त्रके विरुद्ध है। उनका विश्वास है कि जब वर्गभेद मिट जाय तो शासनका स्वरूप लोकतन्त्रात्मक ही होना चाहिए।

कुछ लोग यह आक्षेप करते है कि इससे, अर्थात् राज द्वारा लोगोंपर कडी देख-रेख रखनेसे, व्यक्तिस्वातन्त्र्यमे बाधा पडती है। हम इसको स्वीकार करते हैं। पर यह बात वस्तुत. उतनी भयावह नही है जितनी कि सुननेमे प्रतीत होती है। सोचना यह है कि किसके व्यक्तिस्वातन्त्र्यमे रुकावट पडेगी ? जो लोग नये विधानके साथ होगे, उनको तो डरनेकी कोई बात नही है। यह भी मानना चाहिए कि वह सब लोग जो आज शोषित और उत्पीडित है अर्थात् सब शरीर और मस्तिष्कसे काम करनेवाले श्रमिक और कृषक, वह लोग जो वर्ग-आधिपत्य और वर्गसंघर्ष तथा शोषणके विरोधी होगे, वह लोग जो पूँजीशाही और साम्राज्यशाहीसे व्यथित होगे, नये विधानके साथ होगे। पर ऐसे ही लोगोका नाम तो जनता है। इनको निकालनेके बाद तो वही मुट्ठी भर आदमी बच जायँगे जो अपने क्षुद्र स्वार्थके कारण पुरानी व्यवस्थाको फिर लाना चाहेगे। ऐसे लोगोके स्वातन्त्र्यपर अकुश लगाना बुरा नही हो सकता। जो लोग इनकी बिगाडी हुई दुनियाको बनानेका बीडा उठाकर चले होगे वह इनको फिर बिगाडनेका मौका तो नही ही दे सकते। इनके प्राण कोई नही लेता। इनको भी औरोकी भाँति काम करनेका पूरा-पूरा अवसर है, पर यदि वह इस अवसरसे लाभ उठानेका अर्थ यह लगाये कि उनको नये शासनकी जड खोदने दिया जाय तो ऐसी हठधर्मीका लिहाज नही किया जा सकता। यह ठीक है कि नये शासकोको उच्छृङ्खल न होना चाहिए। उनको अपने कामोकी टीका-टिप्पणी सुननेको तैयार रहना चाहिए। अहम्मन्यता और असहिष्णुता उनके लिए दूषण होगी। पर आलोचकोको भी यह स्मरण रखना चाहिए कि उनकी आलोचना नवविधानकी परिधिके बाहर न जाय।

इसपर कुछ लोग वह आपत्ति उठाते है कि यदि समाजवादी आगे चलकर अपने विरोधियोके स्वातन्त्र्यको इस प्रकार रोकनेका विचार रखते

है तो उनको इस समय स्वातन्त्र्यकी आशा न रखनी चाहिए। इसमे कोई घबरानेकी बात नही है। समाजवादियोको यो भी बहुत कम स्वातन्त्र्य है। उनकी संस्थापर उनके विरोधियोके दाँत रहते है। जितनी कडाईसे दुनिया-की सरकारे समाजवादी भाषणो, लेखो और पुस्तकोको देखती है उतनी दूसरोके लिए नही होती। हाँ, आजकलकी लोकतन्त्रात्मक पद्धतिसे समाज-वादी जो कुछ फ़ायदा उठा सकते है उठा लेते है। यह समाजवादके सिद्धा-न्तकी ख़ूबी और समाजवादियोकी लियाकत है। यदि पूँजीशाही देशोमे लोकतन्त्र देख पडता है तो यह कोई ऐसी बात नही है जिसके लिए विशेषरूपेण कृतज्ञता प्रकट की जाय। कुछ अधिकार तो श्रमिकोने, जो समाजवादके प्रमुख स्तम्भ है, अपने सङ्घटनके बलपर प्राप्त किये है। शेष अधिकार, यह सारा लोकतन्त्रका ढाँचा, चुनाव और पार्लियामेण्ट और मन्त्रिमण्डलका नाटक, सम्पन्न वर्गने अपने हितकी दृष्टिसे फैला रखा है। यदि थोडेसे मनुष्य बहुतसे मनुष्योसे काम लेना चाहते है तो यह आवश्यक है कि वह उन्हे मिलाकर रखे। इसका सबसे सरल उपाय यह है कि हुकूमतकी असली कुञ्जी अपने हाथमे रखते हुए भी उनको विश्वास दिला दिया जाय कि शासनमे उनको भी समान अधिकार है। इससे वह शौकसे काम करते है। दूसरी बात यह है कि इस जरियेसे शासकोको प्रजाके असन्तोषका पता चलता रहता है और बहुत-सा असन्तोष तो भाषण, लेख और शास्त्रार्थकी गर्मीके रूपमे आप ही उड जाता है। फलत. आजकल विद्रोह और क्रान्तिकी नौबत बहुत कम आती है। यह समझकर ही यह खेल किया जाता है और समाजवादियोको भी थोडी बहुत स्वतन्त्रता मिली रहती है। इस स्वतन्त्रताको छीननेका अर्थ केवल थोडे-से पढे लिखे समाज-वादियोका मुँह बन्द करना न होगा वरन् करोड़ो शोषितके असन्तोषको प्रकट होनेसे रोकना होगा। एक बार ऐसा किया जा सकता है पर जो अग्निशिखा ऊपर न उठने पायेगी वह भीतर ही भीतर सुलगती रहेगी और किसीको पता भी न चलेगा। एक दिन विस्फोट अवश्य होगा। फिर

उसको सॅभालना सरल न होगा । इसलिए समाजवादियोपर एहसान करके उसको कोई विशेष स्वतन्त्रता नही दी जा रही है । जो लोग इसे छीन लेनेकी धमकी देते है उनका अपना स्वार्थ उन्हे रोक रहा है । सख्ती करनेसे समाजवादियोकी वर्तमान कठिनाइयॉ निस्सन्देह बढायी जा सकती है पर इसकी प्रतिक्रिया यह होगी कि पूँजीशाहीकी भावी कठिनाइयाँ भी बढ जायँगी ।

इस जमानेमे काम करनेवालोको मजदूरी मिलेगी । मजदूरीके दो रूप हो सकते है । रूसमे भी दोनो चलते रहे है । कुछ मजदूरी तो नकद रुपयो (या उनकी जगह कागजकी मुद्रा) मे मिलेगी । इससे लोग अपने-अपने शौककी चीजें, जैसे पुस्तकें या चित्र या बाजा या बाइसिकिल, खरीद सकते है । शेष मजदूरी पण्योके रूपमे दी जायगी । प्रत्येक श्रमिकको एक सर्टिफिकेट मिल जायगी जिसको दिखलाकर वह अन्न-वस्त्र आदिके भण्डारोसे एक निश्चित परिमाणमे इन आवश्यक चीजोंको प्राप्त कर सकता है ।

मजदूरोमे आज जैसी व्यवस्था या कुव्यवस्था न होगी । राज यह स्वीकार करेगा कि समुदायके जीवनके लिए सभी मनुष्योकी आवश्यकता है । न तो सभ्य सामूहिक जीवन गणितके अध्यापकके बिना चल सकता है, न सडकपर झाडू देनेवालेके बिना । जो भी व्यक्ति अपने श्रमकी कमाई खाता है और कोई ऐसा काम करता है जिसका सामूहिक जीवनमे उपयोग है उसके योगक्षेमका भार समुदायपर है । यह भी मानना होगा कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोकी आवश्यकताओमे भेद होते हुए भी बहुतसे अशोमे सभी मनुष्य बराबर है । भूख सबको लगती है, सिरपर छप्पर सबको चाहिए । आज इसका लिहाज़ नही किया जाता, इसीलिए लोगोकी मजदूरियोमे बे-सिर-पैरकी विषमता है । राष्ट्रपति और चपरासी दोनो ही मनुष्य है पर जहॉ राष्ट्रपतिको २५,०००) मासिक दिये जाते है वहॉ चपरासीके लिए ५०) पर्य्याप्तमे समझा जाता है । लोगोकी गरीबी और बेकारीसे

फायदा उठाकर मजदूरी कम करनेकी कोशिश की जाती है। यह समझा जाता है कि एक आदमी चला जायगा तो दस मिल जायँगे। पर जो बहुत कम मजदूरीपर काम करेगा वह न तो अपना स्वास्थ्य ठीक रख सकता है, न लडके-बच्चोका। उसकी कार्यक्षमता घटती है और वह अपनी सन्तानको अक्षम बनाता है। यह उसका और उसके लडकोका ही नुकसान नही है, सारे समुदायका नुकसान है। अत समाजवादीका यह आग्रह है कि श्रम करनेवालोके लिए देशकाल देखकर ऐसी मजदूरी नियत होनी चाहिए जिससे जीवन-यात्रा चल सके। उससे कम पारिश्रमिक या वेतन देना और लेना कानूनसे जुर्म करार देना चाहिए। यूरोपके कुछ असमाजवादी देश भी अब इस सिद्धान्तको स्वीकार करने लगे है।

इस नीचेकी सीमापर ही वेतन और पुरस्कार कायम होगे। दिमागसे काम करनेवालो, दफ्तरोके बाबुओ, मशीन चलानेवाले कुशल मिस्त्रियो और साधारण मजदूरोकी मजदूरियोमे कुछ न कुछ फर्क होगा। जहाँ किसीको रुपयेकी पूँजी नही बनानी है, वहाँ आज जैसा भेद न होगा, पर होगा अवश्य।

मजदूरी या वेतन निश्चित करनेमे एक ही सिद्धान्तसे काम लिया जा सकता है, बराबर कामके लिए बराबर मजदूरी दी जाय। इसीको दूसरे शब्दोमे यो कहते है, जो जैसा और जितना काम करे उसको वैसी और उतनी मजदूरी दी जाय। यह सिद्धान्त आज भी माना जाता है, यद्यपि इसका व्यवहार ठीक-ठीक नही किया जाता। लोग इसको न्याय-मूलक समझते है, क्योकि ऐसा प्रतीत होता है कि इससे सबके स्वत्वोकी उचित रक्षा होती है।

परन्तु विचार करनेसे प्रतीत होता है कि न इसमे न्याय है, न सबके स्वत्वोकी रक्षा। दो व्यक्तियोके कामकी तुलना कैसे की जाय? डाक्टर, अध्यापक, राजमन्त्री, मिट्टी ढोनेवाला मजदूर—इन सबके कार्य-क्षेत्र पृथक्-पृथक् है, फिर यह कैसे नापा जाय कि किसने कितना श्रम किया? जब

श्रमको ही तोलना असम्भव है तो मजदूरी कैसे बिठाई जाय ? बराबर समयसे भी अनुमान नही हो सकता। एक ही कार्यक्षेत्रमे भी कामकी ठीक-ठीक नाप नही हो सकती। दो मजदूर चार-चार घण्टेतक एक साथ मिट्टी फेकते हो। यदि काफी देख-रेख हो तो यह सम्भव है कि दोनो गिनकर बराबर टोकरियाँ फेके। दस्तूरके अनुसार दोनोको मजदूरी भी बराबर मिल जायगी। पर यह न्यायकी बात नही हुई। दोनोकी ताकत एक-सी नही हो सकती। यदि एक दुर्बल है तो उतना ही काम करनेमे उसका अधिक श्रम पडा होगा। इसलिए दोनोको बराबर मजदूरी देना न्याय नही प्रत्युत अन्याय है। पर जो व्यवस्था अभी पूँजीशाहीके गर्भसे निकल रही है उसमे पुरानी पद्धतिके कई चिह्नोका पाया जाना स्वाभाविक है। जैसा कि 'क्रिटिक आव दि गोथा प्रोग्राम' मे मार्क्सने कहा है, बराबर श्रम और सामुदायिक पण्य-भण्डारमे बराबर भाग (अर्थात् बराबर मजदूरी) की अवस्थामे वस्तुत एक व्यक्तिको दूसरेसे अधिक मिलता है, एक व्यक्ति दूसरेसे अमीर होता है। इन दोषोको दूर करनेके लिए यह आवश्यक है कि स्वत्व बराबर नही किन्तु विषम हो। सुननेमे तो यह बात आश्चर्यकी प्रतीत होती है कि समतासे अन्याय और विषमतासे न्याय होता है। पर जैसा कि लेनिनने कहा है, "हकका अर्थ है एक ही मानदण्डसे विभिन्न व्यक्तियोंको, जो एक दूसरेके बराबर नही है, नापना। इसीलिए 'बराबर हक' वस्तुत. बराबरी-का उच्छेदक और अन्याय है।"

सत्रहवाँ अध्याय

समाजवादी व्यवस्था—द्वितीय सोपान

आजसे कुछ काल पहिले प्रमुख समाजवादियोको यह आशा थी कि बहुत शीघ्र विश्वक्रान्ति हो जायगी और सारी पृथ्वीपर समाजवादी व्यवस्था क़ायम होगी। इच्छा तो ऐसी अब भी है पर उसके शीघ्र फलीभूत होनेकी आशा अब उतनी तीव्र नही है। जबतक वह दिन नही आता तबतक जो देश अपने सामूहिक जीवनको समाजवादी साँचेमे ढालना चाहेगा उसको बलवान् पूँजीवादी देशोके मुकाबलेके लिए तैयार रहना पडेगा। वह उनका प्रत्यक्ष रूपसे कुछ न बिगाडता हो पर किसी भी देशमे समाजवादी शासनका सफल होना पूँजीवादियोंको बुरा लगता है। वह समझते है कि इससे लोगोका विश्वास समाजवादकी व्यवहार्य्यतापर जम जाता है। इसलिए प्रत्येक समाजवादी देशको प्रत्येक पूँजीवादी देश अपना नैसर्गिक शत्रु समझता है। इस विद्वेषका सामना करनेके लिए समाजवादियोको अगत्या राष्ट्रीय नीति बरतनी पडेगी। समाजवादका सिद्धान्त अन्ताराष्ट्रिय है पर समाजवादी शासनको कई अंशोमे राष्ट्रीय सरकारोका अनुकरण करना होगा। दूसरोके स्वत्वका अपहरण वह न करेंगे पर अपनी रक्षाके लिए बलवान सेना रखेंगे। सारे राष्ट्रको सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी होगी। इतना ही नही पूँजीवादी देशोमेसे कुछके साथ सन्धि और मैत्री करनेकी भी आवश्यकता पड सकती है। उनका लक्ष्य यह होगा कि पराधीन देशोको स्वाधीन बननेमे सहायता दे और लोकतन्त्रात्मक सरकारोंको अधिनायकोके चगुलमे फँसनेसे बचावें। राष्ट्रीय और अन्ताराष्ट्रिय भावोका समन्वय कठिन

होते हुए भी असम्भव नही है, क्योकि समाजवाद राष्ट्रीय पराधीनताका प्रबल विरोधी और राष्ट्रीय संस्कृतिकी रक्षाका समर्थक है।

यदि सभी, या कमसे कम अधिकतर, सभ्य देशोमे समाजवादी क्रान्ति हो जाय तब तो बहुत ही अच्छा हो परन्तु इसकी सम्भावना कम ही है, इसलिए अलग-अलग देशोमे इसके लिए प्रयत्न करना होगा। 'फाउनडेशन्स आव लेनिनिज्म'मे स्टालिन कहते है—पहिले एक देशमे क्रान्तिका सफल होना असम्भव समझा जाता था क्योकि ऐसा माना जाता था कि जब सभी या कमसे कम अधिकतम, उन्नत देशोके सर्वहारे मिलकर प्रयत्न करेंगे तभी मध्यमवर्गपर विजय प्राप्त हो सकेगी। यह विचारविन्दु वस्तु-स्थितिके अनुकूल नही है। साम्राज्यशाहीसे उत्पन्न परिस्थितियोमे सब पूँजीवादी देशोकी प्रगति एक-सी नही हुई है, साम्राज्यशाहीके भीतर ऐसे भयावह उच्छेदक है कि युद्धोका होना अनिवार्य्य हो जाता है, सभी देशोमे क्रान्तिकारी आन्दोलनोका समुदय हुआ है—इन सब कारणोसे यह सम्भव ही नही, आवश्यक भी हो गया है कि भिन्न-भिन्न देशोमे सर्वहारा वर्गकी विजय अलग-अलग हो। ऐसी विजयके बाद तत्तद्देशमे समाजवादी व्यवस्थाका कायम होना सम्भव ही नही निश्चितप्राय हो जाता है। जैसा कि लेनिन कहते है—'सच तो यह है कि उत्पादनके सभी बडे साधनोपर राजका अधिकार, सर्वहारा वर्गके हाथमे राजकी सत्ता, करोडो छोटे और बहुत छोटे कृषकोके साथ सर्वहाराका सहयोग और सर्वहारा समुदायके हाथमे कृषकोका निश्चित नेतृत्व इत्यादि—क्या सम्पूर्ण समाजवादी समाजके निर्माणके लिए यह बाते पर्य्याप्त नही है?'

परन्तु अपने देशमे समाजवादी व्यवस्थाकी नीव डाल लेनेसे ही यह आशंका दूर नही हो जाती कि दूसरे देश बाधा डालेगे। इस सम्बन्धमे लेनिन कहते है—'हम एक राजमे ही नही रह रहे है वरन् राजोकी श्रृंखलाके बीचमे है। बहुत दिनोतक सोविएत प्रजातन्त्र (रूस) साम्राज्यशाही राजोके साथ नही रह सकता। अन्तमे दोमे-से एककी विजय होगी।

इस अन्तके पहिले सोविएत और पूँजीशाही राजोमे कई भयंकर मुठभेडे होगी।'

अपनी वैदेशिक नीतिमे सफलता प्राप्त कर लेने और पिछले अध्यायमे इङ्गित दिशाओमे उन्नति कर लेनेसे ही कोई देश अपनेको पूर्ण साम्राज्य-वादी नही कह सकता। लेनिनने जिन बातोका उल्लेख किया है वह समाजवादी व्यवस्थाकी अनुकूल परिस्थितियाँ है, उसकी सुदृढ नीव डालनेमे सहायक होती है।*

यह समाजवादकी ओर ले जाती है और वर्तमान पूँजीशाही प्रथासे तो बहुत दूर है पर शुद्ध समाजवादके सिद्धान्तके साथ तौलनेसे इनका पलडा हलका, बहुत हलका, ठहरता है। आज भी रूस यह दावा नही करता कि उसने पूर्ण रूपेण समाजवादी व्यवस्था कायम कर ली है। जो कुछ अबतक हुआ है, जो कुछ पिछले अध्यायमे वर्णित है, वह मार्गके बडे स्टेशनके तुल्य है। इसीलिए इस अवस्थाको समाजवादी अवस्थाका प्रथम सोपान कहते है।

समाजवादी व्यवस्था क्रान्तिके बाद भले ही स्थापित हो, पर उसका जन्म पूँजीवादी व्यवस्थाके गर्भसे ही होगा अतः वह उसके दोषोसे एकदम मुक्त नही हो सकती। वर्तमान अतीतसे अपना पीछा नही छुडा सकता।

इस समय कामोका विभाग ऐसा है कि उसमे कोई ऊँचा, कोई नीचा माना जाता है। कामोका बँटवारा आगे भी रहेगा पर यह ऊँचे-नीचेका भाव क्रमश: मिट जायगा। आज मुँहसे तो यह भले ही कह दिया जाय कि सामूहिक जीवनके लिए सबकी जरूरत है अत. न कोई बडा है न कोई छोटा पर यह कहना ठीक वैसा ही है जैसे यह कह देना कि चारो वर्ण विराट् पुरुषके शरीरके अंग है अत उनमे ऊँच-नीचका भेद नही है। शास्त्रकी मर्य्यादाको मानते हुए भी ब्राह्मण अपनेको शूद्रसे ऊँचा मानता

* लेनिनके अवतरण उनके 'सेलेक्टेड वर्क्स' से लिये गये हैं।

है। उसी प्रकार एञ्जिनियर, मैनेजर, मिस्त्री अपनेको हथौडा चलानेवाले या पहिया घुमानेवालेसे ऊँचा मानते है। मस्तिष्क द्वारा जीविका प्राप्त करनेवाले शरीरसे काम करनेवालोको अपनेसे छोटा मानते है। काम जीविकाके लिए किया जाता है, इसलिए नही कि काम करनेमे कोई रस है। यह बात अस्वाभाविक है पर अस्वाभाविक होते हुए भी सभ्य जगत्मे सत्य है। पशु-पक्षी बेकार नही बैठते। उनसे कोई जबर्दस्ती काम नही लेता। पर चलने फिरने, दौडने उडनेमे उनको मजा आता है। इसी बहाने स्वास्थ्य भी ठीक रहता है, पेट भी भरता है। मनुष्यने अपनेको मुफ्तखोर बना लिया है। यदि भूखो मरनेकी सम्भावना न हो तो स्यात् हाथ-पाँव भी न डुलाये। जो सबसे कम मिहनतका काम होता है उसे ही वह चुनता है और उसे भी इसलिए पूरा करता है कि सिरपर एक निरीक्षक सवार रहता है। यह बात अच्छी नही है। काम न तो पेट पालनके लिए होना चाहिए, न किसी अफसरके डरसे। उसके करनेमे स्वत· आनन्द मिलना चाहिए, बिना श्रम किये जीवन अपूर्ण और नीरस लगना चाहिए।

इसके लिए शिक्षाकी आवश्यकता है। शिक्षा पुस्तकोसे तो मिलती ही है, उसका बहुत बडा साधन मनन है। सिद्धान्तोंपर विचार करना, अच्छे लोगोको काम करते देखना, सामुदायिक प्रयोगोकी सफलता और असफलताके कारणोपर गौर करना, दूसरोके साथ मिलकर सार्वजनिक हितके काम करना, यह सब शिक्षाके साधन है। सच्ची शिक्षाका परिणाम यह होता है कि व्यक्तिकी कर्त्तव्यबुद्धि जागती है। जहाँ साधारण मनुष्यको कर्तव्यपथपर लगानेके लिए पुरस्कार और दण्डकी जरूरत पडती है वहाँ सच्छिक्षा-मण्डित मनुष्य अपनी आन्तरिक प्रेरणासे काम करता है। उसकी स्वार्थबुद्धि तिरोहित हो जाती है और उसे स्वहित और लोकहितमे कोई भेद नही प्रतीत होता। वह 'सर्वभूतहितेरत' इसलिए नही होता कि उसको इहलोक या परलोकमे किसीको खुश करना है वरन् इसलिए कि लोकसंग्रह उसकी बुद्धिका स्वाभाविक अभ्यास हो गया है। उसको

यह खयाल भी नहीं आता कि मै दूसरोंका उपकार करने जा रहा हूँ वरन् समाजोपयोगी काम उसको आपही आकृष्ट करते है।

कुछ लोगोको यह शंका रहती है कि समाजवादी व्यवस्थाको पुरस्कारोंका अभाव विफल कर देगा। आज जो मनुष्य कोई नयी बात सोच निकालता है या अधिक परिश्रम करता है उसको अधिक रुपये मिलते है और वह इन रुपयोंको बढा सकता है। यह प्रलोभन लोगोसे काम कराता है। समाजवादी व्यवस्थामे बहुत रुपया भी न मिलेगा, पूँजी भी न जुट सकेगी, फिर कोई अपना दिमाग क्यो लगायेगा या दूसरोसे अधिक परिश्रम क्यों करेगा? इसका उत्तर यह है कि प्रलोभनपर काम करना अशिक्षा और असंस्कृतिका द्योतक है। संसारके जितने स्थायी काम हुए है वह रुपयेके लोभसे नही हुए है। न तो व्यासको किसीने रुपये दिये थे, न शङ्कराचार्य्यको। फिर उन्होने अपने अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ क्यो लिखे? चरकको किस विश्वविद्यालयमे नौकरी मिली और वाल्मीकिके हाथपर किस प्रकाशकने चार पैसे रखे? तुलसीदासजीने क्या यह झूठ कहा है कि उन्होने रामायणको 'स्वान्त:सुखाय' लिखा? यह कहनेसे काम नही चल सकता कि यह लोग असाधारण महापुरुष थे। हम इस बातको स्वीकार करते है पर यह भी देखते है कि यह महापुरुष ही सब लोगोंको इन्द्रिय-निग्रह, अस्तेय, निर्लोभिता आदिका उपदेश देते है। इसका अर्थ यह है कि इनकी रायमे साधारण मनुष्यका अन्त करण सदाके लिए पतित और स्वार्थी नही है। यदि उसपरका कषाय साफ कर दिया जाय तो वह निर्मल हो सकता हे। समाजवादी भी ऐसा ही मानता है। उसको मनुष्यकी नैसर्गिक पवित्रतापर विश्वास है। पर वह यह देखता है कि कुशिक्षा और बुरी परिस्थितिने लोगोको ऐसा लालची बना दिया है कि बिना पैसेके कोई काम नही करना चाहता। यदि परिस्थितिमे सुधार हो जाय अर्थात् शोषण मिट जाय और सबके लिए मानवोचित सुविधाएँ मिल जायँ तथा इसके साथ ही उत्तम शिक्षा दी जाय तो फिर प्रलोभनोकी

आवश्यकता न रहेगी प्रत्युत् लोग शौकसे और केवल लोकहितके भावसे प्रेरित होकर अपनी पूरी शक्ति भर काम करेंगे। न कोई शारीरिक श्रमसे जान चुरायेगा, न बुद्धिसे काम लेनेसे रुकेगा। जब काममें ऊँच-नीचका भाव मिट जायगा, जब काम लोकसेवाकी दृष्टिसे किया जायगा, जब श्रम जीवनका एक आवश्यक अङ्ग बन जायगा और सब लोग स्वतः अपनी पूरी योग्यता और शक्ति भर काम करने लग जायँगे, उसी समय सच्ची लोकतन्त्रता सम्भव होगी, क्योंकि उसी समय मनुष्य सचमुच मनुष्य होगा और सब मनुष्योंका बराबर माना जाना सम्भव होगा। बराबरीका अर्थ यह नहीं है कि किसीमें विशेष प्रतिभा न होगी या प्रतिभावालोंकी पूछ न होगी। वस्तुत. प्रतिभाकी तभी कद्र हो सकती है जब ईर्ष्या-द्वेषका तिरोभाव हो और प्रतिभावान् व्यक्ति समुदायका विशेष समर्थ सेवक, अथच सम्मान्य माना जाय।

उसी समय मजदूरीके अन्यायका भी अन्त होगा। जब बिना किसी दबाव या लालचके सभी अपनी सामर्थ्य भर श्रम कर रहे होंगे, उस समय किसीके श्रमकी नाप-तौल करनेकी आवश्यकता न होगी। जैसा कि हम पिछले अध्यायमें लिख चुके हैं, यह नाप-तौल अन्यायमय है पर वर्तमान कालमें इसके सिवाय कोई और उपाय नहीं है। पर उस समय यह प्रयास निरर्थक होगा। जो सार्वजनिक भण्डार सबके पूर्ण श्रमसे भर-पूर होंगे उनमेंसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी जरूरतके अनुसार ले लेगा। किसी मजदूरी देनेवालीकी आवश्यकता न रह जायगी।

उस समय समाजवादी व्यवस्था उन्नत अवस्थाको प्राप्त होगी। इस अवस्थाको दूसरा सोपान कहते हैं।

इसके बाद सरकारका रूप क्या होगा? न तो उस समय कोई ऐसा वर्ग रह जायगा जिसका दमन करना हो, न लोगोंसे जबर्दस्ती काम लेना पड़ेगा, न भोग्य वस्तुओंका मजदूरीके रूपमें वितरण करना रह जायगा, फिर सरकारके जिम्मे क्या काम रहेगा? उद्योग-व्यवसायकी तब भी

आवश्यकता रहेगी। यदि कोई दुष्ट-प्रकृति या श्रमसे जान चुरानेवाला पैदा ही हो गया तो उसका भी नियन्त्रण करना होगा, पर जहाँ लोकमत इतना जाग्रत होगा वहाँ इन कामोमे सभी लोगोको अभिरुचि होगी और किसी विशेष संघटनकी आवश्यकता न होगी। जनता विभिन्न कामोके लिए समितियाँ और परिषद् बनायेगी पर इन संस्थाओकी समता आजकलकी दण्डधारी सरकारोसे न होगी। कामके अभावसे सरकार आप ही न रह जायगी। परन्तु जब सरकार ही नही तो राज कैसा? राजकी सत्ताका भी लोप हो जायगा और जैसा हम पन्द्रहवे अध्यायमे कह आये है, एंगेल्सके शब्दोमे उस चरमावस्थामे बिना किसी प्रयासके 'राज मुरझाकर झड जायगा।'

वह दिन कब आयेगा यह हम नही कह सकते। कभी आयेगा भी या नही, यह भी निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता। जैसा कि लेनिनने 'दि स्टेट ऐण्ड रेवोल्यूशन'मे कहा है 'यह बात किसी समाजवादीके दिमागमे नही आयी कि वह यह वादा करे कि यह चरमावस्था अवश्य आ जायगी।' पर द्वन्द्व-न्यायके अनुसार अबतककी प्रगतिकी जो कुछ आलोचना की जा सकती है, उससे ऐसी आशा और दृढ आशा की जा सकती है कि पृथ्वीके भाग्य जागेगे और वह उस दिनको देखेगी। अभी वह काल बहुत दूर है परन्तु क्षितिजपर उसकी धुँधली आभा देख पडने लगी है।

इस पुस्तकका आरम्भ इस समस्याको लेकर हुआ था कि आज मनुष्य है पर मानव समाज नही है। लोग पारस्परिक राग-द्वेष, कलह और युद्धके शिकार होकर एक दूसरेका और मनुष्यताका संहार कर रहे है। स्वार्थने बुद्धियोको उतना कलुषित कर रखा है कि सम अजन जो समाजका लक्षण है सम्भव नही है। सबके हित विभिन्न और दूसरोके हितोके विरोधी है। इसका परिणाम पूँजीशाही और साम्राज्यशाही है पर यह दोनो शाहियाँ केवल परिणाम नही है, कारण भी है। यह क्षुद्र प्रवृत्तियोको और जगाती है। समाजवादी इनको समूल नष्ट करना चाहता है। वह उत्पा-

दनके साधनोको सार्वजनिक सम्पत्ति बनाकर वर्गसघर्ष मिटा देना चाहता है। उसको इस बातकी आशा है मनुष्यसे तुच्छ हितोका मोह छुडाया जा सकता है। यदि उसकी आशा पूरी हुई तो समाजवादी व्यवस्थाकी चरमावस्थाका नाम ही मानवसमाज होगा। उसकी नीव उस दिन पडेगी जिस दिन समाजवादियोके हाथमे अधिकारका सूत्र आयेगा।

कुछ विद्वानोको इसमे यह आपत्ति है कि केवल आर्थिक और राजनीतिक उपायोसे काम नही चल सकता, मनुष्यके प्रसुप्त आध्यात्मिक गुणोको जागरित करना होगा। तभी समाजका संस्थापन होगा, अन्यथा लोग फिर लोभादिके वशीभूत हो जायँगे। हम शास्त्रार्थ न करके थोडी देरके लिए इसे मान लेते है। पर आध्यात्मिक गुणोके प्ररोहणके लिए भी एक विशेष परिस्थिति चाहिए। जबतक स्वार्थ और लोभके द्वारा उन्नति करना सम्भव रहेगा, जबतक मनुष्य दूसरोका शोषण कर सकेगा, तबतक इन आध्यात्मिक गुणोकी नीद न टूटेगी। समाजवादीको ही यह श्रेय है कि वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है जिसमे यदि मनुष्यमे कुछ आध्यात्मिक गुण है तो वह पनप सके। इस दृष्टिसे भी मनुष्योके बिखरे समुदायको समेटकर उसको समाजमे परिणत करनेकी क्षमता सिवाय समाजवादके और किसी दूसरी चीजमे नही देख पडती।

अठारहवाँ अध्याय

समाजवाद और समष्टिवाद

अभी तक हम इस पुस्तकमे बराबर समाजवाद शब्दका ही प्रयोग करते आये हैं पर अब एक और शब्द समष्टिवाद (कम्यूनिज्म)से भी परिचित होना आवश्यक है। कभी इनका प्रयोग एक ही अर्थमे कर दिया जाता है पर साधारणतः अन्तर माना जाता है। समाजवादके अन्तर्गत वह सब मत है जो उत्पादनके साधनोको वैयक्तिक सम्पत्ति माननेके विरोधी हैं। इन मतोमे गिल्ड सोशलिज्म और सिण्डिकलिज्मकी भाँति कम्यूनिज्म भी है। अतः समाजवाद सामान्यवाची नाम हुआ और समष्टिवाद★ विशेषवाची।

मार्क्सकी व्याख्या दूसरी है। इस विषयमे मैं भी उनका अनुगमन करता हूँ। उसके अनुसार समाजवादी व्यवस्थाका प्रथम सोपान समाजवाद और द्वितीय सोपान समष्टिवादका स्वरूप है। प्रत्युत 'उन्होने यो कहा है कि प्रथम सोपान समष्टिवादकी निम्न भूमिका (नीचा दर्जा) और द्वितीय सोपान समष्टिवादकी उच्च भूमिका (ऊँचा दर्जा) है। इस मतके अनुसार समाजवादका उन्नत रूप समष्टिवाद है। आजकल समष्टिवादका रूससे कुछ विशेष सम्बन्ध माना जाने लगा है अत बहुत लोगोको अपनेको समष्टिवादी कहनेमे संकोच होता है। परन्तु सिद्धान्तकी दृष्टिसे यह सकोच निराधार ही नही अनुचित है। किसी समष्टिवादीके लिए हर बातमे रूसका समर्थक होना आवश्यक नही है।

इस कम्यूनिज्म शब्दके लिए हिन्दीमे कही-कही 'वर्गवाद' चल पडा

★ आजकल देशमें इस अर्थमें साम्यवाद शब्द प्रचलित हो रहा है।

था। यह सर्वथा गलत पर्याय है। जो समष्टिवाद वर्गभेदको मिटाना चाहता है उसको वर्गवाद कहना उतना ही न्यायसङ्गत है जितना कि सार्वजनिक स्वास्थ्य विभागको सार्वजनिक गन्दगी विभाग कहना। सम्भवत: यह भूल कम्यूनिज्मको भारतमे प्रचलित 'कम्यूनल' शब्दसे मिलानेसे हुई। कम्यूनल का अर्थ हुआ साम्प्रदायिक। अत: कम्यूनिज्मका अर्थ यह ले लिया गया कि वह किसी एक सम्प्रदाय अर्थात् वर्ग यानी श्रमिक वर्गके आधिपत्यका प्रतिपादन करता है। पर यह आधिपत्य तो अल्पकालीन अवस्था ही हो सकता है। जब वर्ग ही न होगे तब वर्ग-आधिपत्य कहाँसे होगा? व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे इस शब्दका सम्बन्ध 'कम्यून' से है (यो 'कम्यूनल' भी उसी स्रोतसे निकला है) और इस बातको ध्यानमे रखकर 'समष्टिवाद' अधिक जँचता है क्योकि इस नामसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि इस मतमे सारे समाज, नागरिकोकी समष्टि, का सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

उन्नीसवाँ अध्याय

कुछ दूसरी समाजवादी धाराएँ

पिछले अध्यायोमे हमने समाजवादके जिस रूपको अपने सामने रखा है उसका प्रतिपादन कार्लमार्क्स और एङ्गेल्सने सबसे पहिले किया था। इसलिए उसको मार्क्सवाद भी कहते है। इस समय अपनेको समाजवादी माननेवालोमे सबसे बडी संख्या ऐसे लोगोकी ही है जो किसी न किसी रूपमे इसी वादके अनुयायी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि साधारणत. समाजवाद शब्द मार्क्सवादका पर्य्याय हो गया है।

मार्क्सको अपना आचार्य्य माननेवाले सब लोगोके विचार प्रत्येक विषयमे एकसे ही हो, ऐसा नही है। इन लोगोमे कई बातोमे मतभेद है परन्तु प्रत्येक दल अपनेको सच्चा मार्क्सवादी कहता है और मार्क्स तथा एङ्गेल्सके शब्दोकी उसी व्याख्याको ठीक बतलाता है जो उसके अनुकूल होती है। एक दूसरेका खण्डन और विरोध बड़ी ही उग्रतासे किया जाता है। यहाँपर इन साम्प्रदायिक भेदोपर विचार करना अनावश्यक है। सैद्धान्तिक मतवैषम्य तो थोडा बहुत होता ही है पर नेताओकी महत्त्वाकाक्षा और उनका आपसी कलह इस वैषम्यकी जड़को और भी पुष्ट करता जाता है। नीचा दिखानेकी इच्छा अपने प्रतियोगीमे बहुतसे सैद्धान्तिक छिद्र दिखलाती है।

परन्तु ऐसे भी समाजवादी समुदाय है जिनकी स्फूर्तिका उद्गम प्रत्यक्षत. या प्रधानतः मार्क्स और एङ्गेल्ससे नही हुआ है। ऐसे लोग समाजवावादी है परन्तु मार्क्सवादी नही है। समाजवादी होनेके नाते पूँजीशाही-का अन्त करना इनको भी अभीष्ट है और आर्थिक शोषणके यह भी विरुद्ध

है परन्तु कई अशोमे इनको मार्क्सवादके सिद्धान्त और उसकी व्यावहारिक नीति पसन्द नही है। यहाँपर हम ऐसी तीन विचारधाराओका उल्लेख करना पर्य्याप्त समझते है।

फेबिअनवाद*

सं० १९३९ मे इंगलैण्डमे फेबिअन सोसायटीका जन्म हुआ। इसमे उस देशके कई गण्य मान्य व्यक्ति समय-समयपर सम्मिलित हो चुके हैं। सिडनी वेब और उनकी पत्नी वीटिस वेब, ग्रेहम वैलेस, रैमजे मैकडोनल्ड, वर्नर्ड शा, एनी बेसेण्ट—यह सब इसके सदस्य रह चुके है।

थोडेमे यह कह कहते है कि फेबिअन लोग जिनका प्रभाव ब्रिटेनके बाहर नहीके बराबर है, यह मानते है कि पूँजीशाहीका अन्त होना चाहिए और उत्पादनके साधनोका नियंत्रण समाजके हाथोमे होना चाहिए। वह भी ऐसा मानते है कि समाजके शरीरसे वर्गभेदको मिटा देना चाहिए परन्तु इन कामोके लिए वह उन साधनोका उपयोग करना हानिकर और अनावश्यक समझते है जो मार्क्सवादीके प्रधान हथियार है। फेबिअन कहते है कि जगत् स्वय समाजवादकी ओर झुक रहा है। जो लोग अपनेको समाजवादी नही कहना चाहते, जो सरकारे समाजवादके सिद्धान्तो-को नही मानना चाहती, उनको भी ऐसे उपायोका आश्रय लेना पड़ रहा है जिनका आधार समाजवाद है। रेल-तार जैसे कई उद्योगोको सरकारे चला रही है, आये दिन कल-कारखानोपर नियन्त्रण करना पडता है, जो रुपया शोषणके द्वारा कमाया जाता है उसका बहुत बड़ा भाग आयकरके

---

* फेबियस एक रोमन सेनापति था। वह बहुत दिनों तक धीरे-धीरे तैयारी करके अपने शत्रुको जीतनेमें समर्थ हुआ। उसीके नामसे फेबिअन शब्द निकला है। यह नाम क्यों चुना गया यह समुदायकी नीति देखनेसे स्पष्ट हो जायगा।

रूपमे छीन लिया जाता है, बूढोको पेंशन दी जाने लगी है, गर्भवती स्त्रियो और निर्धन घरोके बच्चोके भरण-पोषण-शिक्षणका भार समाज अपने ऊपर लेता जा रहा है। कई देशोमे बेकारोको काम या भोजन देनेका भार राजने ले लिया है। परिस्थितियाँ लोगोको उसी दिशामे ढकेल रही है। पूँजीपति भले ही सङ्गठित होते जायँ परन्तु श्रमिकोके सङ्गठनका स्वरूप भी अन्ताराष्ट्रिय हो गया है और उनकी शक्ति भी प्रतिदिन बढती जाती है अत. वह अपने शोषकोका सामना करनेमे अधिकाधिक समर्थ होते जा रहे है।

ऐसी अवस्थामे वर्गविद्वेषकी आगको प्रज्वलित करने और क्रान्ति करनेकी आवश्यकता नही है। ऐसे प्रयत्नोसे अपने विरोधियोको सतर्क और संघटित होनेका अवसर मिल जाता है और अपनी प्रगतिमे बाधा पडती है। आवश्यकता इस बातकी है कि जनमत प्रभावित किया जाय, लोगोको शिक्षालयो, समाचारपत्रो, पुस्तको और व्याख्यानो द्वारा समुचित शिक्षा दी जाय। सबसे बडी जरूरत इस बातकी है कि मध्यम वर्गकी मनोवृत्ति बदली जाय। यही वर्ग पूँजीशाहीका मुख्य स्तम्भ है। इसके साथ-साथ राजनीतिक संस्थाओका पूरा उपयोग करना चाहिए। अधिकसे-अधिक लोगोको व्यवस्थापक समितियोके लिए मत देनेका अधिकार प्राप्त करना चाहिए, चुनावोमे अपनी ओरसे उम्मीदवार खडे करना चाहिए और चुन जानेपर ऐसे कानून बनवाने चाहिए और ऐसी देशी-विदेशी नीतिका पालन करना चाहिए जिससे समाजवादी व्यवस्था निकट आती जाय। स्थानीय शासनसस्थाओमे भी इसी प्रकार घुसना चाहिए। विभिन्न देशोके समाजवादियोको एक-दूसरेका सहयोग भी प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार काम करनेसे प्रगति धीमी तो होगी परन्तु प्रति-क्रान्तिकी आशङ्का नही है। जो पाँव आगे बढा वह पीछे नही पड़ सकता। किसी वर्गको खुलकर शत्रुता करनेका अवसर नही मिल सकता और शिक्षित लोकमतका समर्थन पद-पदपर प्राप्त होता रहेगा।

सिण्डिकेट वाद

इसका पूरा नाम सिण्डिकलिज्म है। इस शब्दका ठीक-ठीक अनुवाद करना कठिन है परन्तु व्यवसायसंघवाद कहनेसे काम चल सकता है।

सिण्डिकलिस्ट मार्क्सवादीकी ही भाँति पूँजीशाहीका विरोधी है और वह भी वर्गसंघके सिद्धान्तको मानता है। वह भी ऐसा वर्गहीन समाज स्थापित करना चाहता है जिसमे उत्पादनके सारे साधनोपर समाजका स्वाम्य हो परन्तु कई बातोमे वह मार्क्सवादसे पूर्णतया अलग है। सोरेल, ला गार्देल और बर्थकी रचनाओमे इस मतका मुख्यतया प्रतिपादन मिलता है। इसका प्रभावक्षेत्र प्राय. स्पेन और दक्षिणी फ्रास तक परिसीमित रहा है।

सिण्डिकलिज्म 'सिण्डिकेट'से निकला है। सिण्डिकेटका अर्थ है व्यवसाय सघ, किसी व्यवसाय विशेषमे काम करनेवाले श्रमिकोका संघ। इन लोगोकी सम्मति है कि इस प्रकारके संघोका जाल प्रत्येक देशमे बिछ जाना चाहिए। इन संघोंका सघटन किसी राजनीतिक विचारके आधारपर नही, प्रत्युत श्रमिकोके वर्गहितोके आधारपर होना चाहिए। श्रमिकोका केवल एक लक्ष्य है और होना चाहिए—पूँजीशाही और शोषक वर्गका सर्वत. विनाश। कोई भी दूसरा लक्ष्य हो, वह उनकी शक्तियोको क्षीण करेगा। श्रमिकोको राजनीतिक संस्थाओसे दूर रहना चाहिए; न मत देना चाहिए, न उम्मीदवार बनना चाहिए, न शासनके काममे सहयोग करना चाहिए। उनको अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिए उसी हथियारसे काम लेना चाहिए जिससे उनको दबानेके लिए अन्ततोगत्वा काम लिया जाता है। पूँजीपति और सरकार मीठी-मीठी बाते भले ही करें परन्तु अन्तमे वह दबाव और बलप्रयोगके भरोसेपर रहते हैं। श्रमिकोको भी बलप्रयोगके लिए तैयार रहना चाहिए। बलप्रयोग अहिसात्मक भी हो सकता है परन्तु क्रमशः उसका स्वरूप हिसात्मक ही होगा। हिंसात्मक बलप्रयोगसे श्रमिकोकी वर्गचेतना और त्यागबुद्धि बढती है और उनके विरोधियोकी भी आँखें खुल

जाती हैं, उनको यह प्रकट हो जाता है कि अब समझौतेका द्वार बन्द हो गया है ।

बलप्रयोगके कई भेद है, जैसे हडताल, बहिष्कार और सैबोताज । हड़ताल और बहिष्कारका अर्थ तो स्पष्ट ही है, सैबोताजका अर्थ है काममे बलपूर्वक बाधा डालना । कलपुर्जोंको पकड़कर बैठ जाना ताकि कोई उनसे काम न ले सके, कारख़ानेमे इस प्रकार डेरा डाल देना कि काम न हो सके, मशीनो या उनके पुर्जोको हटा देना या तोड़ देना, सामानमे आग लगा देना, यह सब सैबोताजके प्रकार है । इन सब उपायोसे समय-समयपर काम लेते रहनेसे शोषकोपर और उनके हितोके रक्षकोपर दबाव पडेगा और श्रमिकोकी अवस्थामे सुधार होगा पर न तो सरकार अपने अधिकार छोड बैठेगी न पूँजीपति, इसलिए संघर्ष बराबर जारी रहेगा । होते-होते एक दिन ऐसा आ जायगा जब समस्त श्रमिक एक साथ अपना काम बन्द कर देंगे। यह 'महा हडताल' सिण्डिकलिस्टका ब्रह्मास्त्र है । उसका विश्वास है कि उसके आगे सरकारका कोई दमन न चल सकेगा । रेल, तार, जहाज़, पानीकल, बिजली, सभी कारखाने बन्द—पुलिस और सेना चाहे तो गोली चलाये पर कोई श्रमिक काममे हाथ न लगायेगा । उलटे, यदि बन पड़ेगा तो श्रमिक भी लुक-छिपकर अकेले या टोलियाँ बनाकर, गोलीका उत्तर गोलीसे देगे । इसके आगे विरोधियोको मुँहकी खानी पडेगी, पूँजीशाहीका गढ ढह जायगा । सम्भवत. इस अचूक अस्त्रसे काम लेनेकी आवश्यकता ही न पडेगी, विरोधी पहले ही मस्तक झुका चुके होगे परन्तु अभी तो श्रमिकोको इसी बातको ध्यानमे रखकर चलना चाहिए कि उन्हे एक दिन महा हड़तालमे भाग लेना होगा । ऐसा करनेसे उनका संघटन पुष्ट होगा और त्यागकी भावना दृढ होगी ।

विजयके उपरान्त समाजका जो रूप होगा उसका कोई स्पष्ट और विस्तृत चित्र इन लोगोने सामने नही रखा है । हाँ, इतना स्पष्ट है कि इनके मतसे उस समय किसी प्रकारका राज, किसी प्रकारकी सरकार न रहेगी । न

पुलिस होगी, न सेना। स्थानीय और सार्वदेशिक सर्वव्यवसाय संघ—ऐसे संघ जिनमे सभी व्यवसायोके प्रतिनिधि होगे—वह सब काम कर लेगे जिनको आज स्थानीय शासन संस्थाएँ और सरकारे करती है। समाज-विरोधी काम करनेवालोका नियन्त्रण लोकमत करेगा और प्रत्येक व्यक्ति समाजकी व्यवस्थाका जिसके ही द्वारा उसको सच्ची स्वाधीनताका सुख मिल सकेगा जागरूक रक्षक होगा।

पूग समाजवाद

इसको यूरोपमे गिल्ड सोशलिज्म कहते है। गिल्डका अर्थ है पूग। यह शब्द व्यवहारसे निकल गया है क्योकि आजकल हमारे समाजमे पूग नही रह गये है। व्यवसायियोके एक विशेष प्रकारके सघटनको पूग कहते है। सोनार, लोहार, कुम्हार, मोची, दर्जी इन सबके पूग हो सकते है। यदि आज सोनारोका पूग होता तो प्रत्येक सोनार उसके अधीन होता। किसी प्रकारके मालकी क्या बनवाई ली जाय इसका नियमन पूग करता; किसको सुनारीकी विद्या सिखायी जाय और योग्यताकी किस प्रकार परीक्षा करके स्वतन्त्र व्यवसाय करने दिया जाय, जो व्यक्ति इस नियन्त्रणको न माने या कोई ऐसा काम करे जो इस व्यवसायकी प्रतिष्ठाके प्रतिकूल हो उसको क्या दण्ड दिया जाय, यह सब बाते पूग तय करता। उसके निश्चयोका का समर्थन तत्कालीन सरकार करती। आज हमारे देशमे यह सब व्यवसाय पैत्रिक हो गये है, व्यवसायियोकी जातियाँ हो गयी है। इनकी पचायते भी है परन्तु उनके कर्तव्यो और अधिकारोका क्षेत्र पूगोकी अपेक्षा बहुत सकुचित है। जिन देशोमे जन्मना जातिकी व्यवस्था नही है वहाँ भी इस मशीन युगमे पूग टूट गये है या नाम शेष रह गये है।

कुछ विद्वानोका मत है कि समयानुकूल परिवर्तन करके पूगोको पुनरुज्जीवित करना चाहिए। इन लोगोमे जार्ज ड० ह० कोलका स्थान मुख्य है। पूगवादियोकी संख्या बहुत थोडी है और अभीतक प्राय. इंगलैण्ड-

मे ही सीमित है । यह लोग भी पूँजीशाहीके विरोधी है और शोषणका अन्त करना चाहते है परन्तु समाजवादी जगत्का जो चित्र इनके सामने है और उसको प्रतिष्ठाके लिए यह जिन उपायोसे काम लेना चाहते है वह मार्क्सवादियोसे भिन्न है ।

इनका कहना है कि श्रमिकोको अपना संगठन दृढ करना चाहिए । संगठन कारीगरी नही वरन् व्यवसायके आधारपर होना चाहिए । जैसे, कातनेवालो, बुननेवालो आदिके अलग-अलग संघ न होकर सब कपड़ा तैयार करनेवालोका एक सार्वदेशिक संघ हो और स्थान-स्थानमे उसकी शाखाएँ हो । इन संघोको निरन्तर आन्दोलनके द्वारा अपनी शक्ति बढानी चाहिए और अपने सदस्योके स्वत्वोकी निरन्तर वृद्धि करते जाना चाहिए । आन्दोलनके सभी उपायोसे काम लिया जायगा । हडताले भी की जायँगी । मत देने और व्यवस्थापक सभामे जानेसे बहुत लाभकी आशा नही है परन्तु इस साधनकी उपेक्षा नही की जायगी । श्रमिकोको कुछ व्यवसायोको स्वतन्त्र रूपसे चलानेका प्रयत्न करना चाहिए । इससे उनकी आत्मनिर्भरता बढेगी और दूसरे लोगोको उनकी क्षमतापर विश्वास होगा । ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि सरकार कुछ व्यवसायोको, जैसे रेल या खानको, अपने हाथमे ले ले । इससे पूँजीपतियोके एकाधिकारमे कमी होगी । पर मुख्य उपाय यह है कि अपने संघटनके बलसे सभी बडे व्यवसायोमे अपना प्रभाव और अधिकार बढाया जाय । आज पूँजीपति श्रमिकोको अलग-अलग भर्ती करते है, अलग-अलग निकाल सकते है, स्वयं उनका पारिश्रमिक तय करते है, स्वयं मैनेजरो तथा दूसरे अफसरोको नियुक्त करते है । श्रमिक धीरे-धीरे इन सब क्षेत्रोमे अपना प्रभाव बढावें ताकि उनकी इच्छाके प्रतिकूल कोई भी काम न हो सके । कारखानोकी आयका बँटवारा भी उनकी रायके विरुद्ध न हो सके । जब मनमाना प्रबन्ध करना और लाभ उठाना बन्द हो जायगा तो यह बात आप ही स्पष्ट हो जायगी कि पूँजीपतियोका वर्ग निकम्मा है और श्रमिक सारा काम आप सँभाल सकते है । यहाँतक तो

ठीक है परन्तु अन्तिम कदम क्या होगा इस विषयमे एक राय नहीं है। कुछ लोग कहते है कि उस अन्तिम अवस्थामे वैध उपायोसे ही शेष स्वत्व श्रमिकोके हाथमे आ जायँगे, दूसरे लोगोका विचार है कि अनुकूल स्थितिमे क्रान्तिमय उपायोसे काम लेना होगा और उनके लिए अभीसे तैयारी करनी चाहिए।

अधिकार प्राप्त होनेपर व्यवसायोंका संगठन पूग आधारपर करना चाहिए। कपडा तैयार करनेवालोका एक पूग हुआ, दर्जियोका दूसरा, खनिकोका तीसरा, छापेखानेवालोका चौथा इत्यादि। प्रत्येक पूग अपने भीतरी प्रबन्धमे स्वतन्त्र होगा। कपडा तैयार करनेवालोका पूग सब कारखानोके लिए रूई मोल लेगा, काम करनेवालोका पारिश्रमिक तय करेगा, अफसरोकी नियुक्ति करेगा, ठीक काम न करनेवालोको दण्ड देगा, मशीनोकी देखभाल करेगा और बना माल बेचेगा। इसी प्रकार दूसरे पूगोका काम होगा। ऐसी संस्थाएँ होगी जिनमे कई पूगोके प्रतिनिधि होगे। इनके द्वारा पूग एक दूसरेसे माल ले दे सकेगे और आपसके झगडे निपटा सकेगे। सबके ऊपर एक सार्वदेशिक संस्था होगी जो सभी पूगोका प्रतिनिधित्व करेगी। इसके हाथमे समाजके समस्त आर्थिक जीवनका नियन्त्रण होगा। कुछ व्यवसाय ऐसे है जिनको स्यात् पूगोके रूपमे संघटित न किया जा सके, जैसे ग्रन्थकार या पत्रकार या पुरोहित। इनको तथा छोटे-छोटे कारखानो और दस्तकारियोको स्वतन्त्र छोडा जा सकता है।

परन्तु सार्वजनिक जीवनके आर्थिकके अतिरिक्त और भी क्षेत्र है। उनका प्रबन्ध कैसे हो, इस विषयमे कुछ मतभेद है। एक पक्षका कहना है कि मनुष्य जहाँ कमानेकी दृष्टिसे किसी विशेष व्यवसायका श्रमिक है वहाँ वह किसी धर्म्मविशेषका अनुयायी है, दूसरे देशोके प्रति विशेष सम्मति रखता है, शिक्षा या विवाहके प्रश्नको किसी विशेष दृष्टिकोणसे देखता है। थोडेमे कह सकते है कि वह केवल श्रमिक नही वरन् नागरिक भी है। अतः कोई ऐसी संस्था होनी चाहिए जो नागरिकोका प्रतिनिधित्व करे।

यही संस्था राज होगी। वह देश-विदेशके उन प्रश्नोंको देखेगी जिनको अपने-अपने व्यवसायके हितकी दृष्टिसे चुने गये सार्वदेशिक पूगमहासभाके सदस्य नही निपटा सकते। दूसरा पक्ष कहता है कि राजसत्ता बुरी चीज़ है। कोरी नागरिकता कोई वस्तु नही है। कोई भी मनुष्य हो वह समाजसे कुछ लेता है, उसको कुछ देता है। जो अन्न उत्पन्न करता है वह कपडा मोल लेता है। इसलिए एक ओर तो उत्पादकोका संगठन पूगोके रूपमे हो, दूसरी ओर मोल लेनेवालोकी सस्थाएँ बने। कही-कही बिजली कम्पनी-से बिजली लेनेवालोकी समितियाँ है, इसी प्रकार अन्न लेनेवालो या कपडा लेनेवालोकी समितियाँ बन सकती है। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी पूग या समितिमे स्थान पा जायगा, बहुत-से लोग कइयोके सदस्य होगे। कई बाते, जैसे बाजार भाव या शिक्षा या सार्वजनिक स्वास्थ्यको, मालको तैयार करनेवालो और मोल लेनेवालोके स्थानीय प्रतिनिधि मिलकर तय कर सकते हैं। ऐसी ही एक सार्वदेशिक संस्था हो जिसमे भिन्न-भिन्न पूगो और मोल लेनेवाली संस्थाओके प्रतिनिधि हो। इसको वह सब काम सौप दिये जायँ जो स्थानीय ढंगसे नही किये जा सकते। युद्ध और सन्धि भी इसीके क्षेत्रमे होगी। इसको 'कम्यून' नाम दिया गया है।

यह तीनो उन वादोमेसे प्रधान है जो मार्क्सवादसे पृथक् मार्गपर चलना चाहते है। मैने यहाँ इनकी आलोचना करना अनावश्यक समझा है। समाजवादके मूल सिद्धान्तोको सामने रखकर प्रत्येक समझदारको स्वयं विचार करना चाहिए कि किस मार्गसे चलकर लक्ष्यकी प्राप्तिमे सुगमता होगी।

कही-कही ऐसा देखा जाता है कि कुछ बडे-बडे व्यवसायोका राष्ट्रीकरण हो जाता है अर्थात् उनको सरकार अपने हाथमे ले लेती है। इसको राजायत्त समाजवाद कहते है। इसके साथ ही छोटे व्यवसाय स्थानीय शासन संस्थाओंके हाथमे देखे जाते हैं। यह अवस्था देखनेमे समाजवादी व्यवस्थासे मिलती-जुलती है परन्तु दोनोमे बडा अन्तर है। सच्चे समाजवादी

प्रबन्धमे प्रत्येक स्वस्थ नागरिक श्रमिक है और प्रत्येक श्रमिक उत्पादनके साधनोका स्वामी है। वर्गभेदका सर्वथा अभाव होता है। परन्तु यह राजायत्त समाजशाही दिखावटी वस्तु है। श्रमिक श्रमिक ही रह जाता है। थोडेसे व्यवसायोको छोडकर शेष व्यवसाय पूँजीपतियोके हाथमे होते है। वर्गभेद ज्योका-त्यो बना रहता है। इतना अवश्य माना जा सकता है कि परिस्थितियोके दबावसे राजायत्त समाजशाही पूर्ण समाजवादी व्यवस्थाकी ओर बढनेमे एक स्टेशन हो सकती है।

३

भारतीय समाजवाद

बीसवाँ अध्याय

भारत और समाजवाद

यह पुस्तक समाजवादके सिद्धान्तके सम्बन्धमे है, इसका भारतीय राजनीतिसे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। परन्तु हम इस देशकी परिस्थितिकी ओरसे तटस्थ भी नही हो सकते। यहाँ भी समाजवादी विचारोपर गम्भीर मनन हो रहा है। बहुतसे लोग यह सोच रहे है कि हमको मार्क्सके पथपर चलना होगा, अन्यथा देशका कल्याण नहीं हो सकता। मार्क्सके पथपर चलनेका अर्थ साधारणतः यही हो सकता है कि रूसका न्यूनाधिक अनुकरण किया जाय।

मार्क्सवादके विरोधियोकी भी कमी नही है। कुछ लोग तो समाजवादको इसीलिए भारतके लिए अहितकर समझते है कि वह पश्चिमसे आया है। परन्तु इतनेसे तो वह त्याज्य नही हो सकता। क्या विदेशी होनेसे यूरोपवालोके लिए वेदान्त और योग त्याज्य है? क्या पाश्चात्य होनेसे हम ऐलोपैथी चिकित्सासे काम नही लेते? रेल और तारका आविष्कार भी तो पश्चिममे ही हुआ था। उत्पत्तिस्थानका प्रश्न उठाना मूर्खता है, गुण-दोष पर विचार करना चाहिए। भारतमे भी बडे-बडे कल-कारखाने खुलते जा रहे है, लाखो मजदूर काम कर रहे है। मज़दूरों और मिल-मालिकोंमे आये दिन झगडा होता है। आज यहाँ कारखाना बन्द किया जाता है, कल वहाँ हडताल होती है। यही बाते पाश्चात्य देशोमे भी होती है। जीवन-संग्राम इतना उत्कट है कि अब भारत आधुनिक कालकी विशेषताओसे अपनेको नही बचा सकता। उसे मशीनें भी रखनी पडेंगी, विदेशोसे सम्बन्ध भी रखना पडेगा। इसलिए उसे पाश्चात्य समाजवादका भी

आश्रय लेना होगा या कोई दूसरा उपाय जो उससे भी उत्तम हो, ढूँढना पडेगा ।

भारतीय संस्कृतिकी प्रतिकूलताकी बात भी उतनी ही नि.सार है । विश्वसंस्कृतिके इतिहासमे भारतका स्थान आदरणीय है । भारतीय जनता इस संस्कृतिपर अपनेको बधाई दे सकती है पर अनुचित गर्व करना पागलपन है । यह कहा जाता है कि हमारी सस्कृति अध्यात्म-मूलक है । इस कथनमे चाहे जहाँ तक यथार्थता हो और इसका चाहे जो अर्थ हो पर यह तो कोई भी नही कह सकता कि सभी भारतीय आध्यात्मिकतामे निष्णात है । मजहबके नामपर दम्भ और अनाचार, सामाजिक उत्पीडन, दरिद्रता, सडको और घरोमे स्त्रियो और बच्चोके सामने अश्लील गालियाँ, झूठी गवाही—इनमेसे कौन-सी बात आध्यात्मिकताकी द्योतक है ? क्या लोग गरीबी और बीमारीमे असन्तुष्ट तथा अधीर नही हो उठते ? कितने मनुष्य—सबको जाने दीजिए, कितने पण्डित, संन्यासी या मुल्ला, फकीर—समाधिस्थ होकर बैठते है ? कितने साधु-संन्यासी मठाधीश है ? कितने ब्राह्मण शिलोञ्छ वृत्तिसे जीविकाका निर्वाह करते है ? फिर आखिर हमारी आध्यात्मिकता कहाँ छिपी पडी है ? हम दूसरे देशवालोसे इस समय किस बातमे भिन्न है ? किसी समय सरस्वतीके तटपर सामगान होता था और श्रीमच्छकराचार्य्यने शारीरक भाष्य लिखा था, इतनेसे ही हम आज अध्यात्ममूर्ति कहलानेके अधिकारी हो गये ? क्या मौके-बे-मौके ईश्वरका नाम लेते रहना ही आध्यात्मिकता है ? यह गम्भीर प्रश्न है । यदि हम इनपर विचार करेंगे तो यह प्रतीत हो जायगा कि हमारी संस्कृतिमे ऐसा कोई तत्त्व नही है जो हमको पृथ्वीके और मनुष्योसे भिन्न बना दे और समाजवादको हमारे लिए अग्राह्य बना दे ।

पर इसका अर्थ यह नही है कि हम अपनी संस्कृतिको भुला दें । समाजवादी व्यवस्था शून्यमे स्थापित नही होती । उसके पात्र मनुष्य होते है और मनुष्य किसी खास परिस्थिति, किसी विशेष संस्कृतिमे, ही पले होते

हैं । सिद्धान्त एक होते हुए भी देश-काल-पात्रके भेदसे उसके व्यवहारमे भेद हो सकता है । न तो आज भारतको सतयुगके समय तक लौटाना सम्भव है न उसे ब्रिटेनकी नक़ल बनाना सम्भव है पर इसके साथ ही उसको रूस या किसी अन्य देशकी नकल बनाना भी उचित नही है ।

यह अन्तिम वाक्य योही नही लिखा गया है । अभी तक तो इस पुस्तकमे समाजवाद, यथार्थतः मार्क्सवाद, के प्रामाणिक रूपका सैद्धान्तिक निरूपण हुआ है परन्तु जब उसको कार्य्यमे परिणत करना होगा तो प्रत्येक देशके विचारकोको उसपर हर पहलूसे मनन करना चाहिए । हम भारतीयो-का यह कर्तव्य है कि इस प्रश्नपर गम्भीरतासे मनन करे । मार्क्सवादी कार्य्यशैली और उसका दार्शनिक आधार, दोनोको आलोच्यविषय बनाना चाहिए ।

जहाँ तक कार्य्यशैलीकी बात है रूसपर स्वभावतः दृष्टि पडती है । उस देशको सबसे पहिले समाजवादी प्रयोग करनेका अवसर मिला और उसको सौभाग्यसे लेनिन जैसा नेता मिला । पृथ्वीभरके समाजवादियोके लिए रूस तीर्थ हो गया, रूसकी हार-जीतको समाजवादी मात्रने अपनी हार-जीत मान लिया । दु खकी बात है कि रूसने बहुतोको निराश किया । इस नैराश्यका चित्र मसानीके 'सोशलिज्म रीकसिडर्ड' तथा अध्यापक ब्रजनारायणके 'मार्क्सिज्म इज डेड' मे खीचा गया है । रूसने अमोघ सैनिक शक्तिका सचय किया, यह निर्विवाद है । यह भी निर्विवाद है कि रूसमे कोई पूँजीपति नही हो सकता, कल-कारखानोका स्वामी या तो राज है या स्थानीय शासन संस्थाएँ या सह-योग समितियाँ, लोगोमे शिक्षा और सस्कृतिका प्रसार है, जनताकी आर्थिक दशाका सुधरना भी निर्विवाद है । पर इतनेसे ही समाजवादी व्यवस्था नही हो जाती । जहाँ तक यह बातें समाजवादके प्रथम सोपानके अन्तर्भूत है वहाँ तक इनमेसे कई या सबको वह देश भी बरतते जाते है जो समाजवादी होने-का दावा नही करते । वर्गरहित समाजका अस्तित्व प्रयोगकी सफलताकी कसौटी हो सकता है । कहा जाता है कि अब रूसमे वर्गभेद नही है । लेनिनके शब्दोमे

सभी लोग स्वतन्त्र और बराबर है, इसीलिए नये शासन-विधानको लोकतन्त्रात्मक रूप दिया गया है। परन्तु रूसके शासकोका यह दावा मान्य नहीं है। वहाँ पूँजीपति नही है परन्तु आमदनियोमे बहुत भेद है। पहले कम्युनिस्ट दलके सदस्योपर यह बन्धन था कि वह बडे वेतन नही ले सकते थे, अब यह बन्धन उठा दिया गया है; कुशल कारीगरो, डाक्टरो, इञ्जीनियरो, कलाकारो, ग्रन्थकारो, बडे अहलकारोकी आय साधारण श्रमिकोकी आयसे कई सौ गुना अधिक है। अपने लडकोको जो सम्पत्ति छोडी जा सकती है उसकी सीमा बढा दी गयी है। सरकारी ऋणके कागज खरीदनेवालोको ७% ब्याज मिलता है। यह शुद्ध अनर्जित वृद्धि है। इस प्रकार सम्पन्नोका नया वर्ग बन रहा है और बन गया है। यही लोग शासक है, कल-कारखानोके प्रबन्धक है। फलतः न तो राजके बेकार होकर झडनेके कोई लक्षण है, न जनताके अधिकारोको वृद्धि होनेकी आशा है। राजकर्म्मचारियो और व्यवसायके प्रबन्धकोके हाथमे शासनका सूत्र चला गया है। यह प्रबन्धक भी राजके ही भृत्य है, इसलिए यह कह सकते है कि वास्तविक अधिकार नौकरशाहीके हाथमे है। इस नौकरशाहीके सदस्य जनतामे-से ही आते है, अभी तक तो ऐसा नही हुआ है कि पिताकी जगह पुत्रको ही मिले। परन्तु इतना होनेपर भी यह नही कह सकते कि जनताके हाथमे अधिकार आ गया है या वह शासनको प्रभावित कर सकती है। तिब्बतके लामा साधु होते है, वह विवाह नही करते, धन बटोरकर अपने घर नही ले जाते परन्तु वहाँ सारा अधिकार इन लोगोके हाथमे है, जनताका दखल नही है। सामान्य जनतासे ही आते है परन्तु विशेषाधिकार उनको पृथक् बना देते है। रूसमे कोई दूसरा राजनीतिक दल नही रह सकता। पिछले कुछ वर्षोमे शासनके बहुतसे विरोधी, जिनमे लेनिनके कई ऐसे पुराने साथी क्रान्तिकारी नेता भी थे जिनके कारण क्रान्ति सफल हुई थी, झूठे-सच्चे अभियोग लगाकर मृत्युके घाट उतारे गये। स्टालिनकी नीतिके विरुद्ध मुँह खोलना यमलोककी ओर प्रस्थान करना था। इस प्रकारकी अधिनायकतासे

और चाहे जो लाभ होता हो परन्तु व्यक्तिस्वातन्त्र्यका हनन हो जाता है। इसको समाजवादके द्वितीय सोपानका मार्ग नही कह सकते। स्टालिनकी मृत्युके बाद ऐसा प्रतीत हुआ कि यह परिस्थिति बदलेगी। ख्रूश्चेवने स्टालिनकी नीतिका खण्डन किया परन्तु वास्तविक परिवर्तन नही हुआ। ख्रूश्चेवके विरोधियोका भी कोई रक्षक नही है। लोग स्यात् मारे कम जाते है परन्तु जहाँ कलका प्रधान मन्त्री बुल्गानिन बातकी बातमे पद-च्युत करके छोटा अहलकार बना दिया जा सकता है वहाँ अधिनायक-शाहीके ढीले होनेके लक्षण कम ही देख पडते है।

रूसमे एक प्रकारकी साम्राज्यशाहीका भी उदय हुआ है। पोलैण्डमे हस्तक्षेप करके जबरदस्ती ऐसी सरकार बनवायी गयी थी जो हर बातमे रूसका साथ दे। पर, अब पोलैण्डने इस बन्धनको ढीला कर दिया है। बहुतसे देश-भक्त पोल इस लिए विपद्ग्रस्त बना दिये गये कि वह इस कठपुतली सरकारका विरोध करते थे। एस्थोनियो, लैटविया और लिथुएनिया जिस प्रकार सोवियत संघमे मिलाये गये और फिनलैण्डसे जिस प्रकार झगड़ा मोल लिया गया वह राष्ट्रवादी सरकारोकी पुरातन शैलीके अनुकूल तो है पर उसकी सफ़ाई देना समाजवादियोके लिए दुष्कर हो जाता है। कम्युनिस्ट इसको साम्राज्यशाही कहना पसन्द नही करते परन्तु यह मानना होगा कि यह बाते साम्राज्यशाहीकी दिशामे बहुत दूर तक जा रही है। अभी हालमे हगरीमे जैसा रक्तपात और भीषण दमन किया गया वह साम्राज्यशाहीका नंगा नाच था। इसी नीतिका अवलम्बन चीनकी कम्युनिस्ट सरकारने तिब्बतमे किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि साधारण जनता राजनीतिक और व्यावसायिक शासनका बोझ उठानेके योग्य नही है। स्यात् वह बोझ उठाना चाहती भी न हो। शासन कोई करे, यदि जीवनकी साधारण आवश्यकताएँ पूरी होती रहे और सरकार बहुत छेड़-छाड़ न करे तो लोग इसकी परवाह नही करते कि शासन कौन कर रहा है। परन्तु जहाँ व्यक्तिस्वातन्त्र्य न

होगा, सरकार अपनी आलोचना सहन करनेको तय्यार न होगी, वहाँ छेड़-छाड़ होगी ही। सरकार जीवनके सभी अंगोंपर कड़ी दृष्टि रखना चाहेगी और झडनेके बदले बलवती होती जायगी।

कारखानोमे काम करानेके दो प्रकार होते है। एक तो यह है कि इतने घटे काम करनेपर इतनी मज़दूरी मिलेगी। दूसरा यह है कि जो जितना अधिक काम करे उसको उतनी ही अधिक मजदूरी दी जाय। जो कारीगर आज ३ करघे एक साथ सँभालता है वह यदि कल ४ करघे सँभाल ले तो मजदूरी भी उसी अनुपातसे बढा दी जायगी। मार्क्स तथा दूसरे समाजवादी आचार्य्योने इस दूसरी पद्धतिकी तीव्र निन्दा की है। उनका कहना है कि यह पूँजीपतियोकी चाल है। श्रमिकको प्रलोभन देकर चूस लेनेका साधन है। परन्तु आज रूसमे इस पद्धतिका बडा जोर है। इसको स्ताखानोविज्म कहते है, क्योकि पहिले पहिल इसे स्ताखानोव नामके एक कोयला खोदनेवाले मजदूरने चलाया था। चौगुनी-पंचगुनी मजदूरीकी लालचमे श्रमिक चौगुना-पचगुना काम कर रहे है। यह बात तो समाजवादी व्यवस्थाकी ओर लेजानेवाली नही है।

आज रूस विश्वक्रान्तिसे बहुत दूर चला गया है। सार्वभौम कम्युनिस्ट महासभा, कोमिण्टर्न, तोड दी गयी है। लडाईके दिनोमे रूसको ब्रिटेन और अमेरिका जैसे पूँजीवादी देशोसे सहयोग करना पडा है। लडाईके पहिले भी रूसकी वैदेशिक नीति इस दिशामे झुक गयी थी। अपनी रक्षाके लिए रूसको ऐसा करना पडा, फलतः उसने विश्वमे समाजवादी क्रान्ति करानेका कभी जो सङ्कल्प किया था, उसको छोड दिया। लेनिनने कहा था कि सर्वहारा वर्गका साम्राज्यवादी मध्यम वर्गसे मिलना विश्वासघात है। उनकी रायमे राष्ट्रसंघ नये साम्राज्यवादी युद्धकी तैयारीका उपकरण था। परन्तु रूस राष्ट्रसंघमे सम्मिलित हुआ। उसने पूँजीवादी देशोसे सधियाँ की। जहाँ तक क्रान्ति करने-करानेकी बात है, १ मार्च सन् १९३५ को स्टालिनने अमेरिकाके विख्यात पत्रकार राय हावर्डसे

बातचीतके बीचमे कहा, "यदि आपलोग समझते है कि रूस पडोसी राजोके स्वरूपको बदलना चाहता है, और वह भी बलपूर्वक, तो आप भूल कर रहे है। यह ठीक है कि यदि उनका स्वरूप बदल जाय तो रूस-को प्रसन्नता होगी पर बदलना न बदलना उन राजोकी इच्छाकी बात है।" हावर्डने पूछा, "क्या इसका तात्पय यह है कि रूसने विश्वक्रान्ति करनेके विचारको छोड दिया है।" स्टालिनने उत्तर दिया "हमारा कभी भी ऐसा विचार नही था।" रूसको आत्मरक्षाके लिए दूसरोसे सन्धि करनेका पूरा अधिकार है परन्तु जो लोग यह आशा रखते रहे हो कि वह विश्वक्रान्तिका सक्रिय नेता बनेगा उनको निराशा जरूर होगी।

स्टालिन अब नही है परन्तु रूस बराबर उसी दिशामे बढता प्रतीत होता है। रूसके सर्वेसर्वा ख्रुश्चेव अभी अमेरिका गये और अमेरिकन राष्ट्रपतिसे कई दिनो तक बात करते रहे। उनका प्रयास तो यही प्रतीत होता था कि यह दोनो देश मिलकर रहे और विश्वशान्तिके अग्रदूत बने। उन्होने स्पष्ट कहा कि यदि किसी देशकी जनता समाजवादी व्यवस्था पसन्द करती है तो वह उसे जब चाहे स्थापित करे, रूस किसीपर ऐसी व्यवस्था लादनेका प्रयत्न नही करेगा।

आखिर रूसमे ऐसा क्यो हुआ, उसको शुद्ध क्रान्तिकारी मार्क्सवादकी परिपाटीका व्यवहारमे क्यो परित्याग करना पडा? रूसके शासक सब दुष्ट है, ऐसा मानना कठिन है। तब फिर यही कहा जा सकता है कि परिस्थितियोने उनको विवश कर दिया। पर क्या यह परिस्थितियाँ केवल रूसके सामने थी या उनका सामना प्रत्येक ऐसे देशको करना पडेगा जो समाजवादको अपनायेगा। यदि सबको ही वही विपत्ति झेलनी होगी और हारकर पथभ्रष्ट होना पडेगा तो फिर तो ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्यमे ही कुछ दोष है, मार्क्सवाद हमारे रोगोकी यथार्थ औषध नही है। यदि हमको मानव-जगत्को मनुष्य-समाज बनाना है, उत्पीड़न और शोषण-की जगह समता और शान्तिको स्थापित करना है, तो वर्गभेद मिटाना

होगा, समाजवादी व्यवस्था कायम करनी होगी, परन्तु उस हमारे समाजवादको मार्क्सवादसे कुछ भिन्न आधारोंपर खडा करना होगा।

भारतीयोंको इन बातोंपर गम्भीरतासे विचार करना होगा। भारतीय समाजवादी फेबियन नही बन सकता। यह क्रमिकताकी अनिवार्य्यताके* सहारे नही बैठा रह सकता। क्रमिकताकी अनिवार्य्यताका स्वर वह लोग उठाते है जिनका विश्वास है कि क्रमिक विकास अनिवार्य्य है, क्रान्तिमय उपायोंसे काम नही बन सकता। भारतवासी मानव स्वभावको पतित मानकर भी नही बैठ सकता। यह भी विचारणीय है कि सर्वहाराका अधिनायकत्व स्थापित किया जाय या नही। इसका अवसर भी जल्दी नही मिलेगा परन्तु ऐसा प्रयत्न करना भी स्यात् बहुत अच्छा न होगा। भारत जैसे देशमे तो यह स्वप्न छोड ही देना चाहिए। करोडो किसानोंको मुट्ठीभर सर्वहाराके पीछे चलाना उचित न होगा। जिस निर्दयतासे मध्यमवर्गों व किसानोंका दमन रूसमे किया गया उसका अनुसरण भी हम नही कर सकते। किसान अपना हित नही समझता, उसका नेतृत्व समाजवादियोंको करना होगा। ऐसे उपायोंसे भी काम लेना होगा जो आरम्भमे अप्रिय लगें परन्तु थोडेसे व्यक्तियोंको अपनी बुद्धिके आधारपर राजशक्तिका आश्रय लेकर लाखो करोड़ो मनुष्योपर ऐसा कठोर शासन नही करना चाहिए। भलाई करनेके नशेमे बुराई भी हो सकती है।

सबसे बड़ी बात यह है कि व्यक्तिके नागरिक अधिकारोंका अपहरण कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकता। भाषण और लेखनका स्वातन्त्र्य होना चाहिए। सरकारकी आलोचना करनेका अधिकार होना चाहिए। सरकार को बदलनेका अधिकार होना चाहिए। यदि समाजवादी सचमुच लोकहित की व्यवस्था करेंगे तो देशका बहुमत उनके साथ होगा। देशमे दरिद्र, निर्धन श्रमिक अधिक है। महाजन और पूँजीपति कम है। जो सरकार साहस और

---

*the inevitability of gradualness.

निष्ठाके साथ समाजवादी नीतिको बर्तेगी पूँजीशाही और अनर्जित वृद्धिको बन्द करेगी, शिक्षाका प्रसार और लोगोकी आय बढानेका उद्योग करेगी, उसका आसन दृढ रहेगा। परन्तु यदि वह विरोध और आलोचनाका मुँह बन्द कर देगी तो अपनेको निरकुश बना लेगी। यह निरंकुशता अधिनायकत्वका रूप ग्रहण कर लेगी, फिर तो कभी-न-कभी उसके विरुद्ध विद्रोहका बिस्फोट हुए बिना नही रह सकता। अनियन्त्रित अधिकार ऋषितुल्य मनुष्यको भी खराब कर देता है। समाजवादी व्यवस्थाके रहते हुए शासनका क्या रूप होना चाहिए, इसका विस्तृत विचार मैने अपनी पुस्तक व्यक्ति और राजमे किया है।

भारतके लिए यह प्रश्न केवल शास्त्रार्थका विषय नही है। जिस समय यह पुस्तक पहिले लिखी गयी यह देश परतन्त्र था। यहाँ अंग्रेजोका शासन था। आज वह स्वतन्त्र है। महात्मा गान्धीके नेतृत्वमे काग्रेसने स्वराज्यके लिए जो आन्दोलन चलाये वह सफल हुए, अग्रेज यहाँसे चले गये। काग्रेस यदि उस समय चाहती तो अधिनायकशाही चला सकती थी। रूसकी भाँति एकदलीय शासन स्थापित कर सकती थी। पर उसने ऐसा नही किया। गणतन्त्र मूलक विधान स्वीकार किया गया। सभी लोगोको अपने दलगत-विचारोके प्रचारकी पूरी स्वच्छन्दता है।

काग्रेसने यह निश्चय किया है कि हम भारतमे समाजवादी व्यवस्था स्थापित करेंगे। कम्युनिस्ट पार्टी भी समाजवादकी दुहाई देती है। कुछ और भी दल है जो समाजवादका नाम लेते है। अतः हमको तत्काल इस बातका निर्णय करना है कि हम कैसा समाजवाद चाहते है। कम्युनिस्ट तथा दूसरे लोगोसे सिद्धान्त और व्यवहारमे हमारा क्या भेद है और इस बातके आधार क्या है। यदि इसका निश्चय न हुआ तो जनता भ्रममे पडी रहेगी।

जब हम समाजवाद शब्दका व्यवहार करते है तो यह तो निश्चित है कि हम वर्गहीन समाज चाहते है, शोषणका अन्त करना हमको अभीष्ट है

परन्तु हम अपने संविधानकी मर्य्यादाकी रक्षा भी चाहते है । लोकतन्त्रात्मक पद्धतियोका परित्याग करनेको तैयार नही है । हम ऐसा मानते रहे है कि भारतकी सस्कृतिकी अपनी कुछ विशेषताएँ है, भारतका मानवके लिए अपना कुछ सन्देश है। महात्माजीने इसी सन्देशका अपने सत्य और अहिसा-के उपदेशके द्वारा उद्घोष किया । हमको सोचना यह है कि इन बातोका समन्वय हो सकता है या नही । यदि हम मनुष्योको वास्तविक मनुष्य समाजके रूपमे ग्रथित होनेका मार्ग बता सकते है, ऐसा मार्ग जिसमे समाज-वादके मूल उद्देश्योकी सिद्धि हो और अधिनायकशाहीके भयावह परिणामोसे त्राण हो सके तो यह हमारी लोककल्याणके लिए बहुत बडी देन होगी ।

इस बातको ध्यानमे रखकर हम कुछ प्रश्नोपर, जिनकी चर्चा मार्क्स-सम्मत समाजवादके प्रसंगमे आ चुकी है, पुन विचार करेंगे ।

इक्कीसवाँ अध्याय

भारतीय समाजवादके मौलिक आधार

समाजवादके साथ भारतीय विशेषण जोडना भ्रामक प्रतीत होता है। किसी सार्वभौम सिद्धान्तको भौगोलिक परिधिमे बाँधनेका प्रयत्न करना उसकी सार्वभौमिकताका अपहरण करना है। हम ऐसा प्रयत्न नही करना चाहते। भारतीय कहना अधिकसे-अधिक इस बातका सूचक है कि इस विचारधाराका उदय भारतमे हो रहा है। 'वस्तुत' इस बातको बतलाना भी उतना ही अनावश्यक है जितना कम्युनिज्मको जर्मनी समाजवाद कहना।' हम केवल एक कारणसे विशेषण लगा रहे है। समाजवाद शब्दका व्यवहार मार्क्स-सम्मत समाजवादके लिए रूढि-सा हो गया है। उससे व्यावर्तन करनेके लिए ही विशेषणसे काम लिया गया है। सम्भव है आगे चलकर कोई अच्छा अर्थबोधक नाम निकल आये।

कुछ दिनोसे हमारे देशमे सर्वोदयवादका प्रचार हो रहा है। इसका आरम्भ तो महात्माजीके समयमे हुआ था परन्तु आचार्य विनोबा भावेने इसको अधिक बल दिया है। इसका लक्ष्य भी समाजवादसे मिलता-जुलता है। सर्वोदयका अर्थ है सबका उदय और उदयमे सर्वाङ्गीण—भौतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक—उन्नति, विकास, निहित है। सर्वोदय दर्शनमे दादा धर्म्माधिकारी कहते है कि सर्वोदयका उद्देश्य है : सर्वेऽपि सुखिन· सन्तु—सभी सुखी हो। सर्वोदयवादी भी शोषणका अन्त करना चाहता है। परन्तु उसकी कार्य्यशैली कम्युनिस्टसे भिन्न है और शैलीका आधार भी भिन्न है। मेरी विचारधारा कई बातोमे सर्वोदयवादसे मिलती है। फिर भी मैने सर्वोदय नामका व्यवहार नही किया है। इसका कारण यह है कि यह

शब्द कुछ दिनोंसे चल रहा है और सर्वोदय मतके अनुयायियोंका अपना समुदाय है। यह सम्भव है कि वह इस बातको पसन्द न करें कि उनका पारिभाषिक शब्द ऐसे अर्थमे व्यवहृत हो जो उनको पूर्णतया सम्मत न हो।

जिन बातोंमे मेरा मत कम्युनिज्मसे नही मिलता उनमेंसे कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उनका परिणाम यह है कि बाहरी कार्य्यक्रममे कुछ अंशोमे समता होते हुए भी भारतीय समाजवाद और कम्युनिज्मके मार्ग पृथक्-पृथक् हैं। इन बातोपर गम्भीर मनन करना परमावश्यक है अन्यथा भारत अपनी खोजमे सफल न हो सकेगा और न दूसरोका मार्ग-प्रदर्शन कर सकेगा।

(क) जगत्का आधार

मार्क्सके पहिले हीगेलने कहा था कि जगत्का आधार, वह मूल पदार्थ जिससे यह विश्व विकसित हुआ है, चिन्मय है। अपने स्वभावके कारण वह द्वन्द्वात्मक विधिसे परिर्वातित होता गया। मार्क्सने परिवर्तनकी द्वन्द्वात्मक विधिको तो स्वीकार किया परन्तु उन्होने यह प्रतिपादित किया कि आधार-पदार्थ अचित् है। इसके लिए उन्होने कोई पुष्ट प्रमाण नही दिया। उनको नित्य चेतन पदार्थकी सत्ता स्वीकार करनेमे कई अडचने देख पडती थी। यदि चेतना अनादि है तो अनन्त भी होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव जन्मके पहिले था और मरनेके बाद रहेगा। ऐसा माननेमे परलोक, धर्म्म, उपासना, इन सबके लिए द्वार खुल जानेका डर रहता है पर इन चीजोसे तो मार्क्सको लडना था। इनपरसे विश्वास उठाना था, इनको तोडना था और इनको नष्ट करके राजसत्ताको दुर्बल बनाना था, इसलिए उन्होने जड ही काट दी, चेतन आत्माके लिए जगह रक्खी ही नही। परन्तु चेतनाकी प्रतीति तो होती है। कीडेसे लेकर विद्वान् तक सबमे चेतना है। इसके लिए उन्होने यह माना है कि अचित् परमाणुओंके आकस्मिक संघातमे यह आनुषङ्गिक गुण उत्पन्न हो जाता है और संघातके बिखरनेपर लुप्त हो जाता है। जब हाइड्रोजन, गन्धक और आक्सिजनके परमाणु विशेष रूपसे

मिलते हैं तो गन्धकका तेजाब नामक द्रव्यकी सृष्टि होती है जिसमे दाहकता नामका विशेष गुण होता है। इन परमाणुओके अलग हो जानेपर यह गुण तिरोहित हो जाता है। इसी प्रकार कार्बन, हाइड्रोजन, फास्फोरस, नाइट्रोजन और आक्सिजनके विशेष प्रकारका द्रव्य बनता है जिसे प्रोटोप्लाज्म—सत्त्वमूल—कहते है। उसमे चेतना नामका विशेष गुण प्रकट होता है। परमाणुओके बिखर जानेपर चेतना भी लुप्त हो जाती है।

जडवादसे मार्क्सको भले ही राजसस्थान और धर्म्मसस्थानसे लडनेमे सुविधा मिली हो पर यह समीचीन नही है। जडसे चेतनकी उत्पत्ति समझायी नही जा सकती। सघातसे नये गुणोका प्रकट होना ठीक उदाहरण नही है। वस्तुओमे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण होते है। संघातसे, मिलनेसे, भले ही नये प्रकारके शब्दादि प्रकट हो परन्तु नया गुण पुराने गुणका सजातीय है। गन्धक, आक्सिजन और हाइड्रोजनके मिलनेसे दाहकता प्रकट होती है जो अकेले इनमे नही होती परन्तु है वह स्पर्शका ही भेद विशेष और स्पर्श इनमे पहिलेसे वर्तमान था। यदि सत्त्वमूलके अगभूत हाइड्रोजन आदिमे चेतना किसी भी रूपमे, कितनी भी प्रसुप्त मात्रामे, पहिलेसे रही होती तो उसका पीछेसे व्यक्त होना सम्भव होता पर यह मार्क्सके मतसे अमान्य है।

हमारे मतमे जगत्का मूल तत्त्व चेतन था। यह अध्यात्म विषयकी पुस्तक नही है। अत. यहाँ अद्वैतवादके सूक्ष्म विवेचनकी आवश्यकता नही है। हम ऐसा मानते है कि जगत्का आधार पदार्थ एक, अद्वय, चिन्मय, आनन्दस्वरूप था। एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। चिन्मय शब्दका अर्थ चेतना और चेतन दोनो हो सकता है। जगत्का मूल वस्तुत. तो शुद्ध चेतना है। उस अवस्थामे उसे ब्रह्म कहते है। चेतन अवस्थामे उसीकी परमात्मा सज्ञा है। ब्रह्म परमात्मा कैसे हुआ यह विषय यहाँके लिए अप्रासङ्गिक है। वही चिन्मय पदार्थ जब शरीरसे सम्बद्ध होता है, चाहे वह शरीर कैसा भी हो, तो उसे जीव कहते है।

इस मतपर यह आक्षेप नही हो सकता कि चेतनसे जड कैसे उत्पन्न हुआ। हम ऐसा मानते है कि वस्तुत जड, अचेतन, अनात्म, कही है ही नही। दहकते कोयलेपर राख डाल देनेसे वह भले ही छिप जाय पर उसका अस्तित्व नही मिटता। कही चेतना पूर्णतया अभिव्यक्त है जैसे मनुष्यमे, कही अर्धसुप्त-सी है जैसे वनस्पतियोमे, कही अस्फुट है जैसे पत्थरमे—जड चेतनमे बस इतना ही अन्तर है।

(ख) पुरुषार्थ

साधारण बोलचालमे पुरुषार्थका अर्थ होता है पौरुष, उद्यमशीलता, साहस, परन्तु इसका शास्त्रीय अर्थ है पुरुषका अर्थ अर्थात् मनुष्य जीवनका लक्ष्य। कुछ बातें तो ऐसी है जो मनुष्य और इतर प्राणियोमे समान रूपसे पायी जाती है। प्रत्येक प्राणी जीवित रहना चाहता है। 'रहना चाहता है' कहना चाहे यथार्थ न हो परन्तु सबमे ही अपने जीवनकी रक्षाकी प्रवृत्ति पायी जाती है। इसी प्रकार सबमे ही सन्तति छोड जानेकी प्रवृत्ति विद्यमान है। मनुष्य सोचनेकी शक्ति रखता है, इसलिए उसमे इन प्रवृत्तियोका विस्तार पाया जाता है। इस समय जीवन निर्बाध चले ही, आगे भी बाधा न पडे। इसलिए भोज्य सामग्रीका, घरका, सवारीका, धनका, सग्रह किया जाता है। इसी प्रकार सन्तान उत्पन्न करके ही सन्तोष नही होता। सन्तानके जीवित रहने तथा सुखी और सम्पन्न रहनेका भी प्रबन्ध किया जाता है। यह दोनो प्रवृत्तियाँ, दोनों पुरुषार्थ, सहज है, विचारजन्य नही है। इनको क्रमात् अर्थ और काम कहते है। सभी अपना-अपना अर्थ और काम चाहते है, इसलिए जो वस्तुएँ इन लक्ष्योकी साधक है उनके लिए संघर्ष होना स्वाभाविक है। एक ही हिरनपर, एक ही नौकरीपर, घर बनाने योग्य एक ही स्थानपर, एक ही युवतीपर दो पुरुषोकी दृष्टि पड सकती है, एक ही युवा दो स्त्रियोको आकृष्ट कर सकता है। ऐसी दशामे झगडे होते है। परन्तु समझदार मनुष्य यह देखता है कि सदैव अपने ही अर्थ और कामकी रट

लगाये रहनेसे काम न चलेगा। दूसरोकी इच्छाओका लिहाज़ किये बिना अपनी इच्छाएँ भी पूरी न होगी। अत वह अपने ऊपर नियन्त्रण करता है : समुदायके हितकी ओर ध्यान देता है। बीजरूपसे यह बात उन पशुओ मे भी पायी जाती है जो झुण्ड बनाकर रहते है। मनुष्य यह भी सोचता है कि मै अपने अर्थ और कामकी सिद्धि केवल अपने सामर्थ्यसे नही कर सकता। दूसरोके सहयोगकी पदे-पदे आवश्यकता पडती है। अत वह अपने ओरसे सहयोगकी ओर प्रवृत्त होता है। मुझे दूसरोके प्रति ऐसा व्यवहार करना चाहिए, इस भावका उदय होता है। पहिले दोनो पुरुषार्थ भले ही भूल न जायँ परन्तु उनका स्थान गौण हो जाता है। अपने कर्तव्यकी ओर मुख्यतया ध्यान रहता है। यदि सब अपने कर्तव्यका पालन करें तो सबको अर्थ और कामकी प्राप्ति निष्प्रयास हो जाय। इस प्रवृत्तिको, जीवनके इस लक्ष्यको, अपने कर्तव्योको पूरा-पूरा पालन करने, जिस-जिसकी संकल्पपूर्वक या असकल्पपूर्वक सहायतासे हमारा हित साधन हो रहा है उनके प्रति अपने ऋणको चुकानेके लिए निरन्तर जागरूक रहनेकी इस सतत भावनाको, धर्म्म कहते है। यह मनुष्यका तीसरा पुरुषार्थ है।

मनुष्य सुखकी खोजमें रहता है परन्तु उसे स्थिर सुख नही मिलता है। इतस्तत· दौडता रहता है। किसीने कहा है

स्कन्धात्स्कन्धं नयन् भारं, विश्रामं मन्यते यया।
एवं दुःखान्तरं दु खात्, सुखं गत्वाऽनुभूयते ॥

जो मनुष्य बोझ ढो रहा है वह यदि कन्धा बदल लेता तो आराम मिलता है यद्यपि बोझमे कोई कमी नही होती, इसी प्रकार एक दु खसे दूसरे दु·ख-का अनुभव होनेमे सुखकी प्रतीति होती है। इम निरन्तर दौड-धूपका, सुखकी अमिट भूखका, कारण स्पष्ट है, जीव उस चेतन पदार्थसे अभिन्न है जो जगत्का मूल है। वह भी चिन्मय है, आनन्द स्वरूप है परन्तु इस समय अपने सच्चे रूपका अनुभव नही हो रहा है। अपनेमे कमीकी बराबर अनुभूति हो रही है। यह पता नही है कि मै क्या ढूँढता हूँ परन्तु जैसा हूँ

वह सब कुछ नही है ऐसा लगता रहता है। अपने स्वरूपका ज्ञान नही है और जहाँ अज्ञान है वहाँ अशक्ति है। अज्ञानसे छुटकारा पाना, अपने स्वरूपमे स्थित होना, जीवका चौथा और चरम पुरुषार्थ है। इसको मोक्ष कहते है।

(ग) व्यक्तिका महत्त्व—ऐतिहासिक जड़वादका स्थान

अज्ञान कैसे दूर हो, इसके उपाय तो ऋषि-मुनियोने, धर्म्म-प्रवर्त्तकोने और प्रमुख दार्शनिकोने बताये है। हमको उनपर यहाँ विचार नही करना है। हमने इस प्रश्नकी चर्चा वही तक की है जहाँ तक उसका सामाजिक संघटनसे सम्बन्ध है। जब हम जानते है कि मनुष्यका स्वाभाविक लक्ष्य क्या है, उसका झुकाव किधर है, तो समाजका सघटन इसी दृष्टिमे होना चाहिए कि इस लक्ष्यकी सिद्धि हो। अन्यथा निरन्तर सघर्ष होता रहेगा। पुरुषको समाजके नियम बन्धन जैसे प्रतीत होगे वह असन्तुष्ट रहेगा और बेडियोको तोडनेके प्रयासमे लगा रहेगा। किसी मनुष्यका किसी दूसरेसे झगडा नही है, फिर भी झगडते रहते है, ईर्ष्या, द्वेप, असूयाके शिकार बने रहते है। यदि किसी अन्धेरी कोठरीमे दस अन्धोको बन्द कर दिया जाय तो बाहर निकलनेके प्रयत्नमे एक दूसरेसे टकराते रहेगे, यद्यपि किसीको किसीसे लड़नेका कोई कारण नही है।

दूसरोके साथ रहकर ही मनुष्य मनुष्य बन सकता है। मैत्री, उदारता, आत्म-सयम, परार्थसाधन, क्षमा आदि गुणोका समुदय एकाकी जीवनमे नही हो सकता और यही गुण मनुष्यको धर्म्म और मोक्षकी ओर ले जाते है। जो संगठन—पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक—इन गुणोके विकासको प्रश्रय देगा वही स्थायी होगा।

यदि प्राणीकी चेतना कोई आकस्मिक और नश्वर गुण होती तो ऐसा माना जा सकता था कि समाज और सभ्यताका विकास ऐतिहासिक जड़-वादके सिद्धान्तके अनुसार द्वन्द्वात्मक प्रणालीसे हुआ है। यह हम नही कहते

कि विकास द्वन्द्वात्मक ढगसे नही होता, यह भी हमारा कहना नही है कि आर्थिक कारण महत्त्व नही रखते। हमारा अनुरोध यह है कि इन सबसे बढकर महत्त्व जीवके स्वभावका है। उसके कुछ अपने सहज, प्राकृतिक, अनुच्छेद्य गुण है, वह ज्ञानत या अज्ञानत, एक विशेष दिशामे जाना चाहता है और उधर जानेसे रोका नही जा सकता। जगत्मे जो शक्तियाँ काम कर रही है उनमे जीवकी अपनी प्रवृत्तियाँ मूर्द्धन्य है। आर्थिक शक्तियाँ काम करती है। वह बलवती है। जीव उनसे बँधता है और उनके बहावमे बहता है। परन्तु क्या आर्थिक और क्या दूसरी शक्ति, किसीमे यह सामर्थ्य नही है कि जीवको पूर्णतया बहा ले जाय। वह उन शक्तियोको भी मोडता है। यो कह सकते है कि प्रत्येक क्षणमे मानव-जगत्मे जो गति हो रही है वह जीवकी मोक्षप्रवृत्ति और आर्थिक तथा दूसरी बाहरी शक्तियोका गणित शास्त्रके अनुसार परिणाम है।

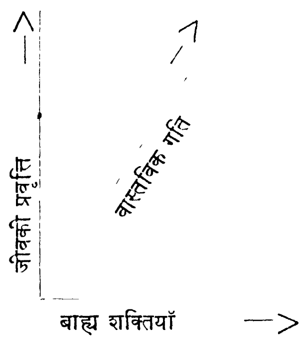

किसी क्षण विशेषमे सभी जीव या जीवोके सभी समुदाय समान अवस्थामे नही होते, अत बाह्य शक्तियोका उनपर भिन्न-भिन्न प्रभाव पडता है। कोई मार्क्सवादी यह नही कहता कि मनुष्य केवल आर्थिक प्रेरणाओके अनुसार काम करता है। वह भी यह मानता है कि मनुष्यको

नैतिक स्तरसे स्फूर्ति मिलती है। हमारा और मार्क्सवादका अन्तर इस बातमे है कि हम कुछ गुणोको, कुछ नैतिक प्रवृत्तियोको मनुष्यके स्वतन्त्र, नित्य, स्वभावकी अभिव्यक्ति मानते है, मार्क्सके अनुसार वह सब आर्थिक परिस्थितियोके ही परिणाम है। मार्क्सवादीके अनुसार किन्ही गुणोकी उत्कृष्टताकी कसौटी यह है कि वह उस दिशामे बढनेमे सहायक होते है जिधर आर्थिक शक्तियाँ मनुष्यको ले जा रही है। हमारा यह कथन है कि कुछ गुण जीवके स्वभावसे वैसे ही अच्छेद्य है जैसे आगसे जलन, उनकी उपादेयता इसी बातमे है, चाहे वह भौतिक उत्कर्षकी ओर ले जायँ या न ले जायँ। हमारा यह विश्वास निश्चय ही है कि उनका प्रभाव आर्थिक-जीवनपर भी सर्वथा अच्छा पडेगा।

(घ) व्यक्ति, समाज और राज

मोक्षके जो भी साधन होते हो, उनको उपलब्ध कराना समाजके बस की बात नही है। इस मार्गपर तो अलग ही चलना होता है, ऐसा उन सब लोगोने कहा है जो इस विषयके जानकार थे और है। परन्तु व्यक्तिको समाजमे रहना है, अतः समाजको वह परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए जिसमे व्यक्तिके पथमे अडचने कमसे-कम पडे, सघर्षके अवसर कमसे-कम आवें। प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए कि व्यक्तिको हीनताका अनुभव न हो, उसको पदे-पदे इच्छाभिघातका अनुभव न हो। इसके लिए उचित शिक्षा-की बहुत बडी आवश्यकता है। यदि मनुष्यके सामने भौतिक अभ्युदय, वैभव, विपुल धन, अधिकारको, आदर्श रक्खा गया तो व्यक्ति व्यक्तिमे, समूह समूहमे, राष्ट्र राष्ट्रमे, सघर्ष अवश्यम्भावी है।

समाजके हितकी बहुत चर्चा होती है परन्तु व्यक्तिके हितसे पृथक् समाजका कोई हित नही हो सकता। व्यक्तिके उत्कर्ष, उसकी लक्ष्यसिद्धिके उपकरणोको एकत्र करना ही समाजका काम है, इसीमे समाजका हित है। राज समाजका अंगमात्र है। अपने कार्य्य-सञ्चालनके लिए समाज

कई संस्थानोसे काम लेता है। पाठशाला, न्यायालय, राज—यह समाजके भिन्न-भिन्न कामोके लिए उपकरण, औजार है। जब समाजका ही व्यक्तिसे पृथक् कोई हित नही है, तो यह कहना निरर्थक है कि उसके किसी अंगका अपना कोई पृथक् हित हो सकता है। राज भले ही सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण हो परन्तु उसका पद समाजसे ऊँचा नही हो सकता। यह कहना गलत है कि व्यक्तिके कोई नैसर्गिक अधिकार नही है, जो अनुमति राज्य दे दे वही अधिकार है। व्यक्ति अपने जीवस्वरूपको, अपने स्वभाव को, छोड नही सकता। यह स्वभाव उसको राज या समाजने नही दिया है। इसी स्वभावमे उसके नैसर्गिक अधिकार निहित है। व्यक्तिकी कृत्स्नता, उसकी पूर्णता, अपने शुद्ध स्वरूपमे स्थित होनेमे है, राजकी इच्छाके अनुसार काम करनेमे नही। आपसी संघर्षको मिटानेके लिए तथा सबके हितके प्रबन्धके लिए व्यक्तिने काम करनेकी कुछ सुविधाएँ राजको दे रक्खी है, अपने ऊपर कुछ नियन्त्रण स्वीकार कर लिया है। इसी स्रोत-से राज्यको व्यक्तिके ऊपर अधिकार प्राप्त होते है परन्तु यह अधिकार व्यक्तिके नैसर्गिक अधिकारोका लोप नही कर सकते।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे मतसे सामुदायिक सव्यूहन और विकासका केन्द्रविन्दु व्यक्ति है। राज्य और समाज व्यक्तिके लिए है, व्यक्ति उनके लिए नही है। व्यक्तिसे आशा की जाती है कि वह इस प्रकार काम करेगा कि उसका प्रेरक स्वार्थ नही, परार्थ हो। इससे उसकी धर्म्म-प्रवृत्तिकी तुष्टि होती है और उसकी आत्माका विकास होता है। अपनेसे बड़ी वस्तुके साथ तादात्म्य करनेसे अपना स्व क्षुद्रबन्धनोके ऊपर उठता है और अपने सच्चे रूप, अपने स्वरूपके, निकट आता है।

(ङ) उपासना

मार्क्सवादमे किसी प्रकारकी उपासनाके लिए जगह हो ही नही सकती। जब न ईश्वर है, न जीव है, तो कौन किसकी उपासना करे और क्यो

करे । मृत्युके बाद कुछ है नही, इसलिए परलोकका प्रश्न नही उठता । हमारे मतके अनुसार ईश्वर भी हो सकता है, जीव है ही, मरनेके बाद जीवकी कोई अवस्था तो होती ही होगी, उसको परलोक कहे या कुछ और । मेरे जैसे कुछ लोग पुनर्जन्म और कर्म्म-सिद्धान्तको भी मानते है । इस शरीरसे जो कुछ किया जाता है उसका प्रभाव शरीरके साथ ही समाप्त नही होता । हमारा प्रत्येक काम पुरुषार्थसिद्धिमे साधक या बाधक-रूपसे प्रभाव डालता है । परन्तु इन प्रश्नोपर इस पुस्तकमे विचार करना अप्रासगिक समझकर छोड़ देता हूँ ।

बाईसवाँ अध्याय

भारतीय समाजवादका लक्ष्य और उसकी प्राप्तिके साधन

मनुष्य वादके लिए नही, वाद मनुष्यके लिए होता है। किसी वादका उद्देश्य मनुष्य जीवनके उद्देश्यसे भिन्न नही हो सकता। जिस किसी मत, जिस किसी वादको कार्यान्वित करनेसे मनुष्य अपने पुरुषार्थको प्राप्त कर सके वही उपादेय है। मनुष्यके पुरुषार्थका विवेचन हम पिछले अध्यायमे कर चुके है। उसका चरम लक्ष्य अपने स्वरूपको पहचानना, उसमे स्थित होना, उस अविद्याको दूर करना है जिसके कारण वह अपनेको अकिचन, दुर्बल, राग-द्वेषका पुतला, पाता है। वासनाएँ उसको जुलाहेकी ढरकीकी भाँति इधरसे उधर फेकती रहती है परन्तु उनकी तृप्ति नही होती। भर्तृहरिके शब्दोमे 'तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णा.'। मनुष्य इस दुरवस्थासे घबराता है, इससे छुटकारा पानेके लिए सतत यत्नशील है। उसे भले ही यह न ज्ञात हो कि क्या चाहता हूँ, परन्तु कुछ चाहिए; अपनेमे कुछ सूना-सूना-सा है, ऐसी प्रतीति बराबर होती है।

भारतीय समाजवादका लक्ष्य है उसको इस प्रयत्नमे सफल होनेके योग्य बनाना और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना जिसमे वह इस प्रयत्नमे सफल हो सके। समाजकी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमे बाधाओंका शमन हो। जो व्यक्ति दाने-दानेको मुहताज है, जो अपने कुटुम्बियोको भूखसे तड़पता देख रहा है, जिसके फूलसे कोमल बच्चेने चार बूँद औषध न मिलनेसे दम तोडा हो, जिसको शीतमे तन ढाँकनेको कपडा मयस्सर नही है, जिसको आतप और वर्षासे बचानेके लिए सिरपर छत नसीब नही है, वह क्या आत्म-चिन्तन करेगा? बच्चा प्रतिभाशाली है परन्तु उसको

पढा नही सकता, एक गन्दी कोठरीमे सारा परिवार रहता है, बहू-बेटीकी लाज कैसे रक्खी जाय; सामने खड़ी अट्टालिकाएँ मुँह चिढा रही है, अपनी दुर्दशाके लिए ईश्वर, प्रारब्ध, समाज, धनवान् या अपने आपको, किसको दोष दे; जो व्यक्ति इस उधेडबुनमे पडा हुआ है उसका भगवान् तो रुपया है। वह कुछ कर नही सकता परन्तु उसके हृदयमे अशान्तिका ज्वालामुखी धधक रहा है, किसी दिन भी फूट सकता है। उद्दण्डताके लिए, समाजके—उस समाजके जिसने कभी उससे दो मीठे शब्द भी नही कहे—नियमोको तोडनेके लिए उसे जेल भेजा जा सकता है, फ़ाँसी दी जा सकती है परन्तु इससे उसका या उसके ही समान दूसरे लोगोका असन्तोष कम नही होता। क्रोध बढता ही जाता है और एक दिन समाजके प्रचलित ढाँचेको भस्म करके छोडेगा। यह स्पष्ट ही है कि क्रोधकी उद्दीप्त अग्नि समाजकी बुराइयोके साथ-साथ बहुत-सी अच्छाइयोको भी नष्ट कर देती है। जब कही आग लगती है तो वह जुआखानेको भी जलाती है और साधुकी कुटीको भी। समाजवाद ऐसी परिस्थितियोको सहन नही कर सकता।

भारतीय समाजवादी प्रत्येक व्यक्तिको पूर्णरूपेण आत्माभिव्यक्ति, अपनेको अपनी योग्यताभर विकसित करनेका अवसर देना चाहता है। प्रतिबन्ध केवल यह है कि अज्ञानवश यह विकास ऐसी दिशामे न हो जिससे दूसरोके विकासमे बाधा पडे। यदि सबको विकसित होनेका, अपनी योग्यताको पूरी तरह प्रस्फुटित करनेका अवसर मिलना है तो सबको अपने अनुकूल शिक्षा सुलभ होनी चाहिए। पैसेका अभाव किसी बच्चेको शिक्षा पानेसे रोक दे यह समाजके ऊपर बहुत बडा लाछन होगा। आर्थिक विषमता भी जानी होगी। अपने अनुरूप शिक्षा, अपने अर्थ और कामकी तुष्टिकी सुविधा, मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है। कोई ऐसी व्यवस्था जिसमे एकके श्रमका लाभ दूसरेको पहुँचे, जिसमे मनुष्यको जीविकाके लिए अपमान और तिरस्कारका भाजन बनना पडे सर्वथा अपनेय है। जिस

सव्यूहनमे किसी उपयोगी कामका करनेवाला केवल उस वृत्तिके कारण छोटा समझा जाय उसमे घुन लगा है, ऐसा मानना चाहिए। जिस समुदायमे उत्कृष्टताकी कसौटी धन हो उसका पतनोन्मुख होना निश्चित है।

इन बातोके सम्बन्धमे भारतीय समाजवादी और मार्क्सके अनुयायीमे कोई अन्तर नही है। दोनो ही शोषणको मिटाना चाहते है, आर्थिक वैषम्य को दूर करना चाहते है, जिन लोगोके पास पूँजी है उनके हाथोमे समाजके संचालनका सूत्र रहे, इस दुर्व्यवस्थाको हटाना चाहते है। परन्तु जहाँ कम्युनिस्ट केवल भौतिक अभ्युदयतक ही जा सकता है वहाँ भारतीय समाजवादी भौतिक अभ्युदयको वास्तविक आध्यात्मिक लक्ष्यके साधनके रूपमे ही देख सकता है।

जहाँ तक उद्देश्योमे समानता है वहाँ तक उपायोमे भी समानता होगी ही। उदाहरणके लिए, कम्युनिस्ट भी जमीनदारी प्रथाका अन्त करना चाहेगा और भारतीय समाजवादी भी। दोनो ही साम्राज्यशाहीका विरोध करेंगे, दोनो ही राष्ट्रोकी स्वाधीनताका समर्थन करेंगे, दोनो ही इस बातका प्रयत्न करेंगे कि धन या किसी विशेष कुलमे जन्म प्रतिष्ठा की कसौटी न हो, दोनो ही शिक्षा सबके लिए सुलभ बनावेगे और दोनो ही प्रत्येक नागरिकको कला और सस्कृतिसे लाभ उठानेका अवसर देगे। परन्तु प्रचण्ड भेद भी होगे। उपासनाको लीजिए। कम्युनिस्टके यहाँ उपासनाके लिए कोई जगह नही हो सकती। वह उसको संस्कृतिमे, मनुष्यके उन्नायक शक्तियोमे, गिन नही सकता। किन्ही कारणोसे खुल-कर विरोध भले ही न करे परन्तु वह किसी धार्मिक सस्थानको प्रोत्साहन नही दे सकता। भारतीय समाजवादीका आचरण इससे विपरीत होगा। वह साम्प्रदायिक वाद-विवादको प्रश्रय नही देगा परन्तु जीवनमे उपा-सना भावका आदर करेगा। वह चाहेगा कि लोगोमे उस अखण्ड अद्वय चिन्मय तत्त्वके प्रति श्रद्धा हो जो निःशेष जगत्का आधार है, जिसमे

असख्य ब्रह्माण्ड तागेमे मणियोके समान अनुस्यूत है, जो कीटाणुसे लेकर मनुष्य तकको अनुप्राणित कर रहा है। वह जानता है कि उपासना उस तत्त्वसे तादात्म्य प्राप्त करनेका साधन है।

अस्तु, जहाँतक उद्देश्यमे सादृश्य है वहाँ भी दोनों विचारवालोके मार्गोमे कुछ बातोमे गहिरा भेद होगा। ऐसी कुछ बातोकी चर्चा करना आवश्यक है।

(क) संघर्ष या सहयोग

आर्थिक क्षेत्रमे वर्गोमे संघर्प है, यह तो वस्तुस्थिति हे। व्यक्तियोमे भी भोग्य वस्तुओके लिए निरन्तर प्रतियोगिता है, निरन्तर संघर्ष है, इसमे सन्देह नही है। अपने सयत्नोको हरा देना, उनको ढकेलकर पीछे कर देना, जीवन-संग्राममे सफल होना, योग्यताकी परख है। मार्क्सके मतके अनुसार वर्ग-संघर्प बुरी चीज है पर इसका अस्तित्व तब तक रहेगा जवतक वर्ग रहेगे, वर्ग भेद रहेगा। युद्ध तभी शान्त होगा जब एक वर्ग समाप्त हो जायगा। जिस दिन शोषकवर्गका अन्त हो जायगा, पूँजीशाही प्रथा उठा दी जायगी, उस दिन शोषणका अन्त हो जायगा, वर्गयुद्धका अन्त हो जायगा। भारतीय समाजवादी भी इस युद्धको समाप्त करना चाहता है पर एक योद्धाको मिटाकर नही। वह चाहता है कि सब लोगोमे सहयोगका भाव भरे। कारखानेको प्रबन्धक, एञ्जिनियर, लिपिक, श्रमिक, सबकी आवश्यकता पड़ती है। इन सबके सहयोगसे ही मिल चल सकती है। शरीरके सभी अवयव मिलकर काम करते हैं तभी शरीर स्वस्थ माना जा सकता है। जो रुपया लगाता है वह अपनेको मालिक न समझकर प्रबन्धक समझे। वह अपनी विशेष प्रतिभाका उपयोग लोकहितके लिए करे। एक बडे संस्थाका चलाना स्वयं पुरस्कार है। सेनापति अपने रण-कौशलसे बडे साम्राज्यको विजय करता है परन्तु स्वयं सम्राट् नही बन जाता, राज्य अपने राष्ट्रको अर्पित कर देता है। स्वयं

तो थोडा-सा पुरस्कार पाता है, कुछ यशका भागी होता है। ऐसी ही बुद्धि उन लोगोकी होनी चाहिए जो बडे कारखानोंको खड़ा करते और चलानेकी क्षमता रखते है। न वह श्रमिकके स्वामी है, न श्रमिक उनका दास है, दोनो ही एक सहकारी उद्योगके अंग है और अपने-अपने श्रमके अनुसार वेतन या पारिश्रमिक पाते है।

व्यक्तियोमे भी सहयोगका भाव होना चाहिए। हम सब विराट् पुरुष के शरीरके अग है। अपने छोटेसे शरीरमे किसी कोनेमे पीडा होनेसे सारा शरीर व्यथित हो उठता है, सब अवयवोकी समान रूपसे उन्नति होनेपर ही शरीर स्वस्थ माना जा सकता है उसी प्रकार समाजरूपी महाशरीरमे व्यक्तियोका स्थान है। सबके भलेमे प्रत्येकका भला है, एकके दुःखसे सबकी हानि होती है। कोई अंग यदि अकेले वृद्धि करना चाहेगा तो वह रोगी मासकी भाँति काटकर फेंक देनेके योग्य होगा।

(ख) साधन और साध्य

मार्क्सके मतमे कोई साधन स्वतः न अच्छा है न बुरा : जो साधन साध्य तक ले जाता है और दूसरे साधनोकी अपेक्षा जल्दी और कम परिश्रममे पहुँचा देता है वह अच्छा है। भारतीय समाजवादी ऐसा नही मान सकता। चूँकि वह नित्य चेतन आत्माकी सत्ता मानता है इसलिए उसको यह मानना पडता है कि कुछ बाते इस आत्माके सहजस्वरूपके अनुकूल है, कुछ उसके विपरीत है। जो विपरीत है वह चाहे शीघ्र फल-दायी और सुकर प्रतीत हो तो भी त्याज्य है। जगत्का मूल एक, अद्वय, है। जीव अपने उसी रूपको ढूँढता है। जो कुछ अद्वयभावको बढाता है वह अच्छा है, जो भेदभावको बढाता है वह बुरा है। महात्माजीने इस सम्बन्धमे सबसे पहिला स्थान सत्यको दिया था, यदि असत्यसे काम बनता भी देख पडे तब भी सत्यको नही छोड़ना चाहिए। बाहरी काममे सफलता किस काम की यदि उसके द्वारा आत्माका हनन हुआ, द्वैत बुद्धि बढी।

अपनेको जानबूझकर धोखा नही दिया जाता, पराया मानकर ही झूठका आश्रय लिया जा सकता है। दूसरा स्थान अहिसाका है। हिसा भी मै-परके भेदके स्थलमे ही व्यवहृत हो सकती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि शस्त्र चलाना हिसा नही है, उसके पीछे जो भावना होती है वह हिसा अहिसामे भेद करती है। रोगीके कल्याणकी दृष्टिसे शल्यचिकित्सक अंगच्छेद करके भी हिसाका अपराधी नही होता। भारतीय समाजवादका यह दृढ मत है कि साध्यकी भाँति साधन भो पवित्र होना चाहिए।

(ग) गणतन्त्र शासन

कम्युनिस्टका विश्वास है कि शुद्ध समाजवादी व्यवस्थाको लानेके लिए एक बार श्रमिकवर्गके हाथमे पूर्णाधिकार आना ही चाहिए, उसका अधिनायकत्व कायम होना ही चाहिए। भारतीय समाजवादी ऐसा नही मान सकता। किसी वर्ग या दलके अधिनायकत्वका अर्थ होगा उसके नेतृ-वृन्दके हाथमे पूरा अधिकार सौप देना। दल विशेषके नायक होनेके कारण वह लोग निष्पक्ष नही हो सकते, मनुष्य होनेके कारण राग-द्वेषसे मुक्त नही हो सकते। पूर्णाधिकार उन्मत्त कर देता है। जिसको अपने भले-बुरे कामोके लिए किसीके सामने उत्तर नही देना है वह कुछ दिनोमे अपने-को सर्वज्ञ समझने लगता है। अपनी सम्मतिका खण्डन उसके लिए असह्य हो जाता है। हम इस बातको आज उन देशोमे प्रत्यक्ष देख रहे है जहाँ किसी दल विशेषके हाथमे पूर्णाधिकार है।

यह परिस्थिति भयावह है। कोई मनुष्य, मनुष्योका कोई दल, ऐसा नहीं हो सकता जो पूर्णप्रज्ञ हो। अधिनायकशाहीमे चाहे कितना भी भौतिक आराम क्यो न हो परन्तु व्यक्तिका स्व सङ्कुचित हो जाता है। निरन्तर डर लगा रहता है कि कोई ऐसी बात मुँहसे न निकल जाय, कोई ऐसा काम न हो जाय, जो शासकोको नापसन्द हो। जानते हुए भी कि भूल हो रही है,

शासकोके हर कामका समर्थन करना पड़ता है। ऐसे पर्य्यावरणमे जीव अपने परम पुरुषार्थको प्राप्त नही कर सकता।

इसलिए भारतीय समाजवादी लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणालीको, ऐसी प्रणालीको जिसमे स्वमत प्रकट करनेकी स्वाधीनता हो, शासकोकी आलोचना करनेपर रोक न हो और शासक जनताके प्रतिनिधियोके सामने दायी हो, पसन्द करेगा। इसका तात्पर्य्य यह नही है कि आज भारतके सविधान पर अवलम्बित प्रणाली आदर्श है। इसमे कई दोष है। उनपर विचार करना चाहिए और सविधानको बदलना चाहिए। परन्तु जो भी सविधान हो वह गणतन्त्रमूलक ही होना चाहिए।

एक आपत्ति यह होती है कि अब तक जहाँ भी जो भी जैसी भी सरकार रही है वह किसी वर्गविशेषका प्रतिनिधित्व करती रही है। यह आक्षेप निराधार नही है। इस बातसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और संविधान ऐसा बनाना चाहिए जिसमे शासनकी बागडोर ऐसे लोगोके हाथमे आये जो विद्वान्, चरित्रवान्, तपस्वी हो। भारतने तपको सदा ऊँचा स्थान दिया है। सभी राष्ट्रोको तपका यह ऊँचा पद स्वीकार करना चाहिए। ऐसे लोगोका चयन सुकर नही है। परन्तु प्रयत्न तो करना ही चाहिए। यदि निष्पक्ष, निर्लोभ, न्यायमूलक, शासन स्थापित करना है तो उसका दूसरा उपाय भी नही है।

(घ) समाजवादका प्रचार

कम्युनिस्टका विश्वास है कि जिस सिद्धान्तको वह मानता है वह मनुष्यके हितके लिए सबसे उत्तम है· भारतीय समाजवादीकी भी अपनी मान्यताओके प्रति ऐसी ही निष्ठा होगी। जो बात अच्छी है उसे फैलानी ही चाहिए। प्राचीन कालसे उपदेश है : 'इमा वाचं कल्याणी आवदानि जनेभ्य.।' परन्तु यह प्रचारका काम किस प्रकार किया जाय ?

कुछ लोग सदासे मानते आये है कि अच्छी बातको बलात् मनवाना

भी श्रेयस्कर होता है। तलवारके जोरसे मजहबको फैलाना और न माननेवालेको यमलोक भेज देना नयी बात नही है, कम्युनिस्ट भी इसी रायका है चाहे स्पष्ट शब्दोमे ऐसा न कहे। आरम्भसे ही कम्युनिस्ट नेताओका यह मत था कि रूसकी भाँति अन्य देशोमे भी क्रान्ति करायी जाय। सभी प्रमुख देशोमे कम्युनिस्ट पार्टीकी शाखाएँ खुली और उनका बराबर यह प्रयत्न रहा कि क्रान्तिकी तैयारी की जाय, देशकी सरकारके विरुद्ध अशान्ति फैलायी जाय, पुलिस, सेना और सरकारी कर्म्मचारियोको मिलाया जाय। इन लोगोको रूससे सहायता भी मिली। एक बातसे इनको बहुत सहारा मिला, इनका विश्वास था कि पूँजीशाही स्वत: अपनी कब्र खोदनेवाली है, यूरोपके मुख्य देशोकी जनता अपनी सरकारोसे ऊब गयी है और लोकतन्त्र की धीमी गतिपरसे उसका विश्वास उठ गया है। क्रान्तिकी भूमिका तैयार है, चिनगारी लगानेकी देर है।

यह आशा पूरी नही हुई। साम्राज्य टूटे परन्तु पूँजीशाहीके समाप्त होनेके लक्षण नही है। वह पूर्ववत् दृढ है। गरीब देशोकी दूसरी बात है परन्तु इंगलैण्ड और अमेरिकामे श्रमिक काफी सम्पन्न है। मार्क्सने जिस आधारपर अपना मत स्थिर किया था वह हिल गया है। मार्क्सका कहना था कि श्रमिक केवल जीवन-यापनभर मजदूरी पाता है। ऐसा नही है। उसको रहनेके साफ-सुथरे घर है, घरपर रेडियो है, छुट्टियाँ है, बुढापेकी पेंशन है, बेकारीमे पेंशन मिलती है, स्वास्थ्यका बीमा है, बच्चोको शिक्षा देनेका प्रबन्ध है। कुछ मजदूर अपनी मोटर रखते है। आर्थिक वैषम्य दूर नही हुआ है परन्तु पूँजीपतिके बढते लाभमे श्रमिकका भी बढता भाग है। उसको क्रान्ति करनेकी आवश्यकता नही प्रतीत होती। इसके सिवाय अब पूँजीपतियोकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। छोटी आमदनीवाले बहुतसे लोग, जिनमे श्रमिक भी है, कम्पनियोके शेयर मोल ले लेते है। इस रुपयेपर बिना परिश्रमके ब्याज मिलता रहता है। यह छोटे पूँजीपति भी वर्तमान व्यवस्थाके समर्थक है। रूसके अधिनायकोने जिस कड़ाईसे

जनताको दबाया और जरा-जरा-से मतभेदपर जिस प्रकार पुराने कम्युनिस्ट नेताओको अपमानित और दंडित किया गया उससे भी लोगोको कम्युनिज्म के प्रति अश्रद्धा हो गयी। इन सब कारणोसे प्रत्यक्ष रूपसे कम्युनिज्मका जोर घट रहा है।

यह बातें कम्युनिस्ट नेताओसे छिपी नही है। वह यह समझ गये है कि विश्वक्रान्ति दूरकी बात है, अभी तो पृथ्वीपर बहुत दिनोतक कम्युनिज्म-विरोधी राष्ट्र रहेगे। हमको उनके अस्तित्वको स्वीकार करना ही होगा। अत इच्छा चाहे जो हो, अब वह ऊपरसे विश्वक्रान्तिकी बात नही करते और दूसरे राष्ट्रोके साथ सह-अस्तित्वकी चर्चा करते है।

भारतीय समाजवादी अपने विचारोपर पूर्ण निष्ठा रखते हुए भी विश्व-क्रान्तिकी बात नही सोच सकता, न दूसरे राष्ट्रोकी जडको खोखला करनेका विचार उसके चित्तमे उठ सकता है। भारतने कभी शस्त्रको प्रचारका साधन नही माना। यहाँके धर्मोपदेष्टा दूर-दूर तक गये परन्तु इनकी रक्षाके लिए भारतीय नरेशोकी तलवार नही गयी। यदि हमारा सिद्धान्त अच्छा है तो आज नही कल लोग इसे स्वीकार करेगे ही।

(ङ) शिक्षा

रूस और चीन जैसे देशोमे इस बातका प्रयत्न होता है कि बचपनसे ही प्रत्येक नागरिक कम्युनिस्ट सिद्धान्तमे पले। उसके सामने दूसरी विचार-धारा आने पाती ही नही और यदि आती भी है तो केवल उसकी त्रुटियाँ दिखलायी जाती है। यह तो स्यात् क्षम्य हो परन्तु विचारपर इससे भी कडा अंकुश लगाया जाता है। विद्वानोको कम्युनिस्ट दृष्टिकोणसे ही पुस्तके लिखनी पडती है, शोधको कम्युनिस्ट साँचेमे ढालना पडता है। यह कड़ाई इतिहास, वाङ्मय और अर्थशास्त्र ही नही, वरन् विज्ञानके क्षेत्रमे भी बरती जाती है। यह स्पष्ट है कि इससे विद्याकी प्रगति कुण्ठित हो जाती है। मार्क्सपर श्रद्धा रखना अच्छा है परन्तु यह मानना कि वह जो

कुछ कह गये वह सदाके लिए ज्ञानके प्रत्येक क्षेत्रमे स्वतः सिद्ध प्रमाण हो गया उनके साथ भी अन्याय करना है। इस कट्टरताके फलस्वरूप स्वतन्त्र विचारोपर ताला पड़ गया है, क्योकि थोडा-सा भी विपथ होनेपर जीविका चली जाती है, अपमान सहना पडता है, प्राण तकके लाले पड़ सकते है। प्राण लेकर विदेश चले जाना भी सुकर नही है।

भारतने कभी विचार स्वातन्त्र्यपर रोक नही लगायी। यदि यहाँ ऐसी परम्परा होती तो बौद्ध और जैन मत फैलने ही न पाते या फैलनेके पहिले सैकडो मनुष्योका बलिदान होता। एक तो किसी मनुष्यके मस्तिष्कसे निकले वादके लिए पूर्णताका दावा करना भूल है। यदि वह और मतोकी टक्करमे खरा निकले तो ठीक है अन्यथा 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध'—अनेक वादोको मिलानेसे यथार्थ बोध होता है। भारतीय समाजवादी आबालबृद्ध सबको ही सहयोगकी भावनासे ओत-प्रोत देखना चाहेगा, सबमे ही श्रद्धा, दूसरेके विचारोके प्रति सहनशीलता, सत्यपर निष्ठा और तपस्विता जैसे गुणोका विकास देखना चाहेगा, इसलिए बचपन-से सभीको इनमे दीक्षित करनेकी व्यवस्था करेगा परन्तु शास्त्र चर्चा, विज्ञान और कलापर किसी वादकी हठात् छाप लगाना उसके लिए अग्राह्य होगा।

(च) सत्याग्रहको वैधता

हमने ऊपर वर्ग सहयोगको श्रेयस्कर बताया है। हमारा ऐसा विश्वास है कि संघर्षकी भावनाको प्रश्रय न देकर मनुष्यके उदात्त गुणोको जगाना ही समाजके कल्याणका मार्ग है। इसी मार्गसे वह क्रान्ति हो सकती है जिसे प्रत्येक समाजवादी चाहता है। परन्तु नैतिक परिवर्तन एक दिनमे नही होता। महात्मा गान्धी जैसा महापुरुष वर्तमानकालका पुरुषोत्तम, भी इस कामको न कर सका। स्थिर स्वार्थकी ओरसे विरोध हो सकता है। श्रम करनेवालोको उनकी सर्वथा उचित आवश्यकताओकी पूर्तिसे वञ्चित रखनेका प्रयास हो सकता है। ऐसी अवस्थामे चुपचाप सब कुछ सह लेना, ईश्वर

या सत्ताधारियोंकी दयाके भरोसे बैठे रहना, कायरता होगी, मनुष्यके शुद्धस्वके उद्बोधमें बाधक होगा। अन्य उपायोंके विफल होनेपर सत्याग्रह सर्वथा वैध है। प्रतिबन्ध यह है कि सत्याग्रहको दुराग्रह या हत्याग्रह न बनाया जाय, उसकी प्रक्रिया अहिंसात्मक हो और उसमें विरोधीके हितकी भावना भी निहित हो। यदि राज अपने कर्तव्यसे च्युत होता है, मनुष्यके पुरुषार्थका साधन न रहकर विपथगामी होता है, तो उसके विरुद्ध विद्रोह करनेका, उसके स्वरूपको बदलनेका, भी अधिकार वैध हैं। परन्तु यह प्रयास भी सत्याग्रहके द्वारा ही होना चाहिए।

तेईसवाँ अध्याय

समाजवाद, पूँजीपति और राष्ट्रीयकरण

कुछ दिनोसे पश्चिमके कुछ विचारकोको ऐसा प्रतीत होने लगा है कि कम्युनिस्ट सिद्धान्तमे संशोधनकी आवश्यकता है। मार्क्सके प्रति श्रद्धा रखते हुए भी इनका ऐसा खयाल है कि जिन आधारोपर मार्क्सने अपने विचारों को अवलम्बित किया था वह अपूर्ण थे। इसीलिए ऐसी बातें देखनेमे आयी जो मार्क्सवादके अनुसार नही होनी चाहिए थी। उद्योग और व्यवसाय तथा पूँजीशाहीके विकासकी दृष्टिसे रूस और चीन पिछडे देश थे, इनमे कम्युनिज्म स्थापित हो गया परन्तु पश्चिमी यूरोप और अमेरिकामे, जहाँ मार्क्सके मतसे पूँजीशाहीकी अन्तिम घडियाँ गिनी जा रही थी वह और भी पुष्ट हो गया। मार्क्सिस्ट विचारक स्वभावत यह चाहते है कि मार्क्सके मूल सिद्धान्तोको बचाते हुए उनमे सुधार करें, नयी परिस्थितियोके अनुकूल उनकी व्याख्या करे। परन्तु जो मार्क्सके अनुयायी नही है वह प्रकृत्या खुलकर विरोध करते है। हम इस प्रकारकी आलोचनाओके दो-तीन उदाहरण देते है।

मार्क्सने अतिरिक्तार्घके विषयमे बहुत कुछ कहा है। उनका कथन है कि कामके कुछ ही घण्टोमे श्रमिक कच्चे मालमे अर्घकी इतनी वृद्धि कर देता है कि उसकी मजदूरी निकल आती है। मजदूरी उसको जीवन-यापन भर मिलती है। फिर और श्रम करके वह जो अर्घ उत्पन्न करता है उससे पूँजीपतिका सारा व्यय काटकर भी बहुत-सा बच रहता है जो लाभके रूप मे उसकी जेबमे जाता है। एक तो आजकल यह कहना गलत है, कमसे-कम सम्पन्न देशोके लिए गलत है कि श्रमिक केवल जीवन-यापनभर मजदूरी

पाता है। इसकी चर्चा हम पहिले भी कर चुके है। फिर कच्चे मालमे जो अतिरिक्त अर्घ आता है वह केवल श्रमिककी देन नही है। आज व्यवसाय इतना जटिल हो गया है कि उसका चलाना सबका काम नही है। रुपयेके सिवाय पूँजीपति देख-रेख और प्रबन्ध-क्षमताके रूपमे योगदान करता है और राज उन परिस्थितियोको सम्भव बनाता है जिनमे मजदूर श्रम कर सकता है। इन सब चीजोका भी अतिरिक्त अर्घमे भाग है। आजकल राज आयकरके रूपमे रुपयेमे चौदह-पन्द्रह आने ले लेता है। लाभकी वह मात्रा नही है जो मार्क्सके समयमे थी, न लाभका वह रूप यथार्थ है जिसे मार्क्सने माना था।

हम द्वितीय खडमे दिखला आये है कि मार्क्सके अनुसार द्वन्द्वमूलक विकास-क्रममे प्रत्येक अवस्थाका विपरिणाम और फिर कालान्तरमे विपरिणामका विपरिणाम होता है। यह विकासधारा नित्य और अकाट्य है। अब इसके निष्कर्षको सोचिए। आज जो दुरवस्था है, उसका विपरिणाम कम्युनिस्ट व्यवस्था होगी, जिसमे न वर्ग होगे, न शोषण होगा। परन्तु प्राकृतिक नियम तो चलता ही रहेगा। तो कम्युनिस्ट व्यवस्थाका विपरिणाम क्या होगा ? क्या फिरसे वर्गोका, वर्ग-सघर्षका, शोषणका, उदय होगा ?

वर्ग संघर्षकी बात लीजिए। कम्युनिज्मके अनुसार यह एक आर्थिक घटना है, कृत्रिम परिस्थितियोसे उत्पन्न हुई है। दूसरे लोगोका कहना है कि इसके कारण प्राकृतिक है। पशु-पक्षी ही नही ओषधियो और वनस्पतियो तकमे जीवन संघर्ष, खाद्य-वस्तुओके लिए संघर्ष जारी है। भोग्य वस्तुओकी अपेक्षा भोक्ताओकी संख्या बडी तेजीसे बढती है। पेड-पौधे बिना जाने संघर्ष करते है, पशु-पक्षी बुद्धि-पूर्वक वही काम करते है। शास्त्रीय अर्थमे वर्ग शब्दका उपयोग इस क्षेत्रमे नही हो सकता परन्तु समुदाय संघर्ष तो देख पडता ही है। सिह समुदाय दूसरे पशुओसे सघर्ष करता है। कुछ चीटियाँ एक प्रकारके कीडेको पालती है। उसको चराती है और उसके शरीरसे नि सृत रसको चाटती है। जीव शास्त्रके ग्रंथ

कहते है कि यह एक प्रकारका गोपालन हुआ। इसे तो शुद्ध शोषण कह सकते है। मनुष्यमे आकर यह संघर्ष बहुत तीव्र हो जाता है क्योकि मनुष्य दूर तक सोच सकता है। समानधर्म्मा लोग स्वभावतः एक दूसरेका साथ देते है। इस प्रकार वर्गसंघर्षका जन्म होता है। कोई व्यवस्था की जाय, कैसे भी नियम बनाये जायँ, पर संघर्ष तब तक रहेगा जब तक उसका कारण नष्ट न होगा। यदि ऐसा प्रवंध हो सके कि सबके अर्थ कामकी तुष्टिके लिए यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत रहे तो किसीको किसीसे पृथक् या दूसरोसे मिलकर, संघर्ष करनेकी प्रवृति ही न हो। न कोई सग्रह करना चाहेगा, न कोई किसीसे छीनना चाहेगा। वर्ग सघर्षका आप ही शमन हो जायगा। उम दिन सचमुच ऐसा होगा कि सब लोग अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार समाजको देंगे, अपनी-अपनी आवश्यकताके अनुसार समाजसे लेगे।

समाजवाद और पूँजीपतिका नाम एक साथ लेना वाचोव्याघात-सा प्रतीत होता है। हमको अवतक समाजवादका जो रूप समझाया गया है, उसका जो रूप हमने कम्युनिस्ट आचार्य्यो और उनके टीकाकारोसे सीखा है, उसमे पूँजीपतिके लिए स्थान नही हो सकता। पूँजीपतियोको मिटाकर ही समाजवादी व्यवस्था टिक सकती है।

अब इस बातका समय आया है कि हम इस बातपर शान्तिपूर्वक पुनः विचार करे। भारतीय समाजवादका निरूपण करते हुए हमने देखा है कि व्यक्तियों द्वारा उद्योग-संचालनसे शोषण निकाला जा सकता है। जो बहुत बडे उद्योग है, जैसे खनिजोकी खुदाई, शस्त्र निर्माण, यातायातके देशव्यापी उपकरण, उनपर तो समाज—(राष्ट्र या स्वायत्त शासन संस्थाओ)—का स्वाम्य होना ही चाहिए। शेषपर भी राज्यका नियन्त्रण होना चाहिए ताकि शोषण न हो सके और समाजके हितमे संचालन हो। परन्तु ऐसे बहुत-से उद्योग हैं जो व्यक्तियो और कम्पनियोके लिए छोडे जा सकते है। इनकी कोई तालिका नही बन सकती। प्रत्येक देशको अलग निर्णय करना होगा।

भारतमे कपडे और शक्करके व्यवसाय इस कोटिमे आते है। इस प्रकार व्यक्तियोकी प्रतिभाका यथोचित उपयोग हो सकता है और राष्ट्रको उत्पादन बढानेके नये-नये प्रयोगोसे लाभ उठानेका अवसर मिलता है। कृषिके क्षेत्रमे यह बात लागू नही हो सकती। कृषिमे उत्पादनका मुख्य साधन भूमि है और वह प्रकृतिकी देन है। उसका उपयोग भी एक ही प्रकार हो सकता है और उसका परिणाम भी सीमित है। परन्तु व्यवसायमे ऐसा नही है। कच्चा माल अन्ततोगत्वा भूमिसे किसी-न-किसी रूपमे निकलता है परन्तु मनुष्यकी बुद्धि उसको अनेक रूपोमे परिणत करती है, प्राकृतिक शक्तियोकी सहायतासे उसका अनेक प्रकारसे उपयोग करती है। बुद्धि ऐसी वस्तुओका आविष्कार कर सकती है जो भूमिकी अपेक्षाको भी कम कर सकती है। आज रासायनिक क्रियाओसे ऐसे खाद्य-पदार्थ बन सकते है जिनके होते हुए अन्नसे पेट भरनेकी आवश्यकता स्यात् कम हो जाय। सम्भवत मनुष्य आकाश-यात्रामे ऐसे खाद्योसे काम लेगा। जो लोग उद्योग को नयी दिशाओमे ले जा सकते है वह समाजके सच्चे सेवक हो सकते है। उनको काम करनेका अवसर देना चाहिए। यह अवसर स्वतन्त्र रूपसे व्यवसाय चलाकर ही मिल सकता है। हमको यह न भूलना चाहिए कि काम करनेकी स्वतन्त्रताका मनोवैज्ञानिक मूल्य बहुत बडा है।

एक और महत्त्वपूर्ण बात है। उद्योग और व्यवसायसे लोगोको काम मिलता है, जीविका चलती है। सभी उद्योगोको राष्ट्रीय सरकार और उसके अधीन काम करनेवाली सस्थाओके हाथोमे दे देनेका अर्थ यह होगा कि काम मिलनेके सारे द्वारोकी कुञ्जियाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे सरकारके हाथोमे दे दी जायंगी। इसका परिणाम भयावह होगा। हम आज उसे उन देशोमे देख रहे है जहाँ अधिनायकशाही है। सरकार उन लोगो को कुचल सकती है जो उसकी नीतियो और कामोके विरुद्ध मुँह खोलनेका साहस करे। एक ओर हाँ-मे-हाँ मिलानेवालोके घरोमे सोना बरसाया जा सकता है, दूसरी ओर स्वतन्त्रचेता भूखा मारा जा सकता है। कोई-कोई

मनस्वी अपने परिवारका भूखसे तडप-तडपकर मरना और समाजमे पदे-पदे अपमानित किया जाना सहकर भी अपने सिरको कुछ दिनो तक ऊँचा रख सकता है परन्तु यह सबका काम नही है : झुकना ही होगा, अपनेको बेचना ही होगा, शरीरसे श्रम करनेवालेके सामने ऐसा धर्म्मसकट प्राय: नही आता परन्तु बुद्धिजीवी इससे बच नही सकता। भीतरसे विरोध ऊपरसे डरके मारे सरकार सम्मत व्यवस्थाका समर्थन—इस भूमिमे सच्चे काव्य, सच्चे सङ्गीतका सर्जन नही हो सकता। ऐसी अवस्था जिसमे कलमका धनी इच्छाभिघातसे कराह रहा हो न व्यक्तिके लिए अच्छी है, न समाजके।

इसका उपाय यही है कि विचारोके अभिव्यञ्जनके लिए पूरा अवसर हो और यह तभी सम्भव है जब जीविका उपार्जित करनेके सारे साधन राजके हाथमे न हो। एक और बात है, आज राज केवल जीविकाका ही दान नही करता; पण्योके वितरणके क्षेत्रमे भी उसका पदार्पण हुआ है। अन्न, वस्त्र और दूसरी जीवनोपयोगी वस्तुओंको बिक्री भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे उसीके हाथमे है। जब जिसको जो वस्तु चाहे दे, चाहे न दे। राजका यह बढता अधिकार श्रेयस्कर नही है। भले ही हम राज या सरकारकी जगह समाज शब्दका व्यवहार करें, राष्ट्रीयकरणको समाजीकरण कहे, परन्तु वास्तविकता यह है कि समाज या राष्ट्रके नामपर सारा काम सरकार करेगी, सारा अधिकार उसके हाथोमे होगा। जीवनके हर क्षेत्रपर उसका प्रभाव होगा। इस प्रकार उसकी शक्ति बढती जायगी और अनियन्त्रित होती जायगी। इसप्रकार व्यक्ति अपने पुरुषार्थ, जीवनके लक्ष्यसे बहुत दूर चला जायगा और जिस आशासे समाजवादकी स्थापना की गयी थी वह मिट्टीमे मिल जायगी।

प्रत्येक विचारकको जो अपने देश और मानव जगत्का हितचिन्तन करता हो इस समस्या पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार व्यक्तिके परमार्थकी उपलब्धिके अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न की जाय, सच्चे अर्थोमे समाजवादी व्यवस्था कायम की जाय और इसके साथ ही नामान्तरसे ऐसी

अधिनायकशाही न स्थापित हो जाय जो सारे परिश्रम, सारी तपस्या, समस्त आशाओपर पानी फेर दे। मुझको यह आशा है कि यदि भारतीय समाजवादके मौलिक सिद्धान्त स्वीकार किये गये तो मानवका कल्याण होगा। पुराकालसे आजतक त्यागी, तपस्वी, लोकसंग्रहकारी मनुष्य होते आये हैं परन्तु सारे मनुष्य समुदायको सच्चे अर्थोमे समाज बनानेका, सबको पुरुषार्थ सिद्धिके उपयुक्त अवसर देनेका, यह पहिला ही संकल्प-पूर्वक प्रयास है। जो पराशक्ति इस विश्वका सञ्चालन कर रही है वह इसे सफल बनाये।

सहायक पुस्तकोंकी सूची

मार्क्स	कृत	कैपिटल
मार्क्स	,,	क्रिटीक आव दि गोथा प्रोग्राम
मार्क्स और एंगेलस	,,	दि कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो
एंगेलस	,,	ऐण्टि ड्युरिग
	,,	ओरिजिन आव दि फैमिलो, प्राइवेट प्रापर्टी ऐण्ड दि स्टेट
लेनिन	,,	दि स्टेट ऐण्ड रेवोल्यूशन
	,,	इम्पीरियलिज्म
	,,	सेलेक्टेड वर्क्स
ट्राट्ज्को	,,	हिस्टरी आव दि रशन रेवोल्यूशन
स्टालिन	,,	प्राब्लेम्स आव लेनिनिज्म
बोजाङ्क्वेट	,,	दि फिलोसोफिकल थियरी आव दि स्टेट
हॉबहाउस	,,	दि मेटाफिजिकल थियरी आव दि स्टेट
हॉब्स	,,	लेविएथन
लास्की	,,	दि ग्रामर आव पालिटिक्स
क्रोपॉट्किन	,,	दि मीमॉएर्स आव ए रेवोल्यूशनरी
फ्रीमैन और निर्यारग	,,	डालर डिप्लोमैसी
वेलस	,,	दि शेप आव थिग्ज टु कम
बुखारिन आदि	,,	मार्क्सिज्म ऐण्ड माडर्न थॉट
लेवी ,,	,,	ऐस्पेक्ट्स आव डायलेक्टिक मेटीयरिलिज्म
लेडलर	,,	हिस्टरी आव सोशलिस्ट थॉट
बरनर और लण्ट	,,	दि सोशल लाइफ आव ए मॉडर्न कम्युनिटी

कारफिस्की	कृत	दि सोशल ऐण्ड स्टेट स्ट्रक्चर आव दि यू. एस. एस आर.
जैक्स मौरेटेन	,,	मैन ऐण्ड दि स्टेट
अशोक मेहता	,,	डेमोक्रेटिक सोशलिज्म
मसानी	,,	सोशलिज्म रीकंसिडर्ड
सम्पूर्णानन्द	,,	दि इण्डिविजुअल ऐण्ड दि स्टेट
,,	,,	चिद्विलास
दादा धर्म्माधिकारी	,,	सर्वोदय दर्शन
ब्रजनारायण	,,	मार्क्सिज्म इज डेड
भगवानदास	,,	एंशेण्ट वर्सस मॉडर्न सायण्टिफिक सोशलिज्म
जयप्रकाशनारायण	,,	एप्ली फॉर रीकंस्ट्रक्शन आव इण्डियनपोलिटी (अप्रकाशित)

पर्य्याय-सूची

हिन्दीसे अँग्रेज़ी

अध्यात्मवाद	आइडियलिज़्म	(Idealism)
अर्घ	वैल्यू	(Value)
अतिरिक्तार्घ	सर्प्लस वैल्यू	(Surplus Value)
भोग्यार्घ	यूटीलिटी वैल्यू	(Utility Value)
विनिमयार्घ	एक्सचेन्ज वैल्यू	(Exchange Value)
अराजकतावाद	अनार्किज्म	(Anarchism)
दृश्यगत	ऑब्जेक्टिव	(Objective)
द्रष्टृगत	सब्जेक्टिव	(Subjective)
द्वन्द्व न्याय	डायलेक्टिक्स	(Dialectics)
द्वन्द्वात्मक अनात्मवाद	डायलेक्टिकल मेटीरियलिज्म	(Dialectical Materialism)
पण्य	कमोडिटी	(Commodity)
प्रजनक धन	फंक्शनल वेल्थ	(Functional Wealth)
प्रतिवाद	ऐंटीथीसिस	(Anti-thesis)
परिसीमन	रैशनिंग	(Rationing)
पूग	गिल्ड	(Guild)
पूँजी	कैंपिटल	(Capital)
पूँजीवाद	कैपिटलिज्म	(Capitalism)
पूँजीशाही	कैपिटलिज़्म	(Capitalism)
फ़ेबियनवाद	फ़ेबिअनिज़्म	(Fabianism)

मजदूरी	वेजेज	(Wages)
मध्यमवर्ग	बूर्ज्वाजी	(Bourgeoisie)
मात्राभेदसे गुणभेद	चेंजिग आफ क्वाण्टिटी इण्टु क्वालिटी	(Changing of quantity into quality)
मूल्य	प्राइस	(Price)
युक्तवाद	सिन्थेसिस	(Synthesis)
राज, राज्य	दि स्टेट	(The State)
राजायत्त समाजवाद	स्टेट सोशलिज्म	(State socialism)
राष्ट्रवाद	नेशनलिज्म	(Nationalism)
वर्ग	क्लास	(Class)
वर्ग-चेतना	क्लास-काशसनेस	(Class-consciousness)
वर्गसघर्ष	क्लास वार	(Class War)
वस्तुवाद	रियलिज्म	(Realism)
वाद	थीसिस	(Thesis)
विपरिणाम	नेगेशन	(Negation)
विपरिणामका विपरिणाम	नेगेशन ऑफ दी नेगेशन	(Negation of the negation)
विपरीत समवाय	इण्टरपेनिट्रेशन ऑफ कण्ट्राडिक्टरीज़	(Interpenetration of contradictories)
व्यष्टिवाद	इंडिविजुअलिज्म	(Individualism)
शोषण	एक्सप्लॉइटेशन	(Exploitation)
श्रमकाल	लेबर-टाइम	(Labour-time)
श्रमशक्ति	लेबर-पावर	(Labour-Power)
समष्टिवाद	कम्यूनिज्म	(Communism)
समाज	सोसायटी	(Society)
समाजवाद	सोशलिज्म	(Socialism)

उत्तरकौरवसमाजवाद	यूटोपियन सोशलिज़्म	(Utopian Socialism)
समुदाय	कम्युनिटी	(Community)
सर्वहारा	प्रालेटेरियन	(Proletarian)
संकट	क्राइसिस	(Crisis)
सम्प्रदाय	रेलिजन	(Religion)
संयमन	रैशनलाइजेशन	(Rationalization)
सामन्तशाही	फ्यूडलिज्म	(Feudalism)
साम्राज्यवाद	इम्पीरियलिज्म	(Imperialism)
साम्राज्यशाही	इम्पीरियलिज्म	(Imperialism)
स्वगत उच्छेदक	इनरकण्ट्राडिक्शन	(Inner Contradiction)
स्वच्छन्दता-नीति	लेसे फेयर	(Laissez faire)